श्वेताश्वतरोपनिषदि
विशिष्टाद्वैतपरकम्
श्रीराघवकृपाभाष्यम्
(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)
भाष्यकाराः – जगद्गुरुरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यमहाराजाः चित्रकूटीयाः

हिमालय
ओङ्कार
जप
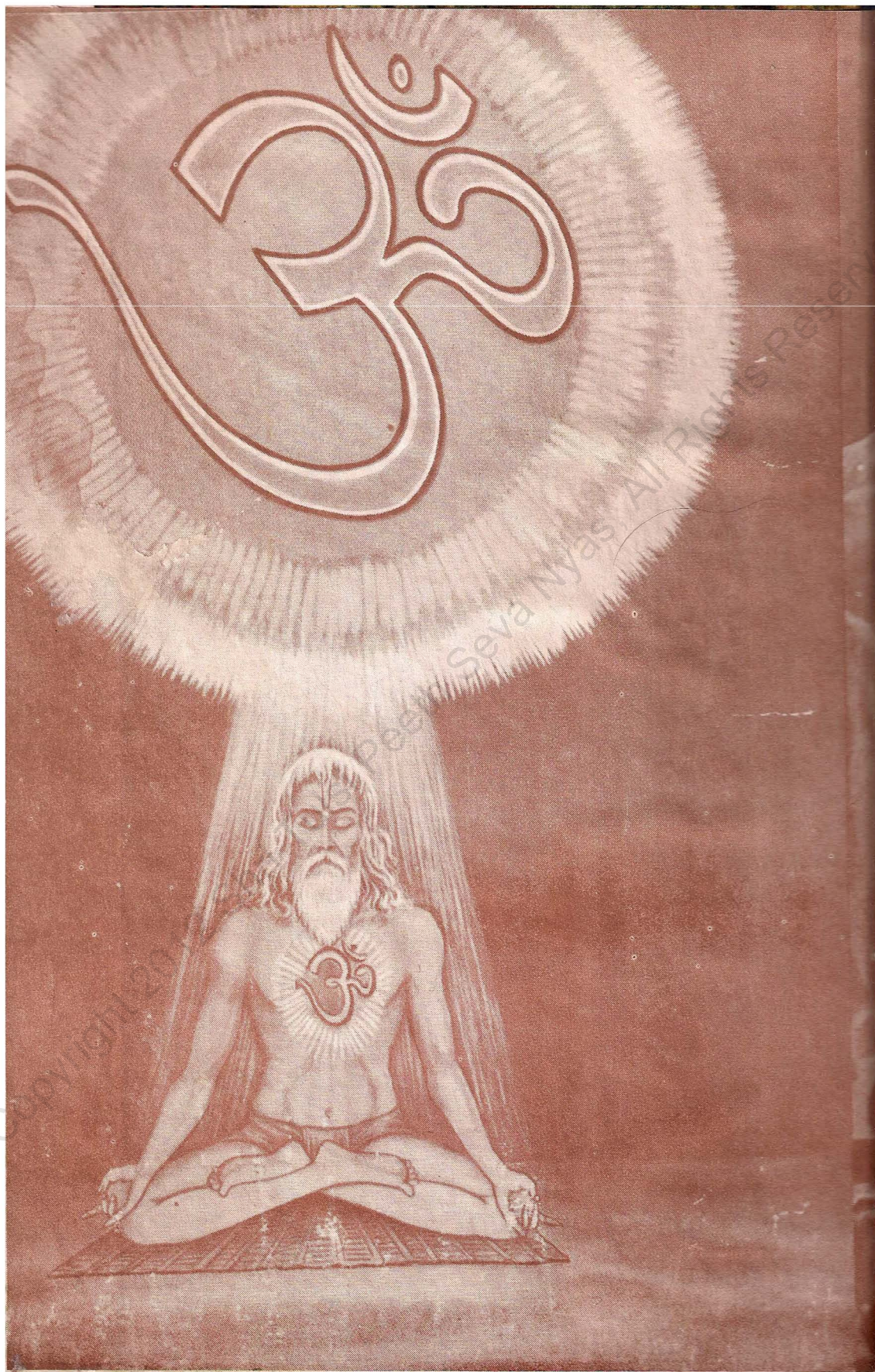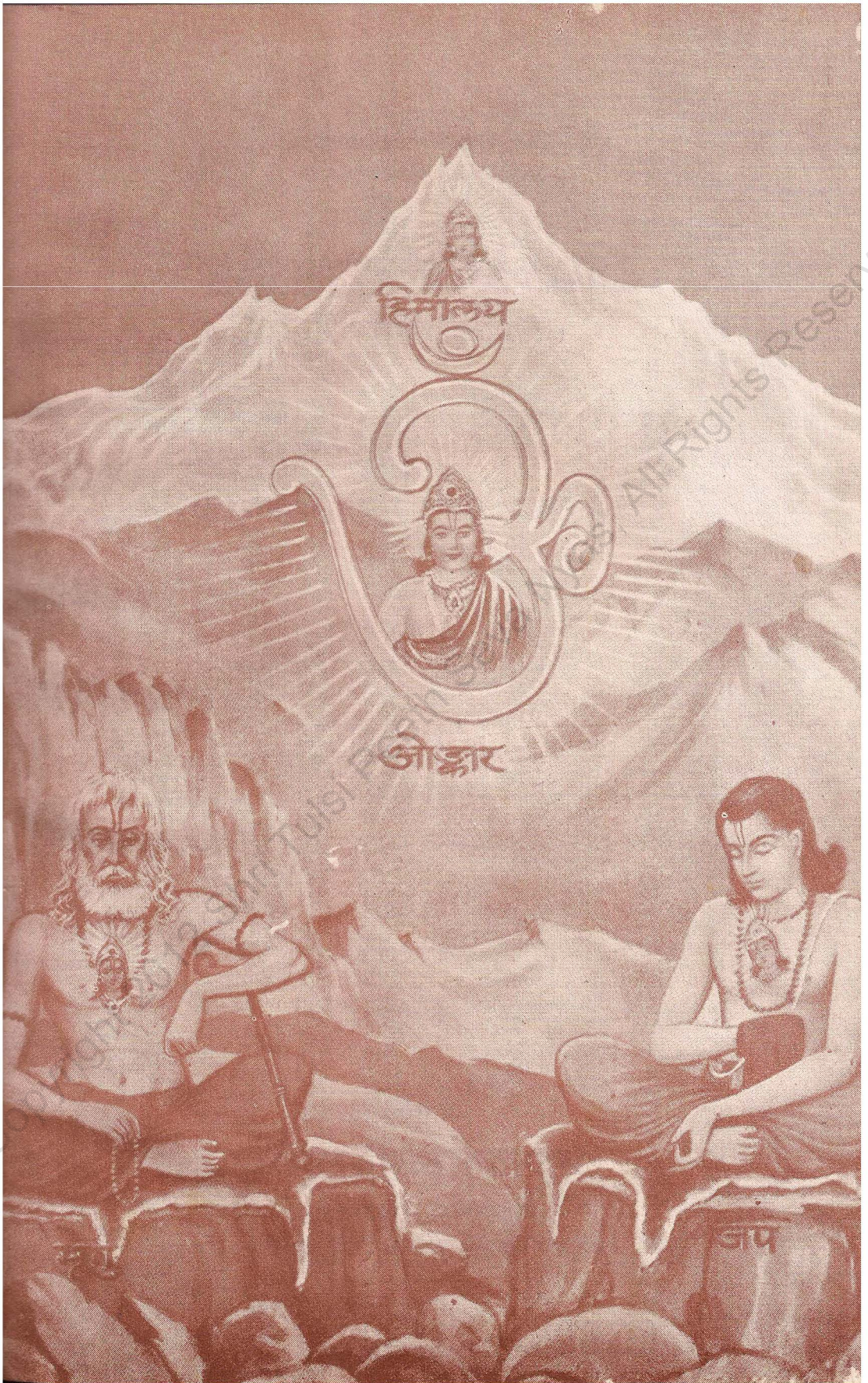
।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषदि

(विशिष्टाद्वैतपरकम्)

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)

भाष्यकाराः-

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याः

स्वामिरामभद्राचार्यजीमहाराजाः

चित्रकूटीयाः

प्रकाशक :

श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः

तुलसीपीठः, आमोदवनम्

श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं-सतना (म० प्र०)

प्रकाशक :

श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः

तुलसीपीठः, आमोदवनम्,

श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं–सतना (म० प्र०)

दूरभाष : ०७६७०–६५४७८

✪

प्रथमसंस्करणम् : ११०० प्रतयः

✪

✪

मूल्यम् : २००.०० रुपया

✪

प्राप्तिस्थानम् :

तुलसीपीठः, आमोदवनम्, चित्रकूटं जनपदं–सतना (म० प्र०)

वसिष्ठायनम्, (रानीगली) जगद्गुरु रामानन्दाचार्य मार्ग; भोपतवाला, हरिद्वार (उ० प्र०)

श्रीगीताज्ञानमन्दिर, भक्तिनगर सर्कल, राजकोट (गुजरात) पिन– ३६०००२

✪

मुद्रक :

राघव ऑफसेट

बैजनत्था, वाराणसी– १०

फोन : ३२००३९

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

प्रकाशकीयम्

नीलनीरदसंकाशकान्तये श्रितशान्तये ।
रामाय पूर्णकामाय जानकीजानये नमः ।।

साम्प्रतिकबुद्धिजीविवर्गे पण्डितसमाजे च श्रीवैष्णवसत्समाजे को नाम नाभिनन्दति ? पदवाक्यप्रमाणपारावारीणकवितार्किकचूडामणिसारस्वत-सार्वभौमपण्डितप्रकाण्डपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीवैष्णवकुलतिलकत्रिदण्डीश्वर-श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यवाचस्पतिमहामहनीयस्वामिरामभद्राचार्य-महाराजराजिष्णुप्रतिभाधनम् । आचार्यचरणैः श्रीसम्प्रदायश्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवानुमोदितविशिष्टाद्वैतवादाम्नायमनुसृत्य ईशावास्यादि बृहदारण्यकान्तानामेका-दशोपनिषदां श्रीराघवकृपाभाष्यं प्रणीय भारतीयसंस्कृतवाङ्मयसनातनधर्मावलम्बिनां कियान् महान् उपकारो व्यधायीति तु निर्णेष्यतीतिहासः सोल्लासः । अस्य ग्रन्थरत्नस्य प्रकाशनदायित्वं श्रीतुलसीपीठसेवान्यासाय प्रदाय ऋणिनः कृता वयं श्रीमज्जगद्गुरुभिः वयं तेषां सततमाधमर्ण्यभाजः । अहं धन्यवादं दित्सामि साधुवादं च, वाराणसीस्थाय राघव ऑफसेट मुद्रणालयाध्यक्षाय चन्दनेशाय श्रीविपिनशंकरपाण्ड्यामहाभागाय, येन महता परिश्रमेण निष्ठया च गुरुगौरवेण जनताजनार्दनकरकमलं समुपस्थापितं ग्रन्थरत्नमेतत् । अहमाभारं बिभर्मि सकल-शास्त्रनिष्णातानां पण्डितप्रवराणां मुद्रणदोषनिराकरणचञ्चुनां जगद्गुरुवात्सल्यभाजनानां परमकुशलकर्मणां पं० प्रवर श्रीशिवरामशर्मणाम् पं० कृपासिन्धुशर्मणाम् च ।

अन्ततः साग्रहं निवेदयामि सर्वान् विद्वत्प्रवरान्, यत्—

ग्रन्थरत्नमिदं मत्वा सीताभर्तुरनुग्रहम् ।
निराग्रहाः समर्चन्तु रामभद्रार्यभारतीम् ।।

इति निवेदयते
राघवीया
कु० गीता देवी
प्रबन्धन्यासी, श्रीतुलसीपीठसेवान्यासस्य

श्रीराघवाष्टकम्

निशल्या कौसल्या सुखसुरलतातान्तिहृतये।
यशोवारां राशेरुदयमभिकाङ्क्षन्निव शशी।
समञ्चन् भूभागं प्रथयितुमरागं पदरतिम्।
तमालश्यामो मे मनसि शिशुरामो विजयते ॥१॥

क्वचित् क्रीडन् व्रीडाविनतविहगैर्वृन्दविरुदो।
विराजन् राजीवैरिव परिवृतस्तिग्मकिरणः।
रजोवृन्दं वृन्दाविमलदलमालामलमलम्।
स्वलङ्कुर्वन् बालः स इह रघुचन्द्रो विजयते ॥२॥

क्वचिन् माद्यन् माद्यन् मधुनवमिलिन्दार्यचरणा-।
म्बुजद्वन्द्वो द्वन्द्वापनयविधिवैदग्ध्यविदितः।
समाकुञ्चत् केशैरिव शिशुघनैः संवृतमिव।
विधुं वक्त्रं बिभ्रन् नरपतितनूजो विजयते ॥३॥

क्वचित् खेलन् खेलन् मृदुमरुदमन्दाञ्चलचल-।
च्छिरः पुष्पैः पुञ्जैर्विबुधललनानामभिचितः।
चिदान्दो नन्दन् नवनलिननेत्रो मृदुहसन्।
लसन् धूलीपुञ्जैर्जगति शिशुरेको विजयते ॥४॥

क्वचिन् मातुः क्रोडे चिकुरनिकरैरंजितमुखः।
सुखासीनो मीनोपमदृशिलसत्कज्जलकलः।
कलातीतो मन्दस्मितविजितराकापतिरुचिः।
पिबन् स्तन्यं रामो जगति शिशुहंसो विजयते ॥५॥

क्वचिद् बालो लालालसितललिताम्भोजवदनो।
वहन् वासः पीतं विशदनवनीतौदनकणान्।

विलुण्ठन् भूभागे रजसि विरजा सम्भृत इव ।
तृषा ताम्यत्कामो भवभयविरामो विजयते ।।६।।

क्वचिद् राज्ञो हर्षं प्रगुणयितुकामः कलगिरा ।
निसिञ्चन् पीयूषं श्रवणपुटके सम्मतसताम् ।
विरिंगन् पणिभ्यां वनरुहपदाभ्यां कलदृशा ।
निरत्यन् नैराश्यं नवशशिकरास्यो विजयते ।।७।।

क्वचिन् नृत्यन् छायाछुपितभवभीतिर्भवभवो ।
दधानोऽलंकारं विगलितविकारं शिशुवरः ।
पुरारातेः पूज्यः पुरुषतिलकः कन्दकमनः ।
अयोध्यासौभाग्यं गुणितमिहरामो विजयते ।।८।।

जयत्यसौ नीलघनावदातो ।
विभा विभातो जनपारिजातः ।
शोभा समुद्रो नरलोकचन्द्रः ।
श्रीरामचन्द्रो रघुचारुचन्द्रः ।।९।।

ईशावास्यसमारब्धाः बृहदारण्यकान्तिमाः ।
ऐकादशोपनिषदो विशदाः श्रुतिसम्मताः ।।१०।।

श्रीराघवकृपाभाष्यनाम्ना भक्तिसुगन्धिना ।
पुण्यपुष्पोत्करेणेड्याः मया भक्त्या प्रपूजिताः ।।११।।

क्वचित्क्वचित् पदच्छेदः क्वचिदन्वययोजना ।
क्वचिच्छास्त्रार्थपद्धत्या पदार्थाः विशदीकृताः ।।१२।।

खण्डनं परपक्षाणां विशिष्टाद्वैतमण्डनम् ।
चन्दनं वैष्णवसतां श्रीरामानन्दनन्दनम् ।।१३।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं भूषितं सुरभाषया ।
भाषितं भव्यया भक्त्या वेदतात्पर्यभूषया ।।१४।।

प्रमाणानि पुराणानां स्मृतीनामागमस्य च।
तथा श्रीमानसस्यापि दर्शितानि स्वपुष्टये।।१५।।

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दञ्चेति यथास्थलम्।
प्रमाणत्रितायं ह्यत्र तत्वत्रयविनिर्णयम्।।१६।।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तदर्पणं श्रुतितर्पणम्।
अर्पणं रामभद्रस्य रामभद्रसमर्पणम्।।१७।।

यदि स्युः त्रुटयः काश्चित्ताः ममैवाल्पमेधसः।
यदत्र किञ्चिद्वैशिष्ट्यं तच्छ्रीरामकृपाफलम्।।१८।।

रुद्रसंख्योपनिषदां मया भक्त्या प्रभाषितम्।
श्रीराघवकृपाभाष्यं शीलयन्तु विमत्सराः।।१९।।

इति मंगलमाशास्ते
श्रीवैष्णवविद्वत्प्रीतिवशंवदो राघवीयो जगद्गुरु रामानन्दाचार्यो स्वमिरामभद्राचार्यः
अधिचित्रकूटम्।

●

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

उपोद्घात

स्तुवे नीलतमालाभं लाभं चानिमिशदृशाम्।
कोटि मन्मथलावण्यम्, रामं सीतापतिं प्रभुम्।।

छः अध्यायों में वर्णित श्वेताश्वतरोपनिषद् समस्त श्रीवैष्णव के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस उपनिषद् में परमात्मा के सगुण साकार स्वरूप का जिस कौशल-उत्कंठा-निष्ठा तथा प्रतिष्ठा के साथ वर्णन प्रस्तुत किया गया है वह अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। इसमें परमेश्वर को भगवान्, ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा परमदैवत आदि ऐश्वर्य बोधक नामों से सम्बोधित किया गया है। श्रौत वाङ्मय में भजन रसिकों के लिए इससे अधिक उपयोगी कोई अन्य उपनिषद् नहीं है। समस्त वेदों के सारभूत, परमात्म शरणागति का इसी उपनिषद् में बहुत मनोरम व्याख्यान है। इस उपनिषद् में जीव, जगत् तथा जगदीश की बड़ी अनूठी झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं और इस उपनिषद् में भगवान् की भक्ति का भी अद्भुत स्रोत उपलब्ध है। संयोग से श्वेताश्वतरोपनिषद् पर आद्य शंकराचार्य से लेकर, बल्लभाचार्य पर्यन्त किसी भी पूर्वाचार्य ने कोई भी प्रौढ़ टीका या भाष्य नहीं लिखा। भगवान् श्रीसीताराम की कृपा एवं श्रीवैष्णव महानुभावों के आशीर्वाद से मैंने श्वेताश्वतरोपनिषद् पर संस्कृत एवं हिन्दी में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार श्रीराघवकृपाभाष्य का प्रणयन किया है। साथ ही साथ प्रत्येक श्रुति का भावानुवाद भी किया है। श्रीराम की कृपा से श्रीतुलसीपीठ सेवान्यास आमोदवन चित्रकूट मेरे दोनों भाष्यों के सहित श्वेताश्वतरोपनिषद् को चन्दनेश श्रीविपिन शंकर पाण्ड्या द्वारा संचालित, श्रीराघव ऑफसेट प्रेस, बैजनत्था, वाराणसी में मुद्रण कर सनातन धर्मावलम्बी जनता के आध्यात्मिक सेवार्थ प्रकाशित कर रहा है। पं० कृपासिन्धु शर्मा ने संशोधन का महनीय कार्य किया है। अस्तु वे आभार के पात्र हैं। मेरा आप सब श्रीवैष्णव, संत, महान्त, अलङ्गी अभ्यागत, स्थानधारी, मठाधिपति, पीठाधीश्वर, महामण्डलेश्वर, सम्प्रदायाचार्य, धर्माचार्य, षड्दर्शनी, साधु-समाज, नाके-घाटे, अखाड़े, अनीयो तथा सभी सद्गृहस्थ माताओं, बहनों, भ्राताओं बालकों से साग्रह अनुरोध है कि अपने व्यस्त समय से कुछ समय निकाल कर श्वेताश्वतरोपनिषद्, श्रीराघवकृपाभाष्य का अवश्य अध्ययन करें। इससे आपका निश्चित श्रेय लाभ होगा।

।। इति मंगलमाशास्ते जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य चित्रकूट ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●
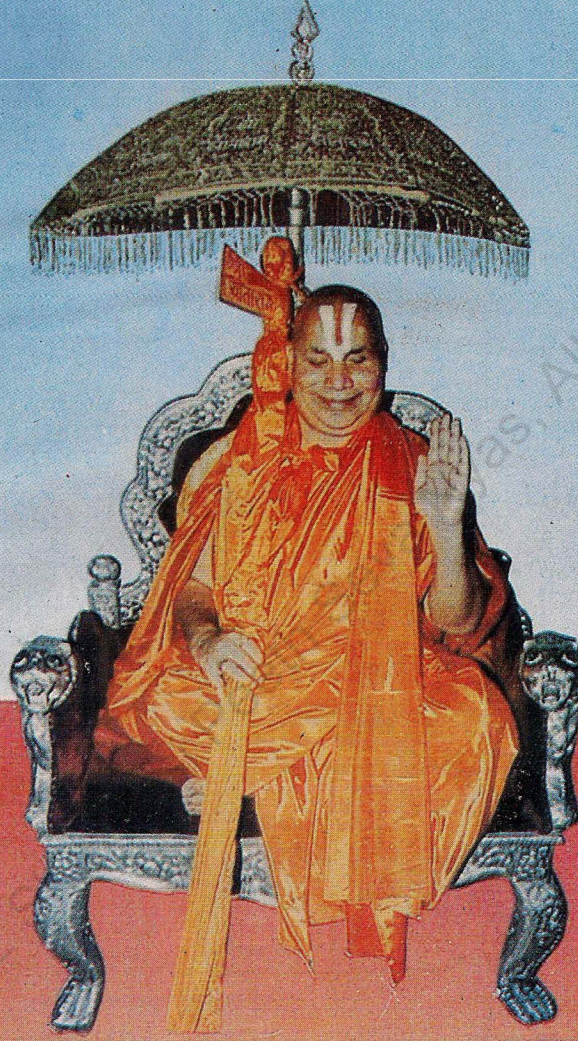
वाचस्पति, श्री तुलसी पीठाधीश्वर
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज
तुलसीपीठ, आमोदवन, चित्रकूट, जि. सतना (म.प्र.)

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण, विद्यावारिधि, वाचस्पति परमहंस परिव्राजिकाचार्य, आशुकवि यतिवर्य प्रसथानत्रयी भाष्यकार धर्मचक्रवर्ती अनन्तश्री समलंकृत

श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

पूज्यपाद
श्री श्री स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज
का
संक्षिप्त जीवन वृत्त

आविर्भाव

आपका अविर्भाव १४ जनवरी १९५० तदनुसार मकर संक्राति की परम पावन सान्ध्य बेला में वसिष्ठ गोत्रीय उच्च धार्मिक सरयूपारीण ब्राह्मण मिश्र वंश में उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जनपद के पवित्र ग्राम शाडीखुर्द की पावन धरती पर हुआ। सर्वत्र आत्मदर्शन करने वाले हरिभक्त, या मानवता की सेवा करने वाले दानवीर, या अपनी मातृभूमि की रक्षा में प्राण बलिदान करने वाले शूर-वीर योद्धा, देशभक्त, को जन्म का सौभाग्य तो प्रभुकृपा से किसी भी माँ को मिल जाता है। परन्तु भक्त, दाता और निर्भीक तीनों गुणों की संपदा से युक्त बालक को जन्म देने का परम श्रेय अति विशिष्ठ भगवत् कृपा से किसी विरली माँ को ही प्राप्त होता है। अति सुन्दर एवं दिव्य बालस्वरूप आचार्य-चरण को जन्म देने का परम सौभाग्य धर्मशीला माता श्रीमती शची देवी और पिताश्री का गौरव पं० श्रीराजदेव मिश्रजी को प्राप्त हुआ।

आपने शैशव अवस्था में ही अपने रूप, लावण्य एवं मार्धुय से सभी परिवार एवं परिजनों को मोहित कर दिया। आप की बाल क्रीड़ाएँ अद्भुत थी। आपके श्वेतकमल समान सुन्दर मुख मण्डल पर बिखरी मधुर मुस्कान, हर देखने वाले को सौम्यता का प्रसाद बाँटती थी। आपका विस्तृत एवं तेजस्वी ललाट, आपके अपार शस्त्रीय ज्ञानी तथा त्रिकालदर्शी होने का पूर्व संकेत देता था। आपका प्रथम दर्शन मन को शीतलता प्रदान करता था। आपके कमल समान नयन उन्मुक्त हास्यपूर्ण मधुर चितवन चंचल बाल क्रीड़ाओं की चर्चा शीघ्र ही किसी महापुरुष के प्राकट्य की शुभ सूचना की भान्ति दूर-दूर तक फैल गई, और यह धारणा बन गई कि

यह बालक असाधारण है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की कहावत को आपने चरितार्थ किया।

भगवत् इच्छा

अपने प्रिय भक्त को सांसारिक प्रपञ्चों से दूर रखने के लिए विधाता ने आचार्य वर के लिए कोई और ही रचना कर रखी थी। जन्म के दो महीने बाद ही नवजात शिशु की कोमल आँखों को रोहुआ रोग रूपी राहू ने तिरोहित कर दिया। आचार्य प्रवर के चर्मनेत्र बन्द हो गए। यह हृदय विदारक दुर्घटना प्रियजनों को अभिशाप लगी, परन्तु नवजात बालक के लिए यह वरदान सिद्ध हुई। अब तो इस नन्हे शिशु के मन-दर्पण पर परमात्मा के अतिरिक्त जगत् के किसी भी अन्य प्रपञ्च के प्रतिबिम्बित होने का कोई अवसर ही नहीं था। आपको दिव्य प्रज्ञा-चक्षु प्राप्त हो गए। आचार्य प्रवर ने भगवत् प्रदत्त अपनी इस अन्तर्मुखता का भरपूर उचित उपयोग किया। अब तो दिन-रात परमात्मा ही आपके चिन्तन, मनन और ध्यान का विषय बन गए।

आरम्भिक शिक्षा

अन्तर्मुखता के परिणामस्वरूप आपमें दिव्य मेधाशक्ति और अद्भुत स्मृति का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कठिन से कठिन श्लोक, कवित्त, छन्द, सवैया आदि आपको एक बार सुनकर सहज कण्ठस्थ हो जाते थे। मात्र पांच वर्ष की आयु में आचार्यश्री ने सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता तथा मात्र आठ वर्ष की शैशव अवस्था में पूज्य पितामह श्रीयुत् सूर्यबली मिश्र जी के प्रयासों से गोस्वामी तुलसीदास जी रचित सम्पूर्ण रामचरितमानस क्रमबद्ध पंक्ति, संख्या सहित कण्ठस्थ कर ली थी। आपके पूज्य पितामह आपको खेत की मेड़ पर बिठाकर आपको एक-एक बार में श्रीमानस के पचास पचास दोहों की आवृत्ति करा देते थे। हे महामनीषी, आप उन सम्पूर्ण पचास दोहों को उसी प्रकार पंक्ति क्रम संख्या सहित कण्ठस्थ कर लेते थे। अब आप अधिकृत रूप से श्रीरामचरितमानससरोवर के राजहंस बन कर श्रीसीता-राम के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और ध्यान में तन्मय हो गए।

उपनयन एवं दीक्षा

आपका पूर्वाश्रम का नाम 'गिरिधर-मिश्र' था। इसलिए गिरिधर जैसा साहस, भावुकता, क्रान्तिकारी स्वभाव, रसिकता एवं भविष्य निश्चय की

दृढ़ता तथा निःसर्ग सिद्ध काव्य प्रतिभा इनके स्वभाविक गुण बन गये। बचपन में ही बालक गिरिधर लाल ने छोटी-छोटी कविताएँ करनी प्रारम्भ कर दी थीं। २४ जून १९६१ को निर्जला एकादशी के दिन 'अष्टवर्ष ब्राह्माणमुपनयीत' इस श्रुति-वचन के अनुसार आचार्यश्री का वैदिक परम्परापूर्वक उपनयन संस्कार सम्पन्न किया गया तथा उसी दिन गायत्री दीक्षा के साथ ही तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् सकलशास्त्र-मर्मज्ञ पं० श्रीईश्वरदास जी महाराज जो अवध-जानकीघाट के प्रवर्तक श्री श्री १०८ श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज के परम कृपापात्र थे, इन्हें राम मन्त्र की दीक्षा भी दे दी।

उच्च अध्ययन

आपमें श्रीरामचरितमानस एवं गीताजी के कण्ठस्थीकरण के पश्चात् संस्कृत में उच्च अध्ययन की तीव्र लालसा जागृत हुई और स्थानीय आदर्श श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय में पाँच वर्ष पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण की शिक्षा सम्पन्न करके आप विशेष अध्ययन हेतु वाराणसी आ गये। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की १९७३ शास्त्री परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर एक स्वर्ण पदक प्राप्त किया एवं १९७६ की आचार्य की परीक्षा में समस्त विश्वविद्यालय में छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर पाँच स्वर्ण पदक तथा एक रजत पदक प्राप्त किया। वाक्पटुता एवं शास्त्रीय प्रतिभा के धनी होने के कारण आचार्यश्री ने अखिल भारतीय संस्कृत अधिवेशन में सांख्य, न्याय, व्याकरण, श्लोकान्त्याक्षरी तथा समस्यापूर्ति में पाँच पुरस्कार प्राप्त किये, एवं उत्तर प्रदेश को १९७४ की 'चलवैजयन्ती' प्रथम पुरस्कार दिलवाया। १९७५ में अखिल भारतीय संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर तत्कालीन राज्यपाल डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी से कुलाधिपति 'स्वर्ण पदक' प्राप्त किया। **इसी प्रकार आचार्यचरणों ने शास्त्रार्थों एवं भिन्न-भिन्न शैक्षणिक प्रतियोगिताओं में अनेक शील्ड, कप एवं महत्वपूर्ण शैक्षणिक पुरस्कार प्राप्त किये।** १९७६ वाराणसी साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय में समायोजित शास्त्रार्थ आचार्यचरण प्रतिभा का एक रोमांचक परीक्षण सिद्ध हुआ। इसमें आचार्य अन्तिम वर्ष के छात्र, प्रत्युत्पन्न मूर्ति, शास्त्रार्थ-कुशल, श्री गिरिधर मिश्र ने 'अधातु परिष्कार' पर पचास विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं शास्त्रीय युक्तियों से अभिभूत करके निरुत्तर करते हुए सिंहगर्जनपूर्वक तत्कालीन विद्वान् मूर्धन्यों को परास्त किया था। पूज्य आचार्यश्री ने सं०वि०वि० के व्याकरण विभागाध्यक्ष

पं० श्री रामप्रसाद त्रिपाठी जी से भाष्यान्त व्याकरण की गहनतम शिक्षा प्राप्त की एवं उन्हीं की सन्निद्धि में बैठकर न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्रों में भी प्रतिभा ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं 'अध्यात्मरामायणे अपणिनीयप्रयोगाणां विमर्श:' विषय पर अनुसन्धान करके १९८१ में विद्यावारीधि (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। **अनन्तर ''अष्टाध्याय्या: प्रतिसूत्रं शाब्दबोध समीक्षा'' इस विषय पर दो हजार पृष्ठों का दिव्य शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करके आचार्य चरणों ने शैक्षणिक जगत् की सर्वोत्कृष्ट अलंकरण उपाधि वाचस्पति'' (Dlit) प्राप्त की।**

विरक्त दीक्षा

मानस की माधुरी एवं भागवतादि सद्ग्रन्थों के अनुशीलन ने आचार्य-चरण को पूर्व से ही श्री सीतारामचरणानुरागी बना ही दिया था। अब १९ नवम्बर १९८३ की कार्तिक पूर्णिमा के परम-पावन दिवस को श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में विरक्त दीक्षा लेकर आचार्यश्री ने एक और स्वर्ण सौरभ-योग उपस्थित कर दिया। पूर्वाश्रम के डॉ० गिरिधर मिश्र अब श्रीरामभद्रदास नाम से समलंकृत हो गये।

जगद्गुरु उपाधि

आपने १९८७ में श्रीचित्रकूट धाम में श्रीतुलसीपीठ की स्थापना की। उसी समय वहाँ के सभी सन्त-महान्तों के द्वारा आपको श्रीतुलसीपीठाधीश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया और ज्येष्ठ शुक्ल गंगा दशहरा के परम-पावन दिन वि० सम्वत् २०४५ तद्नुसार २४ जून १९८८ को वाराणसी में आचार्यश्री का काशी विद्वत् परिषद् एवं अन्य सन्तमहान्त विद्वानों द्वारा चित्रकूट श्रीतुलसीपीठ के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पर पर विधिवत अभिषेक किया गया एवं ३ फरवरी १९८९ को प्रयाग महाकुम्भ पर्व पर समागत सभी श्री रामानन्द सम्प्रदाय के तीनों अखाड़ों के श्रीमहन्तों चतु:सम्प्रदाय एवं सभी खालसों तथा सन्तों द्वारा चित्रकूट सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज को सर्वसम्मति से समर्थनपूर्वक अभिनन्दित किया।

विलक्षणता

आपके व्यक्तित्व में अद्भुत विलक्षणता है। जिनमें कुछ उल्लेखनीय हैं कोई भी विषय आपको एक ही बार सुनकर कण्ठस्थ हो जाता है और वह कभी विस्मृत नहीं होता। इसी विशेषता के परिणामस्वरूप जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य

जी ने समस्त तुलसी साहित्य अर्थात् तुलसीदास जी के बारहों ग्रन्थ, सम्पूर्ण रामचरितमानस, द्वादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, भागवद्गीता, शाण्डिल्य सूत्र, बाल्मीकीयरामायण व समस्त आर्य ग्रन्थों के सभी उपयोगी प्रमुख अंश हस्तामलकवत् कण्ठस्थ कर लिये। आचार्यश्री हिन्दी एवं संस्कृत के आशुकवि होने के कारण समर्थ रचनाएँ भी करते हैं। वसिष्ठ गोत्र में जन्म लेने के कारण आचार्यवर्य श्रीराघवेन्द्र की वात्सल्य भाव से उपासना करते हैं। आज भी उनकी सेवा में शिशु रूप में श्री राघव अपने समस्त परिकर खिलौने के साथ विराजमान रहते हैं। आचार्यवर्य की मौलिक विशेषता यह है कि इतने बड़े पद को अलंकृत करते हुए भी आपका स्वभाव निरन्तर निरहंकार, सरल तथा मधुर है। विनय, करुणा, श्रीराम-प्रेम, सच्चरित्रता आदि अलौकिक गुण उनके सन्तत्त्व को ख्यापित करते हैं। कोई भी व्यक्ति एकबार ही उनके पास आकर उनका अपना बन जाता है। हे भारतीय संस्कृति के रक्षक! **आप अपनी विलक्षणकथा शैली से श्रोताओं को विभोर कर देते हैं।** माँ सरस्वती की आप पर असीम कृपा है। आप वेद-वेदान्त, उपनिषद्, दर्शन, काव्यशास्त्र व अन्य सभी धार्मिक ग्रन्थों पर जितना अधिकारपूर्ण प्रवचन करते हैं उतना ही दिव्य प्रवचन भगवान् श्रीकृष्ण की वाङ्मय मूर्ति महापुराण **श्रीमद्भागवत पर भी करते हैं।** आप सरलता एवं त्याग की दिव्य मूर्ति हैं। राष्ट्र के प्रति आपकी सत्यनिष्ठ स्पष्टवादिता एवं विचारों में निर्भीकता जन-जन के लिए प्रेरणादायक है। आपके दिव्य प्रवचनों में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की त्रिवेणी तो प्रवाहित होती है, साथ ही राष्ट्र का सागर भी उमड़ता है। जिसे आप अपनी सहज परन्तु सशक्त अभिव्यक्ति की गागर में भर कर अपने श्रद्धालु श्रोताओं को अवगाहन कराते रहते हैं।

आपका सामीप्य प्राप्त हो जाने के बाद जीव कृत्य-कृत्य हो जाता है। धन्य हैं वे माता-पिता जिन्होंने ऐसे 'पुत्ररत्न' को जन्म दिया। धन्य हैं वे सद्गुरु जिन्होंने ऐसा भागवत् रत्नाकर समाज को दिया। हे श्रेष्ठ सन्त शिरोमणि! हम सब भक्तगण आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गौरवान्वित हैं।

साहित्य सृजन

आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी एवं संस्कृत के अनेक आयामों को महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपादान भेंट किये। काव्य, लेख, निबन्ध, प्रवचन संग्रह एवं दर्शन क्षेत्रों में आचार्यश्री की मौलिक रचनाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री अपने व्यक्तित्व, कृतित्व से श्रीराम-प्रेम एवं सनातन धर्म के चतुर्दिक प्रचार व प्रसार के द्वारा सहस्राधिक दिग्भ्रान्त नर-नारियों को सनातन धर्मपीयूष से जीवनदान करते हुए अपनी यश:सुरभि से भारतीय इतिहास वाटिका को सौरभान्वित कर रहे हैं। तब कहना पड़ता है कि—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने।।

❁ ❁ ❁

संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु।।

धर्माचार्य परम्परा :–

भाष्यकार !

प्राचीन काल में धर्माचार्यों की यह परम्परा रही है कि वही व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था, जो उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार वैदुष्यपूर्ण वैदिक भाष्य प्रस्तुत करता था। जिसे हम 'प्रस्थानत्रयी' भाष्य कहते हैं, जैसे शंकराचार्य आदि। आचार्यप्रवर ने इसी परम्परा का पालन करते हुए सर्वप्रथम नारदभक्तिसूत्र पर "श्रीराघवकृपाभाष्यम्" नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की। उसका लोकार्पण १७ मार्च १९९२ को तत्कालीन उप राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ।

पूज्य आचार्यचरण के द्वारा रचित 'अरुन्धती महाकाव्य' का समर्पण समारोह दिनांक ७ जुलाई ९४ को भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ० शंकरदयाल शर्मा जी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार आचार्यचरणों ने एकादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर रामानन्दीय श्रीवैष्णव सिद्धान्तानुसार भाष्य लेखन सम्पन्न करके विशिष्टाद्वैत अपनी श्रुतिसम्मत जगद्गुरुत्व को प्रमाणित करके इस शताब्दी का कीर्तिमान स्थापित किया है।

आप विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का विश्वविश्रुत ध्वज फहराते हुए सजगता एवं जागरूकता से भारतीयधर्माचार्यों का कुशल प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचार्यश्री के प्रकाशित ग्रन्थ

१. मुकुन्दस्मरणम् (संस्कृत स्तोत्र काव्य) भाग–१–२
२. भरत महिमा
३. मानस में तापस प्रसंग
४. परम बड़भागी जटायु
५. काका बिदुर (हिन्दी खण्ड काव्य)
६. माँ शबरी (हिन्दी खण्ड काव्य)
७. जानकी-कृपा कटाक्ष (संस्कृत स्तोत्र काव्य)
८. सुग्रीव की कुचाल और विभीषण की करतूत
९. अरुन्धती (हिन्दी महाकाव्य)
१०. राघव गीत-गुञ्जन (गीत काव्य)
११. भक्ति-गीता सुधा (गीत काव्य)
१२. श्री गीता तात्पर्य (दर्शन ग्रन्थ)
१३. तुलसी साहित्य में कृष्ण-कथा (समीक्षात्मक ग्रन्थ)
१४. सनातन धर्म विग्रह-स्वरूपा गौ माता
१५. मानस में सुमित्रा
१६. भक्ति गीत सुधा (गीत काव्य)
१७. श्रीनारदभक्तिसूत्रेषु राघवकृपाभाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित)
१८. श्री हनुमान चालीसा (महावीरी व्याख्या)
१९. गंगामहिम्नस्तोत्रम् (संस्कृत)
२०. आजादचन्द्रशेखरचरितम् (खण्डकाव्य) संस्कृत
२१. प्रभु करि कृपा पाँवरि दीन्ही
२२. राघवाभ्युदयम् (संस्कृत नाटक)

आचार्यश्री के शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

१. हनुमत्कौतुक (हिन्दी खण्ड काव्य)
२. संस्कृत शतकावली (क) आर्याशतकम् (ख) सीताशतकम्
(ग) राघवेन्द्रशतकम् (घ) मन्मथारिशतकम् (ङ) चण्डिशतकम्
(च) गणपतिशतकम् (छ) चित्रकूटशतकम् (ज) राघवचरणचिह्नशतकम्
३. गंगामहिम्नस्तोत्रम् (संस्कृत)
४. संस्कृत गीत कुसुमाञ्जलि
५. संस्कृत प्रार्थनाञ्जलि
६. कवित्त भाण्डागारम् (हिन्दी)

●

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

आचार्यचरणानां बिरुदावली

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ।।
रामानन्दाचार्यं मन्दाकिनीविमलसलिलासिक्तम् ।
तुलसीपीठाधीश्वरदेवं जगद्गुरुं वन्दे ।।

श्रीमद् सीतारामपादपद्मपरागमकरन्दमधुव्रतश्रीसम्प्रदायप्रवर्तकसकलशास्त्रार्थ-महार्णवमन्दरमतिश्रीमदाद्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यचरणारविन्दचञ्चरीकः समस्त-वैष्णवालंकारभूताः आर्षवाङ्मयनिगमागमपुराणेतिहाससन्निहितगम्भीरतत्वान्वेषण-तत्पराः पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणाः सांख्ययोगन्यायवैशेषिकपूर्वमीमांसावेदान्तनारद-शाण्डिल्यभक्तिसूत्रगीतावाल्मीकीयरामायणः भागवतादिसिद्धान्तबोधपुरःसरसमधि-कृताशेषतुलसीदाससाहित्य-सौहित्यस्वाध्यायप्रवचनव्याख्यानपरमप्रवीणाः सनातनधर्म-संरक्षणधुरीणाः चतुराश्रमचातुर्वर्ण्यमर्यादासंरक्षणविचक्षणाः अनाद्यविच्छिन्नसद्गुरु-परम्पराप्राप्तश्रीमद्सीतारामभक्तिभागीरथीविगाहनविमलीकृतमानसाः श्रीमद्रामचरित-मानसराजमरालाः सततं शिशुरूपराघवलालनतत्पराः समस्तप्राच्यप्रतीच्यविद्या-विनोदितविपश्चितः राष्ट्रभाषागीर्वाणगिरामहाकवयः विद्वन्मूर्धन्याः श्रीमद्रामप्रेम-साधनधनधन्याः शास्त्रार्थरसिकशिरोमणयः विशिष्टाद्वैतवादानुवर्तिनः परमहंस-परिव्राजकाचार्यत्रिदण्डी वर्याः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठाः प्रस्थानत्रयीभाष्यकाराः श्रीचित्रकूटस्थ-मन्दाकिनीविमलपुलिननिवासिनः श्रीतुलसीपीठाधीश्वराः श्रीमद्जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्याः अनन्तश्रीसमलंकृतश्रीश्रीरामभद्राचार्यमहाराजाः विजयतेतराम् ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-कवितार्किकचूडामणि-वाचस्पति-जगद्गुरुरामानन्दाचार्य-स्वामि-रामभद्राचार्य-प्रणीतं, श्रीमज्जगद्गुरु-रामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि-विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकश्रीराघवकृपाभाष्यम् ।।

।। श्री राघवोविजयते तराम् ।।

।। श्री रामानन्दाचार्याय नमः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!!

अथ श्रीचित्रकूटनिवासिना जगद्गुरुरामानन्दाचार्यास्वमिरामभद्राचार्येण श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रीराघवकृपाभाष्यं प्रारभ्यते।

मङ्गलाचरणम्

नवघनसुभगो गिरीशपूज्यो जनकसुतानयनाब्जरश्मिमाली ।
नरपतिमणिराश्रिताधिवासो विजयत ईड्यचरित्रराघवो मे ।।१।।

जय जनकसुता नवेन्दुलेखामधुरमयूखचकोरकोशलेन्द्र ।
जनजलरुहचित्रभानुरूप, रघुवरबर्हकिरीटरामभद्र ।।२।।

जयति जनमनोभिलाषिपूर्तिसुरतरुचारुलता गुणैर्विनीता ।
रघुपतिपदपद्मचञ्चरीका जनकसुता गुरुदैवतञ्च सीता ।।३।।

सौशीलेयपदाम्भोजं शीलये शीलवृद्धये ,
ध्यायामि च पुनर्नैजं गुरुं हुलसीनन्द।।४।।।

राघवरामकृपालो प्रणतदयालो गुणैकवारीश ।
श्वेताश्वतरोपनिषद् व्याचिख्यासौ प्रसीद त्वम् ।।५।।

अथ श्रीमद्जगद्गुरुश्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यचरणकुशेशयसंलब्धसंभग्नसमस्तशास्त्रीय-संशयप्रतिपिपादयिषितविपुलविशदविषयेण सप्रणतपारिजातप्रणयेन निर्भयेण मया

श्वेताश्वतरोपनिषदेषा श्रीराघवकृपाभाष्यभूषणेन संकलितश्रुतिभूषापि परमभक्त्या भूष्यते। श्वेताश्वतरोनामकश्चन तप:प्रभावलब्ध ब्रह्मबोधसम्पतिर्धृतभगवत्प्रपत्तिर्महर्षिविशेष: तथा हि नामापि तदीयं समन्वर्थचरितं श्वेता: भगवद्भजनवारिधवला अश्वतरा: अतिशयेन अश्वा: इन्द्रियविशेषा: यस्य स श्वेताश्वतर: इन्द्रियाणिहयानाहु: इति कठोक्ते: तस्येन्द्रियाणि हि सदश्वा इव न परमार्थपथं पदमपि व्यतिक्राम्यन्ति। यद्वा अतिशयेन श्वान: श्वतरा: विषयलोलुपा: श्वतरभिन्ना: अश्वतरा: परमविरक्ता: इति भाव:, तादृश: श्वेता: भगवद्भजनशुभ्रा: अश्वतरा: कुक्कुरस्वभावभिन्ना: मनोवृत्तय: यस्य स श्वेताश्वतर: तेन प्रोक्तोपनिषदिति श्वेताश्वतरोपनिषत् कथ्यते। तद्यथा—

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ।।

सेयं षडध्यायसंपन्नागतिविसरणावसादनार्थकषद्लृधातो रूपनिपूर्वकान्निष्पन्ना निजानुशीलकानां हृदयेषु ब्रह्मतत्वगमयितृत्वचिदचिदग्रन्थिविशरणगर्भवासदुष्प्रभाव-सादनरूपव्युत्पत्तिरूपधर्मत्रयोपपन्ना श्रीरामपादपद्मप्रपत्तिरूपपीयूषवर्षिणी प्रहर्षिणी च वैष्णवमन:कैरवाणां शरदिन्दुकौमुदीवेति कृत्वा मयापि निजव्याचिकीर्षा विषयीक्रियते । तामिमामहं श्रीसीतारामकृपाप्राप्तविवेकविलोचनो युक्तियुक्तं यथाशास्त्रं व्याकरिष्यामि । वेदान्तवेद्यं विशिष्टद्वैतवादसिद्धान्तप्रतिपादनमेवात्र विषय:, तज्जिज्ञासु: श्रीसीतारामोपासक एवात्राधिकारी, ब्रह्मविद्याद्वारेण सेवकसेव्यभावसम्बन्धज्ञानपूर्वकश्रीसीतारामचरणारविन्द-निर्भरभक्तिरेव प्रयोजनम्, बोध्यबोधकभाव एव संबन्ध: इत्यनुबन्धचतुष्टयम्। ननु भगवद्भक्तिरेव प्रयोजनत्वेनोक्ता किंमानमत्र यस्य देवे पराभक्ति: इति चरममन्त्र एव मानत्वेन गृह्यताम् । अत्रोपनिषदि असकृद्भगवानिति शब्दित: परमात्मा, भगवतश्च भक्त्यधीनत्वमनेकत्र चर्चितं तस्मादेषोपनिषद्भगवत: सगुणरूपप्रतिपादन एव पर्यवसीयत इति तत्र तत्र स्फुटीभविष्यति मामकीनविवृतौ ।

इत्यनेन ब्रह्मज्ञानादृते जीवकल्याणमसम्भवमिति ससमारोहं प्रपञ्चयन्तो वञ्चयन्त: परास्ता:, भक्त्यैव सगलपुरुषार्थजननीभूतया साधकानां नि:श्रेयसं विधीयते भक्तिरेवैनं गमयति । तत्र श्रुति:—

मां च यो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
सगुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

इति भक्तियोगकरणकभगवत्सेवा नौकयैव त्रिगुणातीतत्वप्रतिपादकस्मृतेश्च **भक्त्या विमुच्येन्नरः** इति भागवतवचनाच्च । ननु तर्हि **ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः** इति श्रुते कथं

सङ्गतिः ? ज्ञानस्यार्थवादपरकतया तस्याः संयोजनात्, यद्वा ज्ञानशब्दोऽत्र सेवकसेव्यभाव-सम्बन्धबोधरूपः, तस्माद्भक्तभगवन्मध्यवर्तिसेवकसेव्यभावसम्बन्धबोधरूपात् ज्ञानात् ऋते मुक्तिः अन्यथा रूपपरिहारपूर्वकस्वरूपेण व्यवस्थतिः न सम्भवा इति श्रुत्यर्थः । आशयोऽयमस्याः— श्रुतेः यत् जीवस्य स्वरूपं नाम भगवद्भजनम्, तदेव विस्मृत्यायं विसृज्य रामभजनम् कामं भजत इत्येव बन्धनमेतदीयम्, अतः सद्गुरुचरणकमलसेवया निरस्तसकलभगवद्भजनप्रतिबन्धकप्रत्यवायनिकायः स्वाचार्योपदिष्टश्रुतिकृपासमुन्मीलित-विवेकविलोचनो भवभयमोचनं राजीवलोचनं सेव्यतया समध्यवस्यन्, अहं सेवको भगवान् सेव्य इति विशुद्धसम्बन्धबोधेन पुनः प्रत्यागतस्वरूपज्ञानः संसारबन्धनात् विमुच्यते । यथोक्तं भागवते **मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः** (भगवत ३-१) अथवा **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** इत्यस्य क्रमिकमुक्तौ ज्ञानहेतुत्वप्रतिपादनम् सद्यो मुक्तौ तु भक्तिरेव हेतुः, ज्ञानविक्लवचेतसां गजेन्द्राणां तथैव दृष्टत्वात् । अथवा **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** मन्त्रसकलेनानेन मुक्तेर्ज्ञानायत्तत्वम्, **भक्त्या विमुच्येन्नरः** इति स्मार्तवचनखण्डेन विमुक्तेर्भक्त्यधीनत्वं प्रतिपाद्यते। इति विरोधपरिहारः भक्त्या तस्मात् ज्ञानेन मुक्तिः परन्तु विमुक्तिरिति विशेषोऽनयोः प्रतिपादितः ? अथ किमन्तरं खलु मुक्तिविमुक्त्योः ? भूयान् किल, विशेषः ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः इति श्रुत्या विधीयमाना मुक्तिः नैवस्थायिनी मायया समपह्रियमाणे ज्ञाने अज्ञानकलुषचेतनस्य पतनं सम्भवम् । तथोक्तं मार्कण्डेये—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।।

(दुर्गासप्त॰ १.५५)

तथैवाभ्यस्तम् अभिनववाल्मीकिना अस्मदाचार्यचरणेन श्रीगोस्वामितुलसीदासेन श्रीमानसे **जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई, बरिआई विमोहमनकरई** (मानस ५९/६) श्रीगीतायामपि भगंवान् प्राह—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः । (गीता ५/१५)

परन्तु भक्तिर्नैव मायया मुह्यति, भक्तिमाययोरुभयोरपि नारीवर्गतया समान-शीलत्वात् । तथोक्तं मानसे—

मोह न नारि नारि के रूपा, पन्नगारि यह रीति अनूपा ।।
माया भगति सुनहु तुम दोऊ, नारिबर्ग जानइ सबकोऊ ।।

(मानस ७.११६/२.३)

न नारी नारीरूपे मुह्यति समलिङ्गत्वात्। **नमे भक्तः प्रणष्यति** (गीता ९.३१) इति

स्मृतत्वाच्च। ततोऽविरलया भक्त्या प्रदीयमाना विमुक्तिः, सा च विशिष्टा मुक्तिः वैशिष्ट्यञ्च सार्वकालिकतया भगवतकैंकर्यतो भ्रंशसत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः, अर्थात् भगवद्भक्तिमहिम्ना जीवः कदापि निजस्वरूपात् भ्रष्टो न भवति। यथोक्तं श्रीभागवते कपिलेनापि **अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिर्द्धेगरीयसी जरयत्याशु वै कोशान् निगीर्णमनलो यथा।** भागवतज्ञानमिव भक्तिरपि कोशान् जरयति, किन्तु इयं शीघ्रमेव ज्ञानम्विलम्बतः। आशु जरयतीति कथयित्वा ज्ञानतो वैशिष्ट्यमस्याः प्रादर्शि। भागवतमाहात्म्ये तु सुस्पष्टं ज्ञानवैराग्यनामानौ भक्तिसुताविति प्रत्यपादिषाताम्—

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ।।

(भागवत. मा.)

इत्थं ज्ञानान् मुक्तिः भक्तेश्च विमुक्तिरिति कलितम्। सेयं भक्तिः सगुणमेव भगवन्तं विषयीकरोति न तु निर्गुणं, गुणवन्तं हि कान्तं भार्या भजते न तु गुणविहीनमिति लौकिकी रीतिरपि। निर्गुणस्य ब्रह्मणो हि क्लीबस्येव भक्तदुरितविनाशनाक्षमत्वात्। यथोक्तम् मानसे—

व्यापक ब्रह्म एक अबिनासी। सत चेतन घनआनंदरासी।।
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।

(मानस १.२३/६/७)

सर्वत्र हृत्सु निवसदपि कूटस्थं ब्रह्म त्रिकूटस्थेभ्यः षड्विकारेभ्यस्त्रातुमक्षमं चित्रकूटस्थमन्तरेण सगुण ब्रह्मा तस्याप्रतिद्वन्द्वपौरुषत्वात्। तथोक्तं बालिवधप्रसंगे मानसे—

सुनि सेवक दुःख दीनदयाला। फरकि उठी दोऊ भुजा बिसाला।

(मानस. ४.६.१४)

सगुणब्रह्मणो हि गुणा आत्मारामानपि पूर्णकामान् महात्मनो नातिदीर्घेण प्रयत्नेन समाकर्षन्ति भगवतो वात्सल्यादिगुणैरेव समाकृष्टचेतसस्ते हेतुमन्तरेणापि कञ्चिदकिञ्चनां भक्तिं कुर्वन्ति भगवति। यथोक्तं भागवते—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्ति हैतुकीभक्ति मित्थंभूतगुणो हरिः।।

(भागवत)

अस्यामनपायिन्यां भगवद् भक्तावागतायां वर्षर्ताविव साधकमनोभूमौ प्ररोहायन्ते सकलसद्गुणाः । अमुष्याः भक्तेः परमलक्ष्यतया प्रेष्ठस्य भगवतः सगुणब्रह्मणो लीलागृहीतदेहस्य श्रीमन्मैथिलीपतेः श्रीरामस्य षडैश्वर्यसम्पन्नस्य षड्भिरध्यायैः समासतः गुणान् संकीर्तयितुं प्रवर्तते चैषा श्वेताश्वतरोपनिषत् । तत्र प्रथमं सेव्यतया निश्चितस्य ब्रह्मणः कारणत्वगीप्सावसंवदाः परमर्षयः श्वेताश्वतरमेव पञ्चभिः प्रश्नैरुपतिष्ठन्ते। **सह नाववतु** इति शान्तिपाठस्तु व्याख्यातचरः कठोपनिषदि।

साम्प्रतं हरिरित्यादि प्रतीकेन श्वेताश्वतरोपनिषदेव व्याख्यायते। तत्र प्रथमाध्याये प्रथममन्त्रः—

।। ब्रह्मवादिनां प्रश्नसंग्रहरूपः ।।

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।
किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।१।।

उपनिषदियं सर्वापि पद्यात्मिका। तस्मादन्वयपूर्वकमेव व्याख्यानमस्याः प्रस्तूयते—

अन्वयः– हरिः ॐ, ब्रह्मवादिनः वदन्ति, हे ब्रह्मविदः, ब्रह्म किं कारणम्, कुतः जाताः स्म, केन जीवाम च (वयं) क्व सम्प्रतिष्ठाः, केन अधिष्ठिताः सुखेतरेषु व्यवस्थां (अनु) वर्तामहे। इत्यन्वयप्रकारः।

हरिः ॐ इत्येतद् द्वयं परब्रह्मणः सगुणत्वनिर्गुणत्वसूचकभगवत्स्मरणरूपं परममंगलमयं नामरत्नयुग्मम्। तत्र निर्गुणब्रह्मापेक्षया सगुणब्रह्मणो गरीयस्त्वं सूचयितुं तद्बोधकं हरिरित्यभिधानं प्राथम्येन श्रावयति श्रुतिः। संहितायामपि — **जो जान् विन्द्रते हरि, हरिरेति कनिक्रधत** इति बहुशः मांगलिकं हरिरिति नाम सादरं पठितम्। वैदिका अपि-प्रत्येक मन्त्र उच्चारणप्रारम्भे **'हरिः ॐ'** इत्येव व्याहरन्ति।

यद्यपि कोषेषु विविधार्थकमेतद्दृश्यते तथाप्यत्र श्रीरामाभिधानमहाविष्णुपरकतयैव व्याख्यायते अत्यत्रप्रकरणानुरोधात्। **रामाभिधानो हरिरित्युवाच** इति (रघुवंशमहाकाव्ये १३/१) कालिदासः। **रामाख्यमीशं हरिम्** इति प्रणिजगाद हुलसी हृदयहर्षणश्रीतुलसीदासो मानसे।

हरिर्हि जीवानां पापानि कथंचिदपि स्मृतः सन् हरति यथा स्मर्यते च—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ।।

हरति पापान् यः स हरिः इति हरिः व्युत्पाद्यते— अत्र हृधातोः कर्त्रर्थे इच् प्रत्ययः। यद्वा **'हरति जीव यातनाम् यः स हरिः'** तथा चाहुर्विष्णुदूता यमदूतान् प्रति श्रीभागवते—

पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान् नार्हति यातनाम्।।

(भागवत ६/२/१५)

यद्वा हरति चोरयति आत्मारामाणां निर्ग्रन्थानां मुनीनाम् अपि चेतांसि यः स हरिः। यद्वा हरति आत्मारामपरमहंस परिव्राजकानामपि हृदयेषु नीरसेषु सत्स्वपि भक्तिं प्रापयति यः स हरिः। तथा च स्मृतं भागवते—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।।

(भागवत १/७/१०)

इह श्रीसूतः **'इत्थंभूतगुणो हरि'** पदद्वयमिदं सामानाधिकरण्येन निर्दिशन् हरिमुद्दिश्य तत्र विधेयत्वेन इत्थंभूतगुणवत्तां व्यवस्थापयन् हरिशब्दस्यैव प्रामुख्येन भगवत् सगुणसाकारस्वरूपवाचकतां निर्विवादं व्याजहार।

हरिरेवेत्थंभूतगुणो यस्मिन् आत्मारामाः, (आत्मैव आरामः उद्यानं येषां ते) ये खलु जगतः पराङ्मुखदृष्टयः स्वानुभवानन्दैकसृष्टयः आत्मन्नेवारमन्ति । ये खलु मुनयः मननशीलाः, निगूढानामपि श्रुतस्मृतिपुराणेतिहासप्रभृत्यार्षवाङ्मय-वर्णितवैष्णवार्थानाम्, एवमेव ये खलु निर्ग्रन्थाः निरस्तजड्चेतनग्रन्थयः, निर्भिन्नाविद्याग्रन्थयो, निर्गतपरमार्थेतरप्रतिपादकग्रन्थाभ्यासाः वा, तेऽपि **उरुक्रमे–** उरुधा अनेकधा क्रमः, चरणकमलविक्षेपः कोशलमिथिलालंकासु सिद्धाश्रमदण्डकारण्यकिष्किन्धासु वा, यस्य तथाभूते लोकाभिरामे श्रीरामे, **उरुक्रमे–** विपुलविक्रमे। यद्वा— रुधाक्रमः- महारासलीलायां श्रीगोपीमण्डलमण्डिते मण्डपे यस्य तस्मिन्, त्रिविक्रमे, भग्नपुरन्दरादिविक्रमे उरुक्रमे श्यामामनोरमे श्रीकृष्णे। अहैतुकीं— विज्ञानेन लब्ध-याथात्मतया मोक्षमपि विगणयन्तः समस्तस्वार्थरहितां भक्तिं कुर्वन्ति। कथं कुर्वन्ति जिज्ञासामेतां समादधानः प्राह— यतो हि स हरिः। अनिच्छतामपि वीतरागाणां मुनीनां मनसां हरणशीलः। न खलु चोरश्चोरयन् वस्तूनि न्यायान्यायौ समीक्षते। कथमिमे तस्य वशगाः भवन्ति ? इत्यत आह **इत्थं भूतगुण**— इत्थंभूताः भग्नबन्धनानां परमहंसानामपि बन्धनशीलाः गुणाः रज्जुसमानधर्मको गुणाः यस्य तथाहूतः। एवं **हरिरिति**— भगवद्भक्त्युपबृंहणं भगवदीयं मांगलिकं नाम प्रथमं पठन्ती श्रुतिः व्याचिकीर्षिताया अमुष्या उपनिषदो भगवत् भक्तिमयत्वं प्रतिशृणोति।

ननु भोः ! भक्तिर्नाम पौराणिकी परिकल्पना। उपनिषदः खलु ब्रह्ममीमांसाप्रायाः तर्हि कथमत्र श्रुत्यक्षराणि विरुध्य प्रौढ़िवादेन भक्तिराकृष्यते? नैवेत्थम्, असमीक्षित-श्रुतिसिद्धान्तैर्युस्माभिरित्थं प्रलप्यते । भक्तिमन्तरेण ब्रह्मविचारणाया अपि अकिञ्चित्करत्वम् । श्रीगीतासु— ज्ञानलक्षणवर्णनप्रघट्टेऽपि भगवता—

मयि चानन्योन्योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । (गीता १३/१०)

इति भगवता भक्तिर्निवेषिता । भक्तिमन्तरा ज्ञानमप्यज्ञाननिमित्ततस्तल्लक्षणमपि विना भक्तिमपूर्णमिति कृत्वा अत्र भक्तिर्न्यवेषि यिषयेवात्र भगवदीयोऽभिप्रायो मे प्रतिभाति । अथ भवतु नाम स्मृतिषु भक्तिचर्चाबाहुल्यं किमनेन प्रसंगश्चलति श्रुतीनाम् । भवन्तस्तु **आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे** इतिवत् प्रसंगान्तरं व्याचक्षते इति चेन्मैवम् । नाऽहं प्रसंगान्तरं चिकीर्षामि । '**श्रुतिमूलिका हि स्मृतयः**' । श्री गीता तु सर्वोपनिषदगवीदुग्धमेव । यतोक्तं भारते—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

अत्रैव श्रुतिष्वप्युदाहरणं प्रस्तौमि – भगवान् भक्तिश्चेति तत्त्वयुग्ममिद मन्योन्याश्रयम्— यत्र यत्र हि भगवान् तत्र तत्र भक्तिः, यत्र यत्र भक्तिः, तत्र तत्र भगवान् ।

इत्यन्योऽन्यत्र समन्वयो बोध्यः। श्वेताश्वतरोपनिषदस्तृतीयाध्याये कण्ठरवेण श्रुतिः भगवानिति शब्दं संजगौ तथा च पश्य—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/११)

एवं तार्तीयके भगवानिति शब्दयित्वा पुनश्चरमे षष्ठे मन्त्रेऽन्तिमे—

यस्य देवे पराभक्तिः (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/२५)

इति भक्तिशब्दसंकीर्तनेन कृत्स्नस्य ब्रह्मज्ञानस्य भक्त्यायत्तत्वं भगवती श्रुतिर्विस्पष्टं राद्धान्तयांबभूव । इत्यलमति व्याख्यया ।

एवमेव **हरिरिति** सगुणं बह्म, **ओऽम् इति** निर्गुणं ब्रह्म च समन्वयविधया स्मरति। ननु भोः! भवता सगुणब्रह्मणश्रेष्ठत्वे प्रतिपादिते, किं निर्गुणब्रह्मणा? इति चेन्मैवं, सगुणनिर्गुणब्रह्मणोर्वस्तुस्थितिमेव न वेत्सि । नैव सगुणं ब्रह्म निर्गुणब्रह्मातिरिच्यते।

निर्लीनाः गुणाः वात्सल्यादयो यस्मिन् तन्निर्गुणम्, भक्तकल्याणचिकीर्षया स्वजनावश्यकतानुसारं प्रकटितगुणैः सह वर्तमानं **सगुणम्।** माधुर्यं शैत्यमेव जलम्, वात्सल्यादयो गुणाः भगवन्तं निरपेक्षमपि तदन्यत्राधिष्ठानाभावात् कदापि न जहति न वा कर्हिचित् जिहासन्ति। किन्तु उपासकानां कृते पतितपावनत्वादयो गुणाः परमेश्वरस्य चेतःसमाकर्षकत्वात् प्रकामुपयोगिन इति तत्सहभूतत्वेन सगुणब्रह्मणो ज्यायस्त्वम्। परञ्च **सर्वत्र सत्ता तु निर्गुणब्रह्मणः ।** गोस्वामितुलसीदासमहाराजानां नये भगवद्विषयकाज्ञाननिरासाय तदैश्वर्यसमवधानार्थं तन्निबन्धननिर्गुणब्रह्मणो हृदाकाशे चिन्तनमावश्यकम्। नयनानन्ददाने तु सगुणं ब्रह्मैव दानशिरोमणिरिति संकलित-श्रुतिसिद्धान्तसन्दोहा दोहैषा दोहावल्यां द्रष्टव्या—

हिय निर्गुण नयनहि सगुन रसना नाम सुनाम ।
मनः पुरट सम्पुटलसत तुलसी ललित ललाम ।।

(तुलसीकृत दोहावली - ७)

एवं सगुण ब्रह्म नयनानन्दं ददाति। यथा मानसे—

दूरहिं ते देखे दोउ भ्राता। नयनानन्द दान के दाता ।।

(सुन्दरकाण्ड ४५/२)

इति सगुणनिर्गुणब्रह्मणोर्भेदवादं निर्गुणब्रह्मणश्चोत्कृष्टत्वं प्रलपन्तः प्रमादिनः परास्ताः। इत्थं **हरिः ॐ** इति द्वाभ्यां सगुणनिर्गुणवाचकाभ्यां भगवन्नामभ्यां ब्रह्मरूपद्वयं ध्यात्वा प्रश्नपंचकं प्रस्तौति—

ब्रह्मवादिनः ब्रह्म अतिशयेन बृहत् भक्तभक्तिस्वजनयशो बृहकं वा सकलगुणगणनिलयं श्रीरामाभिधं परमात्मानं वदन्ति तच्छीलाः इति ब्रह्मवादिनः। अत्र **सुप्यजातौणिनिस्ताच्छील्ये** इति सूत्रेण ताच्छील्ये णिनिः, स एव ब्रह्मवादः शीलं स्वभावः ऐषां ते तच्छीलाः। येषां स्वभावे ब्रह्मचर्चा, ये स्वप्नेऽपि भगवदतिरिक्तं न चर्चयन्ते, त एव एकदा आगत्य सत्कृत्य सादरं तपसा पूतहृदयं महर्षिं श्वेताश्वतरं प्रश्नपंचकेन उपतिष्ठमानाः वदन्ति अत्र **स्म** इति अध्याहर्तव्यम् एवं वदन्ति। स्म स्वाभिप्रायं निवेदयामासुरिति भावः। यद्वा वदन्तिस्मेति शब्द आसीदेव, विनाऽपि प्रत्ययम् इति वार्तिकेन '**स्म**' शब्दस्य लोपः। किंम् वदन्ती स्म इत्येतत् आह—

हे ब्रह्मविदः! ब्रह्मणि परमेश्वरे मनोऽवच्छेदेन विद्यन्ते इति ब्रह्मविदः। हे ब्रह्मनिष्ठा इति यावत्। अत्र हि सप्तम्यन्ते ब्रह्मोपपदे सत्तार्थक 'विद् धातोः' कर्त्तरि क्विप्। अगतकगतित्वेऽपि श्रुत्वनुरोधेन सप्तमीति योगविभागादेव समासः। व्युत्पत्यानया 'ब्रह्मविद्' इति शब्देन **समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।** (मुण्डक० १/२/१२)

इति मन्त्रोक्तब्रह्मनिष्ठत्वरूपसद्गुरुलक्षणमपि सूचितम् । यद्वा ब्रह्म परमात्मानं विदन्ति इति ब्रह्मविद: । हे ब्रह्मज्ञानिन: इति भाव: । यद्वा ब्रह्म परमेश्वरम् विन्दन्ति, निजप्रियत्वेन लभन्ते इति हे ब्रह्मविद: । लब्ध परब्रह्मपदपद्मा इति भाव: । यद्वा ब्रह्म परमेश्वरं सीतापतिं श्रीरामं विन्दते निज सेव्यत्वेन विचारयन्त: समध्यवस्यन्ति ये ते ब्रह्मविद: । अत्र द्वितीयान्तब्रह्मोपपदात् यथा पूर्वक्रममवबोधनार्थक 'विद्' धातो: लाभार्थक 'विद्लृ' धातो:, विचारार्थक 'विद्' धातोश्च कर्तरि क्विपि कुम्भकारादिवत् समास: । एतेन व्युत्पत्तित्रयेण सद्गुरो: श्रोत्रियत्वं सूचितम् ।

एकस्मिन्नपि श्वेताश्वतरे ब्रह्मविद: इति बहुवचनान्तसम्बोधनप्रयोगस्तु—

एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे ।

स्मृतिवचनानुरोधेन तत्र सद्गुरुत्वनिबन्धनादरातिशयसूचनाय ।

ब्रह्म श्रुति प्रतिपाद्यं परमेश्वराख्यं परतत्वं किं कारणम् ? न्यायनयोक्तेषु - समवाय्यसमवायिनिमित्तेषु कतमं कारणम्, यद्वा साधारणासाधारणयो: कतरतकारणम्, यद्वा निमित्तोपादनयो: कतर । एवं किं कारणमिति कारणकोटिनिर्धारणे प्रश्न: ।

यद्यपि ब्रह्मकारणत्वमीमांसायां बहव: पक्षा:, नैयायिक: कर्तृत्वेन परमात्मानं स्वीकुर्वन्ति एवं हि ते निमित्तकारणं मन्यन्ते परमात्मानम् । अतएव कारिकावली-मंगलाचरणे विश्वनाथ: प्राह—

तस्मै कृष्णाय नम: संसारमहीरुहस्य बीजाय

बीजाय— **निमित्तकरणाय, 'इति हि तत्र मुक्तावली।**

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।।

(गीता ७/१०)

इति हि प्राह गीताषु भगवान् । **बीज** शब्दस्य च निमित्तकारणरूपोऽर्थ: सर्वसिद्धान्तसह: । अद्वैतिन: विवर्तवादं मन्वाना: भगवन्तमेवं ब्रह्म साक्षात् सम्बन्धेन उपादानं मायावाददृष्टौ निमित्तकारणं च स्वीकुर्वन्ति । किन्तु वयं वैष्णवा: अविकृतपरिणामवादं स्वीकुर्वाणा:, जगत् ब्रह्मण: परिणामं मन्यमाना अपि **दीपात्दीप-प्रवर्तनन्यायेन** तत्र विकारं नाध्यवस्याम:। केचन् तार्किका इव वेदान्तिनोऽपि सृष्टिं प्रति ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वमेव मन्यन्ते । किन्तु वयं श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यपदपद्म-परागरसपायिन: श्रीवैष्णवास्तु अभिन्ननिमित्तोपादानकारणमेव ब्रह्म सृष्टिं प्रतीति प्रतीम: ।

अथ ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानकरणत्वे किं गमकम् ? इति चेत् मुण्डकोपनिषदेवेति गृहाण तत्र हि जगद्रचनाविचारकाले श्रुतिरुदाहरणत्रयेण सृष्टिं प्रति ब्रह्मणो हेतुत्वं प्रत्यपीपदत्। तथा श्रुति:—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।।

(मुण्डक॰ १/१/७)

मन्त्रस्यास्य त्रिभिश्चरणैः त्रीण्युपमानानि सृष्टिरचनासम्बन्धे प्रदर्श्य, पश्चात् चरमे ब्रह्मैवोपमेयत्वेनोक्तम् । लूता यथा निजतन्तुजालं सृजति पुनस्तदेव स्वस्मिन् संहरति तथैव परमेश्वरोक्षरः स्वेन सृष्टं जगत् स्वस्मिन् संहरति इति तात्पर्यम् । केचन मन्त्रमेतमापातदृष्ट्या मीमांसमानाः उदाहरणेनानेन जगतो विवर्तत्वं प्रलपन्ति ।

वेदान्तसारकृता च ससमारोहमेतत्प्रतिपादितमपि तदसंगतं, न ह्युपमानसर्वगुणाः उपमेये दृश्यन्ते, यथा चन्द्र इव मुखमित्यत्र नहि चन्द्रगता धवलिमा मुखेऽपि द्रष्टुं शक्यते । तथा सति तत्र कुष्ठत्वप्रतीतिसम्भवात् । तस्मान्मुखे चन्द्रगताह्लादकत्वमेवारोप्यते तथैवात्रापि ऊर्णनाभिगतसृज्यमानग्रहणताटस्थ्यं ब्रह्मण्यपि दृश्यते । वस्तुतस्तु ऊर्णनाभेः ऊर्णा तज्जन्या न तु सैव तथैव जगत् जगदीशजन्यं न तु स एव । एवम् यथा पृथिव्या मोषधयः सम्भवन्ति तथैव परमात्मन्याधारे सृष्टिकाले जीवाः जायन्ते । इत्यनेन जगदीशजगतोराधाराधेयभावः संसूचितः । एवम् यथा पुरुषात् केशलोमानि जायन्ते तेषु क्षीणेष्वपि पुरुषो न क्षीयते, तथैव जीवेषु क्षीणेष्वपि परमेश्वरोऽक्षर एव । अत्र त्रिष्वप्युपमानेषु परमेश्वरस्य जगज्जनकत्वं जगतश्च परमेश्वरात् परिणामः सूचितः । ननु यथातथोः साजात्यसमवधाने ऊर्णनाभेर्विकारस्तन्तुः पृथिव्या विकारा ओषधयः पौरुषेयाणि च केशलोमानि तथैव विश्वमपि परमात्मनो विकारः ? इति चेन्न उत्पत्तिप्रकारे यथा तथो साजात्यं, यथा ऊर्णनाभिः यथा सृजते, पृथिव्याम् ओषधयः यथा भवन्ति, पुरुषात् केशलोमानि यथा प्रादुर्भवन्ति अक्षरात् विश्वं तथा जायते । एवम् ऊर्णनाभि पृथिवी पुरुषाणां क्षरत्वात् तन्त्वौषधिकेशलोम्नाम् तद्विकारता परन्तु परमेश्वरस्याक्षरत्वात् तद्विकारता नहि ।

तेन तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् (मुण्डक॰ १/१/७)

इत्यक्षरशब्दप्रयोगात् ब्रह्मणि विकारनिरासः । तात्पर्यमेतत् क्षराणाम् परिणमे सति तत्र विकृतत्वं यथा दध्नि परिणामे दुग्धविकृतत्वम्, विकारोऽत्र स्वरूप हानिः किन्तु अक्षरे परमात्मनि न तथा क्षरत्वमन्तरेण स्वरूपहान्यनुपपत्तेः । तथाक्षरात् सम्भवतीहि विश्वमिति श्रुतिरेव विवर्तवादं विकारवादञ्च निरस्य ब्रह्मण्यविकृतपरिणामवादं वदति । यथा ऊर्णनाभिः स्वस्मादेव तन्तुजालं जनयन्त्यपि नैव विक्रियते, ओषधीषु जायमानास्वपि पृथिव्यां नो विकृतिः, पुरुषात् जायमानेषु केशलोमसु भग्नेष्वपि न

पुरुषस्वरूपक्षति:, तथैव जगति जाते प्रलीने च भूय: परमेश्वरे न स्वरूपच्युतिरिति विवेक्तव्यम् । संसारसत्वेऽपि परमात्मा तदभावेऽपीति समाकूतम् । तथा च भागवतचतुश्लोकी चरमपद्ये—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्वजिज्ञासुनात्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ।।

(भागवत २/९/३५)

इममेवाविकृतपरिणामवादं बहुशो वदन्ति श्रीगोस्वामितुलसीदासमहाराजा:यथा—

अखिल विश्व यह मोरि उपाया । सब पर मोरि बराबरि दाया ।।

(मानस ७/९०/६)

पुन: विकारतां खण्डयन् प्राह—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ।।

(मानस २/१२७/५)

जगतोनिर्विकारपरिणामतासमर्थनाय विनयपत्रिकायामाह श्रीरामभक्तकलहंसावतं स: यथा—

प्रकृतिमहतत्वशब्दादिगुणदेवताव्योममरुदग्निमलांबु उर्बी ।
बुद्धिमनइंद्रियप्राणचित्तातमाकाल-परमाणु चिच्छक्ति गुर्बी ।।
सर्वमेवात्र त्वद्रूप् भूपालमणि व्यक्तमव्यक्तगतभेदविष्णो
भुवनभवदंशकामारि-बंदित-पदद्वंद्व-मंदकिनी-जनक जिष्णो ।।
आदिमध्यांन्त भगवंत त्वं सर्वगतमीशपश्यंति ये ब्रह्मवादी
यथा पटतन्तुघटमृत्तिका, सर्पसृक्, दारु-करिकनककटकांगदादि।।

(विनयपत्रिका - ५४)

वस्तुतस्तु विवर्तवादो न शास्त्रीय: । **परिणामात्** (ब्रह्मसूत्र १/४/२७) इति सूत्रात् ब्रह्मणि परिणामे कथं न विकारता इति चेत् चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म, तत्र चिदचिद् ब्रह्मणो विशेषणे, तत्र न वा ब्रह्मणि न वा चिद्परिणाम: स च अचिति ब्रह्म विशेषणे विशेषणपरिणाम एव विशिष्टे आरोप्यते अयमेव नो विशिष्टाद्वैतवाद: ।

एवम् जगतोस्य ब्रह्म अपृथङनिमित्तोपादानकारणं इत्येव मे मनीषितम् । साधारणासाधारणयोर्मध्ये असाधारणमतो मानसकारा:—

वन्देहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ।

अशेषेभ्य: कारणेभ्य: परमश्रेण्ठं इति हि तदविवरणम् । एवंभूतंकारणं ब्रह्म किं स्वरूपमिति प्रश्न:, अथवा किं ब्रह्मकारणम् उताहो अन्यत् इति जिज्ञासा, अथवा ब्रह्मेत्यजन्तं **पदंसर्व प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मेतत्** (श्वेताश्वतर १/११) ब्रह्मं एतत् इति विच्छेद: एवंनान्ता अजन्ता इति श्रीधरोक्तरीत्या श्रुति प्रामाण्येन च, नान्तस्यापि ब्रह्म, ब्रह्मणी, ब्रह्माणि इत्यादिरूपवतोऽजन्तब्रह्मशब्दस्य ब्रह्मं, ब्रह्मे, ब्रह्माणि इत्यादीन्यपि-रूपाण्यजन्तनपुंसक लिङ्गनुसारीणि सम्भवानीति सम्भावनीयं, तस्यैव बाहुलकात् लिङ्गवचनविपर्ययेण हेब्रहमाण: इत्यस्य स्थाने हे ब्रह्मेति सम्बोधनम् । यद्वा नान्तत्वेपि ब्रह्मशब्दस्य **सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपोवावाच्य:** इति सम्बुद्धिस्थले नान्तनपुंसकानां नलोपविधायिवार्तिकस्य बाहुलकात् पुल्लिङ्गे प्रवृत्ते: वचनविपर्ययात् हेब्रह्माण: इति स्थाने ब्रह्मेत्यार्षप्रयोग: । तथा च ब्रह्मविच्छब्देन सह ब्रह्मशब्दसम्बोधनस्य हार्दमिदम् यत्— भवन्तो ब्रह्मविद: सन्तोऽपि ब्रह्माण: ब्राह्मणा: भवताङ्कृते निसर्गसिद्धा ब्रह्मविद्या तस्मात् भवन्तो निर्व्यलीकं वदिष्यन्ति, हे ब्रह्मविद:! ब्रह्म किं कारणं जगतामिति शेष: इत्यर्थानुरोध्यन्वय:, भवन्तो द्विजश्रेष्ठा: अतो निर्णीय वदन्तु जगत् कारणम्? एष: प्रश्नभाव: । उत्तरमप्रतीक्ष्यैव शेषान् चतुर: प्रश्नान् भावयन्ति— वयं प्राणिन: कुत: कस्मात् जाता: कस्य सकाशात् गृहीतजनमान: ? जन्मन: प्राक् कुत्रास्म वयं जिज्ञासितमेतत् स्म इत्याश्चर्ये यद्वा कुत: हेतो: जाता: केन हेतुना वयं परमात्मन: पृथग्भूता: इति प्रश्नाभिप्राय: पुनस्तृतीय: प्रश्न:—केन किं नामकेन शक्तिविशेषेण प्रेरिता: परमात्मन: पृथग्भूता अपि जीवाम, जीवनं धारयाम: अत्र जीवाम: इति मस्प्रत्ययसकारस्य बाहुलकात् अङित्यपि लट्लकारे नित्यं ङित: इति शास्त्रप्रवृत्या लोप: । यद्वा जीवाम इति लोडुत्तमबहुवचनरूपम्, प्रश्ने हि लोट् लकार:। अस्मिन् महामोहमये रात्रिदिवेन्धन-प्रज्वलितसूर्याग्निना तातप्यमाने सर्पपकणा इव वयम् छुद्रसत्वा: केनाश्रयेण जीवाम प्राणान्धारयाम इत्याश्रयणीय जिज्ञासा च । पश्चात् वयं प्रारब्धजनितकलेवराणि विहाय क्व कस्मिन्निवासे सम्प्रतिष्ठा:, सम्यक् प्रतिष्ठा येषां ते सम्प्रतिष्ठा: भविष्याम: इति शेष: । प्रलयसन्ध्यायां कुत्र गत्वा यावत् प्रभातनिर्भया: स्थास्याम: इति प्रश्न: । एवम् केन प्रेरयित्रा स्वाधिष्ठानभूतेन अधिष्ठिता: साधिकारं प्रेरिता: स्वकर्मसु नियुक्ता वा सुखेतरेषु, सुखानि अनुकूलवेदनीयानि तेभ्य: इतराणि इति सुखेतराणि तेषु सुखेतरेषु यद्यपि सुखदु:खे द्वे एव तत: सुखेतरयो: इत्येव वक्तव्यमासीत् तथाप्युभयोरवान्तर-भेदाभिप्रायेण सुखेतरेषु इति बहुवचनान्तमुक्तं, एवं सुखानि त्रीणि सात्विकराजसतामसानि गीताया:अष्टदशे सप्तत्रिंशत: त्रिषु श्लोकेषु वर्णितानि आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकतापा: अपि वर्णिता: । यथा मानसे—

देहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज्य नहि काहुहि ब्यापा ।

(मानस ७/२१/१)

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ (सां.का. १)

इति हि तत्र ईश्वरकृष्णः । तेषु केन नियुक्ताःव्यवस्थाम् द्वन्द्वपरिणामभूताम् वर्तामहे अनुरिति अध्याहार्यः एवम् अनुवर्तामहे अनुसरामः अत्र पञ्चस्वपि प्रश्नेषु जीवब्रह्मणोर्भेदवादः सुस्पष्टं ध्वनितः। प्रथमं जन्मकारणजिज्ञासा पश्चात् जन्माधिष्ठानगीप्सा अथ आश्रयणीयप्रश्नः पश्चात् भाविनिवासगवेषणा अनन्तरं आत्मनोनियोक्तृबुभुत्सा इमे पञ्चप्रश्नाः वैष्णवानां अर्थपञ्चकजिज्ञासा रूपाः । ननु द्वितीयः प्रश्नो नोपपद्यते कुतस्म जाता इति जीवस्य हि अजन्मत्वप्रसिद्धेः **न जायते म्रियते वा विपश्चिद्** (कठोपनिषद् १/२/१८) इतिश्रुतेः ।

"न जायते म्रियते वा कदाचित् । (गी. २/२०)

इति स्मृतेश्च इति चेत् सत्यं, अजन्मत्वेऽपि जीवस्य देहे स्वात्माध्यासबुद्ध्या शरीरावच्छेदेन जन्मोपपत्तौ तादृक् प्रश्नः। श्रीः।

एवं ब्रह्मवादिनां पञ्च प्रश्नान् निशम्य समेषात्तरभूतस्य उत्तरमीमांसाप्रतिपादस्य षडैश्वर्यसम्पन्नस्य भगवतः प्रतिपदं भक्तिवदस्य जगदुत्पत्तिपालनसंहर्तृत्वलोकोत्तरमाहात्म्य-निरतिशयकल्पाणसद्गुणास्रपत्वादि सकलविलक्षणलक्षणवैशिष्ट्यं वर्णयितुम् उमक्रमते षड्भिरध्यायैः अद्भुतमहिमानं, तत्र पूर्वं पूर्वपक्षीभूतानि नवकारणानि समासतो निराकृत्य कारणकोटावागतं दशमं दशमस्त्वमसि इत्यादि वाच्यम् सर्वसर्वेश्वरं सकल कारणत्वेन सिद्धान्तयति कालादिनवकारणानां कारणत्वं निराकरोति। काल इत्यादिना—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।।२।।

कालः स्वभावः नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्याः (कारणत्वे) तु एषां संयोगः आत्मभावात् न (कारणं) सुखदुःखहेतोः (जगतः) अनीशः आत्मा आपि न कारणम् इत्यन्वयः।

कालो नाम भूतभविष्यद्वार्तमानात्मकः निमेषादिः संवत्सरान्तः समयः स्वभावो नाम प्रतिजीवं निसर्गनैसर्गिकी क्षमता नियतिः, शुभाशुभकर्मफलसमूहः यदृच्छा आकस्मिकी प्राप्तिः भूतानि, पृथ्वीजलतेजोनभांसि योनिः सर्वजनयित्री प्रकृतिः, पुरुषः शरीराभिमानी जीवः, इति इमे मन्त्रपूर्वार्धेः कालादिपुरुषपर्यन्ता चिन्त्याः कारणकोटौ चिन्तनीयाः । वस्तुतस्तु कारणानि तर्हि एषां सप्तानां संयोगः समुदायकारणं भवन्तु, न वा अवयवसः

कारणानि भवन्तु इत्यत आह— तु अरुचिसूचकाव्ययोऽयम् एषां संयोगः न कारणं, हेतुमाह - आत्मभावात् आत्मनि भावः भवनम् इत्यात्मभावः तस्मात् आत्मभावात् यतो हि कालस्वभावनियतियदृच्छामहाभूतप्रकृतिपुरुषाणां न स्वतंत्रा स्थितिः सर्वे प्रत्ययगात्मानं श्रयन्ते, न हि पराधीनानि कारणानि भवन्ति । न भवतु नाम कालादीनामेकैकस्य कारणत्वम् परञ्च संयोगो भवतु कारणं ? तत् खण्डयतुं प्राह— न तु एकैके वा समुदायो वा । इत्यत्र किं वैलक्षण्यं यथा इमे प्रत्येकमात्मानमाश्रयन्ते तथैव एतत् समुदायोऽपि । अथ आत्मा भवतु नाम कारणम् इत्यत्र आह— सुखदुःखहेतोः सुखदुःखयोः हेतोः कारणभूतस्य जगतः कारणत्वे आत्मा अपि विशुद्धचेतनघनः अनीशः कारणत्वे अक्षमः, यतो हि जगतः सुखदुःखे आत्मा न व्यपोहितुं क्षमते अतः कालात्मपर्यन्तेषु कतममपि न कारणं, सर्वथा प्रमाणागोचरस्य परमात्मनः तत्स्वरूपशक्तेश्च ध्यानमन्तरेण साक्षात्कारासम्भवात् श्वेताश्वतरः प्रश्नकर्तृभिः सह ध्यानयोगमास्थाय जगतां कारणभूतां ब्रह्माभिन्नशक्तिमपश्यत् इत्येव विषयं विवृणोति त इत्यादिना।

पूर्वमेवोक्तं सुखदुखहेतोः आत्माप्यनीशः तात्पर्यमेतत् यत् आत्मनो ज्ञानं नैवैकरसम् **अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्** इति स्मृतेः । जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये मुख्यतमोऽयं विशेषः यत् जीवात्मा अणुः परमात्मा च महान् । अतो अणुभूते जीवात्मनि ज्ञानमपि तत्सीमानुसारं सखण्डम् । तस्मान्मायया समावृयते ।

परमात्मनो ज्ञानमखण्डं सर्वज्ञत्वात् । यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयः तपः।। (मुण्डक. १/१/९)

इति श्रुतेः । मानसकारोऽपि स्मरति—

ज्ञान अखण्ड एक सीतावर । माया वस्य जीव सचराचर ।।

(मानस ७/७८/४)

तस्मात् जीवात्मनि कदाचित् मायाविलुप्तज्ञाने सुखदुःखे उपचर्येते । तयोर्वशगत्वात् आत्मा अपि अनीशः, इष्टे शास्ति इतीशः न ईशः अतीशः ईश भिन्नः असमर्थ इति भावः । इदमसामर्थ्यं हि तत्कारणत्वं निरस्यति । सामर्थ्यवद् हि कारणं भवति । अतः किं कारणमिति मुख्ये प्रश्ने समुपस्थिते तद्विषये इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानरूपप्रत्यक्षासंभवात्, तदसम्भवे, तत्कार्यभूतानुमानाप्रसरात्, **न तस्य प्रतिमा अस्ति** इति श्रुतिप्रेरणया ब्रह्मसादृश्याभावात् तत्रोपमानायोग्यत्वात्, जज्ज्ञाने शब्द एव शरणम्, शब्दस्य चापि वागिन्द्रियबोध्यत्वात् वाचश्च कर्मेन्द्रियत्वेन जडप्रायत्वात् तया विशुद्धचैतन्यघनब्रह्मबोधयितुमशक्यत्वात्, तदनुभवाय भक्तिमूलकध्यानयोगो हि मुख्यं साधनम् । ध्यानं हि सगुणसाकारस्य भवति यथोक्तं भागवते—

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनः शमलशैलनिःसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्।।
(भागवत ३/२८/२२)

तस्मादिमे ध्यानयोगेन परमात्मशक्तिं साक्षात् चक्रुः । **ऋषयो हि मंत्र दृष्टारः** तपसा मन्त्रं मन्त्रार्थं च ऋषन्ति, अवगच्छन्ति, साक्षात् कुर्वन्ति इति **ऋषयः**।

भक्तेर्हि ज्ञानजननीत्वात् तयैव भगवन्तं प्रपेदिरे इति हृदयं श्रुतेः। श्रीः।।

उपक्रमेऽपि ध्यानयोगः, उपसंहारे च 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इति शरणागतिः तस्मात् भगवत्प्रपत्तिरेव वैदिकमार्गः। ज्ञानं च तन्निर्णये सहकारीति विवेकः, नन्वसंगतमेतत्।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव बृजिनं संतरिष्यसि (गीता ४/३९) **नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते** (गीता ४/३८) **श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप** (गीता ४/३३) एवमादि गीतावाक्येषु भगवता ज्ञानस्यैव प्राशस्त्येन चर्चितत्वात् । मैवं वादीः ।

भक्तिमन्तरेण ज्ञानस्यैव पूर्वं स्थातुमशक्यत्वात् , सप्तमे च श्रीगातायां ज्ञानवतोऽपि भगवत्प्रपत्तिदर्शनात् , स एव श्रौतमार्गः । तद्यथा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।

एतस्यान्वयार्थोऽपि दुरूहतया सामान्यबुद्धिविषयत्वेन श्रीराघवकृपया समुन्मीलितविवेकलोचनेन मया क्रियमाणोऽवगन्तव्यः । तथाहि— सर्वं वासुदेवः इति सुदुर्लभः महात्मा ज्ञानवान् बहूनां जन्मनाम् अन्ते मां प्रपद्यते ।

अर्थात् यः खलु निजातिरिक्तसर्ववासुदेवमयं जगत् समवधारयति एतादृक् सुदुर्लभमहात्मा ज्ञानवान्, प्राशस्त्ये मतुप् प्रशस्तज्ञानसम्पन्नः नैकस्मिन् जन्मनि मां प्रपद्यते प्रत्युत् इमां निष्ठां धारयन् बहूनां जन्मनां अन्ते प्रारब्धजनितपरमेश्वरभजन-प्रतिबन्धकदुरितक्षये, समुदये च निरतिशयसुकृतपुंञ्जस्य मां प्रपद्यते, अर्थात् मां श्रीकृष्णाख्यं परमात्मानं गोप्तृत्वेन वृण्वानः शरणं ब्रजतीति हार्दम् । तस्माच्छरणागतिरेव भगवतः श्रौतः पन्था इति निर्णीयते । तमेवोद्घाटयन्ती श्रुतिः प्राह—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ।।३।।

ते ध्यानयोगानुगताः स्वगुणैःनिगूढां देवात्मशक्तिम् अपश्यन् यः एकः कालात्मयुक्तानि तानि निखिलानि कारणानि अधितिष्ठति इत्यन्वयः।

समेषां कारणानां निराशहेतुं सूचयितुं मन्त्रारम्भः— ते जगत्कारणजिज्ञासवः परमर्षयः ध्यानयोगानुगताः । ध्यानम् — परमेश्वरस्य नामरूपलीलाधाम्नाम् असकृन्मनसि चिन्तनम् । भगवद्भजनानुकूलव्यापाराख्यं मानसं चेष्टितं तदेव योगः निर्विकल्पसमाधिः । यद्वा ध्यानम् — समाधिपूर्वाणां सप्ताङ्गानामुपलक्षणम् । योगशब्दस्तु समाधिवाचकः तमनुगताः अष्टाङ्गयोगयुक्ताः इति भावः । योगिनो हि अवाङ्मनसगोचरमपि परमेश्वरमपि साक्षात् कुर्वन्ति । **ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः ।** (भागवत १२/१३/१) इति स्मृतेः । **पश्यन्ति यं जोगी जतनकरि करत मनगोवस सदा।** (मानस ३/३२/४) इति मानसवचनाच्च । यद्वा — ध्यानम् —परमेश्वरप्रणिधानम्, ईश्वरप्रणिधानाद्वा इतिः तत्र पतञ्जलिः । तेन ईश्वरप्रणिधानरूपेणध्यानेन योगः चित्तवृत्तिनिरोधः इति ध्यानयोगः तमनुगताः । यद्वा ध्यानम्— असकृत् परमात्मस्मरणम् तदेव योगः ध्यानयोगः । **ध्यानयोगपरोनित्यं** (गीता १८/५२) यद्वा ध्यानम्—अनपायिनीभक्तिः तेनैव योगः जीवेन सह संयोगः यस्य स ध्यानयोगो भगवान् तमनुगताः आनुकूल्येन कैङ्कर्यभावेन प्रपन्नाः इति ध्यानयोगानुगताः, भगवच्छरणागतिगताः इति भावः ।

स्वगुणैः निजगुणैः निगूढाम् आवृतां देवात्मशक्तिं , देवः भगवान् **एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः।** (कठ० १/३/११) **कस्तं मदामदं देवम्।** (कठ० १/२/३३)

तस्य देवस्य आत्मशक्तिम् , आत्मनः निजस्य शक्तिः अघटितघटनापटीयसी योगमाया तां देवात्मशक्तिं स्वगुणैः सत्वरजस्तमोभिः निगूढामपश्यन् । भयमेव भगवतो योगमाया सृष्टिं ब्रह्मरूपेण, पालनं विष्णुरूपेण, संहारं च शिवरूपेण करोति । अत एव पौराणिका आमनन्ति **ब्रह्मविष्णुशिवास्तस्य प्रधानस्यैव शक्तयः** आगमविदोऽपि विदन्ति—

एकैवशक्तिः परमेश्वरस्य भिन्ना चतुर्धा व्यवहारकाले ।
भोगे भवानी पुरुषेषु विष्णुः क्रोधे च काली समरे च दुर्गा ।।

एवम् गोस्वामिपादा अपि देवात्मशक्तिमित्यस्य विवृतिं कुर्वन्ति —

एक रचइ जगगुन बस जाके । प्रभु प्रेरित महिं निजबल ताके ।।

यन्तु प्राञ्चः देवात्मशक्तिमित्यस्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वररूपां पुरुषात्मप्रकृतिरूपां, देवार्थभिन्नसामर्थ्यरूपाम्, इति नानाविधं व्याचक्षते तत्प्रकरणविरुद्धत्वादुपेक्षम् । नव्यास्तु देवः, क्रीडनात् कान्तिमत्वात्, रावणादीनां विजिगीषुत्वात्, मोदमयत्वात्, भक्तानां पुरःगमनशीलत्वाच्च, 'दिव्' धात्वर्थानुगुणो रामचन्द्रः । तस्य देवस्य रामचन्द्रस्य आत्मा धर्मपत्नी **आत्मा हि दारा सर्वेषां दारसगृहवर्तिनाम्** (वा. रा. २/३८/२०) इति स्मृतेः । सैव

भगवदभिन्नाऽपि अवतारलीलायां धर्मपत्नीत्वेन दृश्यमाना शक्तिः । आदिशक्तिः इति देवात्मशक्तिः जगज्जननी श्री 'सीता' तां देवात्मशक्तिं सीतां स्वस्य आत्मीयस्य भगवतः गुणैर्वात्सल्यादिभिरवगुष्ठनभूतैः निगूढां विधुवदनावच्छेदेन समावृतां, **वसुधायाश्च वसुधां श्रियः श्रीभर्तृवत्सलाम्** (वा.रा. ६/११४/१७) इत्यार्षवचनात् ।

आदि शक्ति जेहि जग उपजाया । सो अवतरिहि मोरि यह माया ।।

(मानस १/१५२/४)

इति मानसोक्तेश्च भगवती सीतैव निजमायया ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपया जगदुत्पत्तिपालन-संहारान्कारयति। अतो मानसकाराः प्राहुः—

उद्भवस्थितसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।।

अस्यार्थः समवधातव्यः—उद्भवस्थितसंहारान् कारयति तच्छीला इत्युद्भवस्थिति-संहारकारिणी तथाभूता अर्थात् ब्रह्मणा उत्पत्तिं, विष्णुना पालनं, शिवेन संहारं कारयति । वस्तुतस्तु इमे श्रीराममायायाः सीताया एव मायाप्रभेदाः इत्थं **तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमः** इति न्यायेन भगवदभिन्नश्रीजानक्यभिन्नतया ब्रह्मविष्णुशिवेष्वपि भगवदभिन्नता । अतो वाणो जगाद कादम्बर्याम्—

रजोजुषे जन्मनिसत्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमस्पृशे ।
अजायसर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ।।

एवमुद्भवस्थितसंहारकारिणीं ब्रह्मविष्णुशिवद्वारेण, पुनश्च क्लेशहारिणीं, क्लेशं भक्तानां कष्टं हारयति तच्छीला श्रीरामद्वारा या सा क्लेशहारिणी तां **क्लेशहारिणीम्** । इत्थं चत्वारि कार्याणि अन्यान्यद्वारेण कारयित्वा स्वयमपि किमपि करोति इत्यपेक्षमाणं प्रत्याह— सर्वश्रेयस्करीम— आचार्यत्वात्त्रिजगतां प्रोऽन्यैस्तनोति या । श्रेयस् स्वयमेव कुरुते सर्वश्रेयसकरी ततः।। इति मम सर्वेषां श्रेयः करोति इति सर्वश्रेयस्करी तां सर्वश्रयसकरीं रामवल्लभां सीतां नतोऽहम् इति श्लोकार्थः । न च सीताया अवैदिकत्वात् उपनिषदि तत्प्रतिपादनमसंगतमिति वाच्यं **इन्द्रः सीतां निग्रहणातु सीते वन्दामहे त्वा** इत्यादि श्रुत्यनुरोधेन ब्रह्मरूपतया श्रीसीताया अपि श्रुतिमहातात्पर्यभूतत्वात् । सदेवः कीदृशः यस्येमात्मशक्तिः ? इत्यपेक्षायामाह य इति । समासपिहितोऽपि देवशब्दः नित्यसाकांक्षत्वाल्लक्ष्यानुरोधेन यच्छब्दतः परामृश्यते । यः देवः एकः अद्वितीयः—

न तत् समोस्त्यभ्यधिकः कुतोन्यः इतिस्मृतेः (गीता ११/४३)

न तत् समोस्त्यभ्यधिकश्च विद्यते (श्वेत. ४/८) इति श्रुतत्वाच्च । यद्वा— **एकः** प्रधानः अप्रधानतया भवतु नाम जीवः मुख्यस्तु परमेश्वर एव । यद्वा— **एकः**

क्षराक्षराभ्यां शरीरजीवात्मभ्यामन्यः परमात्मा । 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च' इति अमरकोषात् एवं भूतः एकः अकारो वासुदेवः तस्मिन् । 'ए' कं सुखं यस्मात् **स एकः** वासुदेवस्याऽपि सुखप्रदाता महाविष्णु श्रीराम इति भावः । निखिलानि सम्पूर्णानि तानि कालादीनि कारणानि सृष्ट्युत्पादनसहकारीणि कालात्मयुक्तानि, कालः आदिकारणतया उपन्यस्तः आत्मा चरमहेतुतया परिकल्पितः द्वितीयश्रुतावित्यर्थः । एवं कालश्च आत्मा च इति कालात्मानौ ताभ्यां युक्तानि कालादीन्यात्मपर्यन्तानि तानि, अधितिष्ठति साधिकारं शास्ति प्रेरयति स्वस्य सकलकारणकारणत्वात् । 'अखिलविश्वकारणकरणम्' इति मानसोक्तेः । एवं कालाद्यात्मपर्यन्तानां कारणाम् अधिष्ठातुः श्रीरामाख्यदेवस्य अन्तरङ्गशक्तिम् आह्लादिनीं वात्सल्यादिनिगूढां सीतां विग्रहवतीं भक्तिम् ऋषयः अपश्यन् चक्षुविषयतामनयन् इति श्रुत्यर्थः । परमेश्वरस्तु निमित्तोपादानसाधारणासाधारणकारणतः परः तद्भिन्नान्तरङ्गशक्तिः सीतैव कारणं प्रपञ्चस्य तदभिन्नतया भगवानपि कारणं कथ्यते । अतएव—

वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् (मानस मंगलाचरण-६)

इति मानसवचनमपि संगच्छते । अत एव 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' इति गीतासंगतिः । श्रीः ।

एवं परमात्मन एव अन्तरंगशक्तेः सीताभिधायाः जगत्प्रतिसाक्षात्कारणत्वम् प्रेरकतया, परम्परया, परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वम्, व्यञ्जयित्वा मन्त्रेणाग्रिमेण कार्यभूतं संसारं चक्ररूपकेण निरूपयति तमित्यादिना—

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ।।४।।

अन्वयः— एकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विशंतिप्रत्यराभिः (युक्तम्) षड्भिः अष्टकैः (सहितं) विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहं (संसारचक्रं वहन्तं) तं देवम् अपश्यन् ।

जगत् कारणभूतपरमेश्वरयोगमायामघटितघटनापटीयसींसीताभिधां शक्तिं दृष्ट्वा तत्सृष्टसंसारमपि चक्राकारं तं च वहन्तं तमालनीलं परमात्मनं श्रीराममपि ददृशुरिति स्पष्टयति मन्त्रेणानेन । यद्यपि संसारचक्रमिति शब्दः श्रुतौ नास्ति वहन्तमित्यपि नास्ति तथापि रूपकैकवाक्यतया अर्थसौकर्यार्थं मयाच्छिप्ताविमौ शब्दौ । तथाहि एकम् अव्याकृतिप्रकृतिनामकम्, अव्यक्तं नेमिः चक्राधारगोलकं यस्मिन् तं एकनेमिम् । यद्यपि चक्रशब्दस्य नपुंसके पाठः प्रसिद्धः तथाप्यत्र पुल्लिंगविशेषणानुरोधेन चक्रशब्दं अर्धरचादिगणे मत्वा तत्र पुंस्त्वमप्यनुसंधेयमन्यथा वारिवत् स्वमोर्नपुंसकात् इत्यमिलुकि एकनेमि इति स्यात् । **त्रिभिः** सत्वरजस्तमोरूपैः गुणाभिधैः वृत्तैवृतमिति त्रिवृतम् ।

एवं प्रतिपदमारभ्य पौर्णमासीपर्यन्ता: कुहूसहिता: षोडशतिथय: अन्ता: कालावच्छेन विरामसूचिका: यस्मिन् स षोडशान्त: तं षोडशान्तम् । तिथयो हि संसारचक्रस्य समयप्रवाहतो विरामं प्रकटयन्ति । यत्तु प्राञ्च: षोडशान्तमित्यत्र प्राणादय: षोडशकला: अन्ते यस्य वा सांख्योक्ता: षोडशविकारा: अन्ते यस्य तादृशमिति व्याचक्षते तदलीकम्। षोडशकलानां प्रश्नोपनिषदि वर्णितानां प्रकृतिप्रसंगासामंजस्यात् षोडशविकाराणाञ्च सांख्योक्तानां दर्शनान्तरीयतया अत्र व्याख्यातुमशक्यत्वात् । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्रह्मसूत्र १/१/५) इति सूत्रे बादरायणेन सांख्यशास्त्रस्यावैदिकत्वेन खण्डितत्वात्, भगवतपाद-श्रीमदाद्यशंकराचार्यचरणैरपि एतत् सूत्रभाष्य एवं सांख्यसिद्धान्तानां वेदबहिर्भूतत्वात् शताधिकयुक्तिभिर्विगर्हितत्वात्, इति वदतोव्यघात् दोषदुष्टतया व्याख्यानमेतत् विजयापान-प्रमत्तप्रलापैव ।

शतस्य अर्धं शतार्धं पञ्चाशत । एतत् संख्या: आर्षवाङ्मयग्रन्था: एव अरा: चक्रचालनसमर्थावयवा: यस्मिन् तं **शतार्धारम्** । पञ्चाशत हि मुख्या: ग्रन्था: ते सन्ति — चत्वारो वेदा:, चत्वार उपवेदा:, अष्टादशपुराणानि (भागवतादीनि), अष्टादशस्मृतय: (मन्वादिप्रणीता:)' षडङ्गा निवेदस्य व्याकरणादीनीति संकलनया पंचाशत। इदमेव श्रीतुलसीदास: प्राह मानसे—

साथ लागि मुनि शिष्य बुलाये । सुनि मन मुदित पचाशक आये ।।
सबहिं रामपद प्रेम अपारा । सकल कहहिं मग दीख हमारा।।

(मानस २/१०९/३,४)

यत्तु प्राहु:- विपर्ययभेदा: पञ्च, अशक्तिभेदा: अष्टाविंशति, तुष्टिभेदा: नव, सिद्धिभेदा: अष्टौ, इति संकलनया पञ्चाशत् अन्त:करणवृत्तय: । तत्तु शास्त्रज्ञान-विप्लुतनिजप्रमत्तमानसप्रभवं बालकप्रहेलिकाकल्पनाविलसितमिव । यतोहि अशक्तितुष्टयो कुत्रापि शास्त्रे न दृष्टा: । यदि कदाचित् कल्पनया कथंचित् संघट्टेयतां तथापि इमे दुष्टेष्वेव विपर्ययादि भेदा: घटिष्यन्ते । साधुषु सर्वथा तेषामभाव: । न वा तम आदय: अन्धतामिस्रान्ता: सतां छायामपि स्पृष्टुं प्रभवा: न वा सन्त: अशक्ता: । शक्ति-शक्तिमद्भ्यां श्रीसीतारामाभ्यां प्रतिपदमेव पालितत्वात्, न वा सन्त: क्षुद्रसफलताभि: तुष्टा: परमात्मप्राप्तये सततं यत्नशीलत्वात् । दैन्यातिशयेन निजदोषदर्शनस्वभावाच्च। यथोक्तं माससे गोस्वामिना श्रीरामं प्रति —

गुन तुम्हार समुझहिं निज दोषा । जेहि सबभाँति तुम्हार भरोषा ।।
रायभगत प्रियलागहिं जेही । तेहि उर वसहु सहित वैदेही ।।

(मानस २/१३१/३,४)

अष्टौ सिद्धयोऽपि साधून् लोभयितुं न प्रभवन्ति यथा: वृत्रासुर: श्रीभागवते—

न नाकपृष्टं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जसत्वा विरहय्य कांक्षे ।।

(भागवत ६/११/२६)

अतो दुष्टानां पूर्वोक्ता: दुष्टवृत्तय: संगच्छन्ते । इमा: अरा: नैव शक्या भवितुं न वा दुष्टैरेव केवलै: संसारश्चलति वस्तुतस्तु संत एवैनं संचालयन्ति । तस्मान्मदुक्तमेव न्याय: विंशतिप्रत्यराभि: । दशेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि वाक्पर्यन्तानि, शब्दादय: पंचविषया: पृथिव्यादीनि पंचभूतानि इमा एव विंशतिप्रत्यरा: सहायिका: लब्धव्या: ताभि: युक्तम् । पुनश्च षड्भि: षट्संख्यै:, अष्टकै: अष्टावयवसमुदायै: सहितं संसारचक्रम् । चक्रे हि प्रत्येकमष्टावयवयुक्ता: षट् समुदाया: श्रूयन्ते । अत्रापि ते ऊह्या: तथा च—

रसरक्तमांसमेदोस्थिमज्जाशुक्रौजांसि इति **शारीरमष्टकम्** इति प्रथम समुदाय: । एवं

पृथव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनोबुद्ध्यहंकारा: इति **प्राकृतमष्टकं** द्वितीय: समुदाय: ।

अष्टप्रहराणि दिनस्येति **प्रहराष्टकमिति** तृतीय: समुदाय: ।

यमादय: योगाष्टकमिति चतुर्थसमुदाय:।

अणिमादय: **सिद्ध्यष्टकमिति** पंचम: समुदाय: ।

रव्यादय: सन्ध्यासहिता: **वाराष्टकमिति** षष्ठसमुदाय: एभि: सहितं भवति हि संसारचक्रम् । अत्र संग्रहश्लोका :—

शारीरं प्राकृतञ्चैव प्राहरं यौगिकं तथा ।
सिद्धिवारात्मके चैव शास्त्रेऽस्मिन् ह्यष्टकानि षट् ।।

रसासृङ्मांसमेदोस्थि मज्जाशुक्राण्यथोजसा ।
सहशारीरमाख्यातं ह्यष्टकं भिषगुत्तमै: ।।

भूभ्यप्तेजोनिलव्योममनोहंकारबुद्धय: ।
गीता अष्टौप्रकृतय: प्राकृतं ह्येतदष्टकम् ।।

प्रातरारभ्य नैशान्तं यावद्धोरात्रयेण वै
विभक्तान्यष्टप्रहराणि प्रारंह्येतदष्टकम् ।।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहृतान्वितम् ।
ध्यानधारणया युक्तं सामाध्यं यौगिकाष्टम् ।।
अणिमागरिमालघिमामहिमाप्राप्तिरेव च ।
प्राकाम्यईषित्ववषित्वसिध्याष्टकमुदाहृतम् ।।
रविः सोमः कुजश्चान्द्रो गुरुःशुक्रश्च भानुजः ।
सन्ध्याद्वयमिति प्रोक्तं बुधैर्वाराष्टकं मुहुः ।।
अष्टकैः षट्भिरेतैस्तु संयुक्तं चक्रममैश्वरम्
नक्तं दिवं भ्रमत्येतत् विमुखान् भ्रामयद्धरेः ।।

विश्वानि समस्तानि रूपाणि बोधसामग्रीभूतानि यस्य स विश्वरूप:, स एव एक: केवल:, पाश: बन्धात्मकलोभनामा यस्मिन् तथाभूतं **विश्वरूपैकपाशम्** । सर्वतो व्याप्तो हि लोभपाश: भगवद्पदपद्मविमुखान् पशूनिव पाशयित्वा पशुमारं मारयति । यथोक्तं मानसे सुग्रीवेण—

लोभपाश जेहि गर न बंधाया । सो नर तुम समान रघुराया ।।

(मानस ४/२१/५)

त्रिमार्गभेदम्— त्रय: प्रवृत्ति निवृत्ति प्रपत्तिरूपा: मार्गा एव भेदा यस्मिन् तथाभूतम् ।

अत्र हि त्रयोमार्गा: । बद्धानां, विषयिणां, प्रवृत्तिरूप: सिद्धानां निवृत्तिरूप: , मुमुक्षूणां साधकानां प्रपत्तिरूपश्च । 'मुमुक्षर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेत ६/१८) इति श्रुते: । इम एव एतस्य चक्रस्य गमनभेदा: । द्वे पुण्यपापे निमित्ते, निमित्तकारणे यस्मिन् स **द्विनिमित्त:**, द्विनिमित्त: एव एक: परमात्मतोऽन्य: दुर्निवार्यो वा मोह: चित्तविकारो भ्रमात्मक: यस्मिन् तथाभूतं संसारचक्रं वहन्तं तं तमस: परस्तात् तमालश्यामलं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं भगवन्तं श्रीरामम् ऋषय: अपश्यन् इति पूर्वत: क्रियापदमनुवृत्तम्। इति राघवकृपालब्धशास्त्रवैभवयुक्तया मया प्रतिभयाव्या ख्यात: मन्त्रोऽयं चक्ररूपके । श्री:।।

अथ प्रवाहदृष्ट्या उभयतो गमनमालक्ष्य सृष्टिमिमां नदीमिवानुभवन्त: तद्रूपकेण निरूपयन्ति । अशुभदर्शनेऽपि भागवता: भगवद् रचनायां अलंकारमेव पश्यन्ति, अत आलंकारिकभाषया भाषन्ते भाषमानां नदीमिमाम्—

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदु:खौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीम: ।।५।।

अन्वय: सुगम: तथाहि— पञ्चभ्य: चक्षुश्श्रोत्ररसनाघ्राणत्वग्भ्य: स्रोतस्थानेभ्य:, ज्ञानेन्द्रियेभ्य:, अम्बु ज्ञानप्रवृत्तिप्रवाह: यस्यां सा तां पञ्चश्रोतोम्बुम् । यथा स्रोतोभ्य:

नद्यां जलधारागच्छति— वर्षाभावेऽपि स्रोतस्स्वतीनां सरितां न हानिः तथैवास्या संसारसरितः पञ्चज्ञानेन्द्रियेभ्यः अनुभवरूपजलमजस्रं समुपलब्धं भवति । एवं पञ्चमहाभूतानि पृथ्वीजलतेजोसमीरनभांसि योनयः उद्गमस्थानानि यस्याः सा पञ्चयोनिः । गङ्गादयः सरितस्तु ऐकैकस्मात् स्थानात् गोमुखादेरुद्गच्छन्ति, किन्तु इयं पंचभ्यो महाभूतेभ्य इति चित्रम् । अत एव उग्रा । उद्गमस्थानानाम**नृजुतया** विभिन्नस्वभाववत्वात्तेषां वक्रगतिरपि, अतः पञ्चयोनिः उग्रावक्रा इति पञ्चयोन्युग्रवक्रा तां तथाभूतां पञ्चयोन्युग्रवक्राम् ।

पञ्चप्राणाः प्राणापानव्यानोदानसमानपञ्चप्राणवायवः एव उर्मयः वीचिस्थानीयाः यस्यां तथाभूतां **पञ्चप्राणोर्मि** । एवं पंचानां चक्षुश्श्रोत्ररसनाप्राणत्वचां बुद्धयः दर्शनश्रवणस्वादघ्राणस्पर्शाख्याः पञ्चबुद्धयः तासामादिः उपलब्धिसाधनं मनः एवं पञ्चबुद्व्यादिः । मन एव मूल मादिकारणं यस्याः तथा भूतां पंचबुद्ध्यादिमूलां, मन एव पंचेन्द्रियज्ञानं समुपलम्भयति इदमेव हि संसारसरितो मूलम् । मानसचिंतनपरिणामो हि पुनर्भवः तस्मिन् सत्येव संसारः यदि मनो मनोजमोहनं चित्रकूटविहारिणं मैथिलीमनोहारिणं धनुर्धारिणं श्रीरामाभिधं हरिमेव चिंतयेत् तदा क्व संसारः । भगवदतिरिक्तसम्बन्धपरिकल्पनमेव हि संसारः । एवं पञ्चविषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगंधाः आवर्ताः सरितो भ्रामरीविलासाः यस्यां तथाभूतां पंचावर्ताम् । आवर्तो हि सरिति पतितं जनं तत्रैवावर्तयति तथैवेमे पञ्चविषयाः आवर्ता इव आवर्तयन्तो जीवं संसारयन्ति । यथोक्तं भागवते—

जिह्वैकतोऽच्युतविकर्षति मा वितृप्ता ।
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ।। (भाग० ७/९/४०)

पञ्च - आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकजन्ममृत्युरूपाणि पंचदुःखानि, तेषामोघेण प्रवाहेण वेगः द्रुतता यस्यां तथाभूताम् । पंचपर्वाम् अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेषाः पञ्चक्लेशाः एव पर्वाणि धाराविभागाः यस्याम् । यद्वा तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिश्राः एव पर्वाणि यस्यां सा पञ्चपर्वा तां पंचाशद्भेदां, पंचज्ञानेन्द्रियाणि पंचकर्मेन्द्रियाणि, पंचप्राणाः, पंचविषयाः , महाभूतानीति संकलनया पंचविंशतिः , अमीषां पंचविशतिरेव चेष्टाः अपि पंचविंशतिः इति द्विगुणीकृत्य पंचाशत् एभिरेव भेदैर्युक्तामिति भावः । तादृशीं संसारनदीम् अधीमः अधिगच्छामः देवात्मशक्तितदाश्रयपरमात्म-दर्शनसंलब्धविवेकदृष्ट्या पश्याम इति भावः ।

इयं हि संसारनदी गम्भीरा रागादिनक्रा कुटिलाकुवेगा ।
सीतेशपादाम्बुजनौकयैव तीर्त्वा सुखी स्यादितिमन्त्रतत्वम् ।।श्रीः।।

।। अथ सम्बन्धभाष्यम् ।।

इत्थं संसारमेतं चक्रनदीरूपाकाभ्यां निरूप्य परमकारुणिकतया जगद्वत्सला माता श्रुतिः संसारचक्रतो मुक्त्युपायं सूचयति — भगवद् भजनं विना हि कल्पायुतैरपि संसारमुक्तिर्न सम्भवा । विशुद्धभजनं भगवन्माहात्म्यज्ञानं विना न सम्भवम् । अतो देवर्षिनारदः भगवन्माहात्म्यज्ञानविस्मरणं भक्तिशास्त्रे अपवादं स्वीकरोति । तन्मते परेश्वरमाहात्म्यज्ञानमन्तरेण जारप्रेमवत् क्षणभंगुरं स्यात् भक्तप्रेम । तथा च तत्र सूत्रद्वयम्—

न तत्र माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः। तद्विहीनं जाराणामिव ।।

(ना. भ. सू. १/२२-२३)

तस्मादज्ञाननिवृत्तये परमेश्वरमहिमज्ञानमावश्यकं समर्थयन्ते चास्मत् परमाराध्य चरणसरसीरुहाः श्रीगोस्वामितुलसीदासमहाराजाः श्रीमानसे—

रामकृपा बिनु सुनु खगराई । जानि न जाइ राम प्रभुताई ।।
जाने बिनु न होई परतीती । बिनु परतीति होई नहि प्रीती ।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई । जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।

(मानस ७/९०/६,७,८)

एवं हि तन्माहात्म्यज्ञानं सेवकसेव्यभावज्ञानाधीनम्। तच्च जीवब्रह्मणोः स्वरूपतो भेदबोधावलम्बि। तस्मिन् हि निश्चिते निजसेव्यतया परमात्मनि च विज्ञाते तदनुप्रीतिविषयीकृते परमेश्वरे जीवो गर्भवासजन्मव्याधिजरामरणरूपसंसारदुखौघानतीत्य सीतापतिसामीप्यं समासाद्य विषादविगलनपूर्वकं परमेश्वरप्रसादभाग् भवति । ननु ज्ञानेन शीर्णायाम् अविद्याग्रन्थौ, विगलिते च विपर्ययबोधे, विनाशितयोश्च विपरीतभावनाविषमभावनयोः, व्यपोहिते च विपरीतज्ञाने जीवः ब्रह्मभूतो भवति, तदा कुतस्त्योऽयं सेवक-सेव्यभावबोधव्यवहारः? इति चेन्मैवं वादीः, त्वं गाम्भीर्येण श्रुत्यर्थं नालोचितवानसि । **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति** इत्यत्र ब्रह्म एव भवति इति न विग्रहः। तर्हि वस्तावत् ? **ब्रह्मणः आ इव भवति** आ शब्द ईषदर्थः इवार्थः सादृश्यम्, एवं हि ब्रह्मविद् ब्रह्मणः परमेश्वरस्य 'आ' ईषत् इव सादृश्यमान् भवति । इयमेव व्याख्या सारूप्यमुक्तिमवरुन्धे। **सारूप्यं हि** समानरूपता , तथा हि समानं रूपं यस्य स सरूपः, सरूपस्य भावः सारूप्यम् ।

अथास्मिन् व्याख्याने किं मनमितिचेत् गीतासु भगवदीयवाक्यमेवेति ब्रूमहे—

तथा च वक्ति भगवान्—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। (गीता १४/२)

साधर्म्यं नाम समानधर्मता न तु तत्वम् । अथ किमत्र श्रौतमपि किमपि विनिगमकम्? अस्ति प्रकामम् । विलोक्यतां तैत्तरीयोपनिषन्मन्त्रः

यो वेदनिहतं गुहाया परमे व्योमन् सोऽश्नुते ।
सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।। (तै. ब्रह्मानन्दवल्ली १)

अत्र ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् अश्नुते । इति प्रयोग एव सहशब्दयुक्तः जीवब्रह्मणोर्विस्पष्टविभागं विविनक्ति । भोगे ब्रह्मणः अप्राधान्यम् जीवस्य प्राधान्यं व्यवस्थापयति तस्मात् सेवकसेव्यभावमन्तरेण जीवस्य बन्धमोक्षो न सम्भव इति निष्कृष्टम् । सिद्धान्तयांबभूवे च हुलसीहर्षवर्धनतुलसीदासेन—

सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिय उगारि ।
भजिय रामपदपंकज अस सिद्धान्त विचारि ।। (मानस ७/११९ क)

तदिमं सिद्धान्तमेव कारुणिकश्रुतिप्रतिः श्रावयति—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।।६।।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे वृहन्ते अस्मिन् ब्रह्मचक्रे हंसः भ्राम्यते ततः पृथक् प्रेरितारं मत्वा तेन जुष्टः अमृतत्वम् एति।

सर्वेषां जीवानामाजीवः प्राणधारणं यस्मिन् स **सर्वाजीवः** । यद्वा-सर्वान् आजीवयति इति **सर्वाजीवः** यद्वा- सर्वः सर्वरूपो भगवान् तेनैव आजीव्यते इति **सर्वाजीवः ।** यद्वा सर्वा सर्वस्वरूपा अघटितघटनापटीयसी श्रीसीताभगवद्योगमाया तया जीव्यते इति **सर्वाजीवः** तस्मिन् सर्वाजीवे । सर्वेषां प्राणीनां संस्था सम्यक्स्थितिः यस्मिन् स सर्वसंस्थः तस्मिन् सर्वसंस्थे ।

बृहति वर्धते इति बृहन्तः । बाहुलकात् कर्त्तरि 'झच्' प्रत्ययः । ''झोऽन्तः'' इत्यनेन अन्तादेशः तस्मिन् बृहन्ते । अतिशयेन बृहति, ब्रह्मणः परमेश्वरस्य चक्रे संसाररूपे पुनः पुनः अतिशयेन क्रियते इति चक्रम् । अथवा पुनः पुनः अतिशयेन

भगवद्विमुखजीवान् कृन्तति (छिनत्ति) इति चक्रम् । ब्रह्मण: चक्रं ब्रह्मचक्रम्, तस्मिन् ब्रह्मचक्रे । अस्मिन् प्रत्यक्षतो वर्तमाने इति भाव: । हंस: हंसपक्षीव उड्डयनसामर्थ्यवान् । यद्वा हन्ति भगवद्भजनविमुखतया परित्यक्तरामकथ: कामकथासेवनेनात्मानं नाशयति इति हंस: । स एवं निरन्तरम् भ्राम्यते भ्रमणविषय: कार्यते । ननु भ्रमणत: कदा मुक्तो भविष्यति ? इति प्रश्ने आह— तत: संसारात् आत्मानं स्वं पृथक् अथवा शरीरेन्द्रियमनोबुद्धित: पृथक् भगवतो नित्यदासभूतं च परमात्मानं प्रेरितारं निजप्रेरकं स्वामिनं मत्वा अवबुद्ध्य मननविषयं विधाय वा तेन परमात्मनैव जुष्ट: प्रीतिविषयीकृत: अथवा जुष्ट: भगवत: प्रपन्न: सन् पुनस्तेनैव सेवित: । भगवान् हि प्रपन्नजनान् सेवते—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (गीता ४/१०)

इत्याह तत्र भगवान् । एवमेवाह सनत्कुमार:— **प्रपन्नजन सेविने** (रामस्तवराग - ५१)

जुषिर् हि प्रीतिसेवनार्थ: । इत्थं भगवता सेव्यमान: प्रीतिपात्रीकृत: कृतार्थ: अमृतत्वं, मृतधर्मभिन्नतां भगवतोनित्यकैंकर्ययोग्यतामेति प्राप्नोति इत्यर्थ:। यद् वा इह तृतीयचतुर्थचरणयो: विशिष्टाद्वैतप्रतिपादनम् । तत्र त्रीणि तत्वानि, अचित् , चित्, - तत्परं च , अचित् देहादिवर्ग: , चित् आत्मा, तत्पर: परमात्मा प्रेरिता । तेन जुष्ट: विशेषणीकृत: अमृतत्वमेति प्राप्नोति ।।श्री:।।

साम्प्रतं ब्रह्म तदन्तरङ्गयोगमाया तदाश्रितजीवानां विज्ञानमहिमानं वर्णयति , उद्गीतमित्यादिना—

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ता: ।।७।।

एतत् परमं ब्रह्म उद्गीतं, तस्मिन् त्रयं अक्षरं च सुप्रतिष्ठा तु ब्रह्मविद: अत्र अन्तरं विदित्वा तत्परा: ब्रह्मणि लीना: योनिमुक्ता: (भवन्ति) इत्यध्याहार्यम् । अयमन्वय: । एतद् ज्ञानिनाम् अपरोक्षानुभूतिविषयभूतं भक्तानाञ्च प्रत्यक्षतो नयनविषयतां गतं परमं सर्वोत्कृष्टम् । अथवा परा सकलकारणभूता परमान्तरङ्गा योगमाया मा आह्लादिनीशक्ति: सीता यस्य तादृशं ब्रह्म निरतिशयवर्धनशीलं परमेश्वरतत्वमुद्गीतं श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासेषु उत्कृष्टतया गीतं तस्मिन् परब्रह्मणि त्रयं लोकत्रयं, वेदत्रयं च समुच्चयार्थोऽयं चकार: । अक्षरं जीवतत्वं सुप्रतिष्ठा शोभनतया स्थितां यद्वा तस्मिन् ब्रह्मणि त्रयं बद्धमुमुक्षुमुक्त-रूपं विषयिसाधकसिद्धरूपं वा अक्षरसंज्ञं जीवतत्वं सुप्रतिष्ठितम् । जीवत्रैविध्यं गोस्वामितुलसीदासा: आमनन्ति मानसे यथा—

विषयीसाधक सिद्ध सयाने । त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ।।

(मानस २/२७८/३)

अत्र जीवब्रह्मणोः ब्रह्मविदः ब्रह्मज्ञानिनः अन्तरं स्वरूपतो भेदं जीवो दासः परब्रह्मपरमात्मा स्वामी इत्याकारकं विदित्वा सदगुरुशास्त्रपरमेश्वरानुग्रहेण ज्ञात्वा, अनन्तरं तस्मिन् ब्रह्मणि पराः परायणाः परत्वेन कृतनिश्चयाः इति तत्पराः । अथवा तदेव परब्रह्म परतत्वरूपं परायणत्वेन निश्चितं येषां ते तत्पराः परमेश्वरपरायणा इति यावत् ब्रह्मणि परमात्मनि तच्चरणकमलकोशावच्छेदेन लीनाः मनसा समुपश्लिष्टाः योनिः मातृगर्भः तस्याः मुक्ताः । यद्वा योनिः अव्याकृतप्रकृतिः (मम योनिर्महद्ब्रह्म । गीता १४/३) इति स्मृतेः । ततो मुक्ताः प्रकृतिकार्यसंसारबन्धनतो मुक्ताः भवन्ति इति भावः। जीव ब्रह्मणोर्भेदमध्यवसीय तद्ब्रह्म निजपरमाराध्यत्वेन निश्चित्य समुपास्य चाविरलभक्त्या ब्रह्मविदः संसारबन्धनान्मुच्यन्ते एष एव श्रौतनिर्णयः । पुनरिमं सिद्धान्तं विशिष्टाद्वैताख्यं परमात्मभक्तिप्रवणतया समभ्यसति संयुक्तमित्यादिना—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।८।।

क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं संयुक्तमेतत् विश्वमीशः भरते च अनीशः आत्मा भोक्तृभावात् बध्यते देवं ज्ञात्वा सर्वपाशैः मुच्यते । अथ ब्रह्म जीवयोर्विशेषं विशिनष्टिविश्वमेतत् जडचेतनसंयुक्तरूपं चिदचिदात्मकं तथा च क्षरं शरीरावच्छिन्नं जीवतत्वम् अक्षरं निजविज्ञानतः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिर्व्यपोह्य विशुद्धचैतन्यस्वरूपे भगवन्नित्यकैंकर्यरूप-निजात्मभावे सह भक्त्या व्यवस्थितम् अतएवास्याक्षरत्वं "**न मे भक्तः प्रणश्यति**" (गीता ९/३१) इति स्मृतेः । क्षरो हि देहावच्छिन्नजीवः दण्डे नष्टे दण्डिन इव अवच्छेदके नष्टे अवच्छिन्ननाशस्य न्याय्यत्वात् । एवं व्यक्ताव्यक्तं सृष्टौ व्यक्तं स्थूलतया दृष्टिगोचरं प्रलये चाव्यक्तं सूक्ष्मतया हृषीकागोचरं संयुक्तम् इतरेतराध्यस्तं परस्परमिलितं वा जडचेतनात्मकम् एतद् विश्वं समस्तं जीवजातं जीवमयं जगद्वा ईशः ईष्टे चराचरं शास्तीत्यीशः कर्तुमकर्तुंअन्यथा कर्तुं समर्थः परमेश्वरः । भरते सर्वसामर्थ्येन धारयति पुष्णाति, च किन्त्वर्थोऽयं चकारः निपातानामनेकार्थत्वात्, परन्तु परमात्मतो विलक्षणः न ईशः अनीशः असमर्थः, यद्वा न यस्तदभिन्नार्थकतया अनीशः ईशभिन्नः अथवा अज्ञानमिव नञो विरुद्धप्रसिद्धेः, अनीशः ईशविरुद्धः विरोधश्चात्र श्रुतिप्रतिकूलाचरणत्वेन, यद्वा नास्ति आश्रयतया ईशः यस्य स अनीशः य खलु भगवन्तं न शरणं गतः तथाभूतः । आत्मा अतति सततं गच्छति गर्भजन्मजराव्याधिमरणरूपदुःखालयभवाटवीं अटति तथाभूतः परमेश्वर पराङ्मुखो जीवः, बध्यते बद्धो भवति । किन्त्वीशपरायणः

देवं परमप्रकाशस्वरूपं परमात्मानं ज्ञात्वा निजनाथरूपेण परिचित्य, सर्वपाशैः सर्वे च ते कामक्रोधलोभमोहमत्सर्यादयः पाशा इव इति सर्वपाशाः तैः कर्तृभूतैः मुच्यते मुक्तः क्रियते, भगवत्परायणं तद्भजनमहिमतो भीताः सर्वे विकारपाशाः स्वयमेव मुञ्चन्ति इति हार्दम् । निष्कर्षोऽयं यदीशपरमात्मा जडचेतनात्मकं विश्वमेतत् बिभर्ति निजैश्वर्येण परन्तु अनीशोऽयं जीवात्मा परमात्मपदपद्मपरागरागरसपराङ्मुखः परमेश्वरेण ध्रियमाण विश्व एव निबध्यते वैलक्षण्यमित्यनयोः । कथं बध्यते ? इत्यत आह— **भोक्तृभावात्** भोक्तुः भावः भोक्तृभावः तस्मात् अत्र हेतौ पञ्चमी यतोऽस्मिन् भोक्तृभावो विश्वं प्रति अतो बध्यते परमात्मसृष्टं जगत् सेव्यं न तु भोज्यम् । यदि कोऽपि स्वं भोक्तारं मत्वा भुङ्क्ते विषयरसं तदासौ बध्यते । यदि निजनाथप्रसादं मत्वा दासभावेन स्वीकरोति तदा सर्वभोगानपि भगवत्प्रसादबुद्ध्याताननासक्तमनाः सेवमानः सीतापतिसेवकशिखामणिः सर्वपाशैः प्रमुच्यते श्रुतेराकूतमेतत् ।।श्रीः।।

पुनरपि जीवब्रह्मभेदपुरःसरं भगवद्प्राप्तिफलकमुक्त्युपायं निर्वक्ति , "ज्ञाज्ञौ" इत्यादिना । अत्र श्लोके प्रकृतिपुरुषपरमेश्वराणां त्रित्वं स्पष्टम् । यदद्वैतवादिनो मायासंन्निधावेव परब्रह्मणि जीवेश्वरयोः प्रभेदं काल्पनिकं साधयन्तः परमार्थतो ब्रह्मैवैकमिति प्रलपन्ति तदसंगतम् । एकस्मिन् ब्रह्मणि मायाकल्पनेन ब्रह्ममाययोर्द्वित्वात् त्रायमाणानामद्वैतं द्वैतं समापतितं न वा ? इति चेन् मिथ्या माया तथापि मिथ्यासत्ययोः समवधानेन द्वैतम्। मिथ्यायाः अकिञ्चित्करत्वमिति चेत् तदा मोघारम्भा तदीय कल्पना, अहो ! विशुद्धब्रह्मणि जीवेश्वरविभागकल्पनं समुपस्थापयन्ति मायेयमकिञ्चित्करी, तदा किञ्चित्कर्याः का कथा ? यदपि बृहदारण्यकीयं मन्त्रमुदाहरन्ति ,

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुषय आविशत् ।।

(बृ. उ. २/५/१८) इति

किमनेन द्विपदचतुष्पदयोः पुरस्कारं विधाय तत्पुरः पक्षीभूयः पुरुषः प्राविशत् मन्त्रार्द्धेनानेन परमात्मनोऽन्तर्यामिता साधिता सास्माकमप्यभीष्टा, परन्तु न केवलमत्र शरीरे परमात्मैव पक्षी प्रत्युत्त्प्रत्यगात्मापि, **द्वासुपर्णा स युजा सखाया,** (मुण्डक॰ ३/१/१) तस्मात् श्रुत्यक्षर एव अर्थविचारसाधीयान् अलं शब्दबलात्कारेण । वस्तुतस्तु परमात्मा तदन्तरङ्गाह्लादिनीशक्तिरिति पृथक्तया वर्तमानौ, जीवश्च तदुपासकतया भिन्नतत्वं इत्येव श्रुत्यरक्षरार्थः । नहि मिथ्याभूतमाया त्रिकालरूपं ब्रह्म विकर्तुं क्षमा न वा विवर्तयितुं प्रभवैषा नितान्तनिभृतं परमेश्वरं, नहि कापि सती पत्नी निजपतिं स्वरूपतस्सम्बन्धतो वा पतितं चिकीर्षति । ब्रह्मण्यज्ञानकल्पनैव खलु तत्पातित्यं तद्

धर्महानिश्च । नित्यज्ञानवत्वं हि किल ब्रह्मणो मुख्यो धर्मः "**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**" (तै. उ. २-१)

ज्ञानशब्दो हि ब्रह्मसमानाधिकरणो नित्ययोगे मत्वर्थीयात्प्रत्ययान्तः । यदि मायया ब्रह्मण्यज्ञानं तदप्यसमञ्जसम् । कथं हि धर्मपत्नी पतिं धर्माच्च्यावयेत् ? तस्मादलमधिकमसमीचीनचर्चया प्रकृतमनुसराम ।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ।।९।।

अन्वयः —द्वौ ज्ञाज्ञौ अजौ ईशनीशौ भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता अजा एका हि च आत्मा **विश्वरूपः** अनन्तः यदा एतत् त्रयम् ब्रह्मम् विन्दते (तदा) हि अकर्ता (भवति) ।

इदानीं सिद्धान्तं दृढीकर्तुं जीवब्रह्मणोरपरं वैलक्षण्यं, जीवनिर्वहणस्य कृते सृष्टं प्रपञ्चं प्राकृतमेवकार्यमिति विस्पष्टं विवृणोति । द्वौ, अनादिकालतो द्वित्वसंख्या वाच्यौ न त्वाधुनिकाविति भावः । द्वित्वसंख्या वाच्यावपि सलक्षणौ विलक्षणौ वा इत्यत आह— उभयत्वावच्छिन्नौ किञ्चिदंशे सलक्षणौ भूयोंऽशे च विलक्षणौ । पूर्वं वैलक्षण्यमाह— ज्ञाज्ञौ, जानाति इति 'ज्ञः' परमात्मा नित्यज्ञानवान् "प्रज्ञानं ब्रह्म" इति श्रुतेः । न जानाति इत्यज्ञः । अल्पं जानाति वा इत्यज्ञः । अथार्थं जानाति वा इत्यज्ञः जीवात्मा । ज्ञश्च अज्ञश्च इति ज्ञाज्ञौ । सर्वज्ञाल्पज्ञौ परमात्मप्रत्यगात्मानौ । ईशनीशौ ईष्टे जगत्कर्तुमुपकर्तुं प्रतिकर्तुमिति ईशः सर्वसामर्थ्यवान् परमेश्वरः । न ईशः अनीशः ईशभिन्नः असमर्थः जीवात्मा अनीशः । ईशश्च अनीशश्च इति ईशनीशौ बाहुलकतया आकृतिगणेन "सकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" इति वार्तिकबलात् ईशघटकस्याकारस्य अनीशघटकाकाररूपता । ईश्वरो हि समर्थः, जीवात्मा चासमर्थः, इति वैलक्षण्यद्वयम् । सलक्षणत्वमाह— अजौ, द्वावपि परमात्मजीवात्मानौ कुतश्चिन्न जातौ मातापितृसंयोगात् । यदि चेत् "शृण्णन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" इति श्रुत्यनुरोधेन परमात्मपुत्रत्वं जीवे तदा द्वयोर्व्युत्पत्तिवैलक्षण्यम् । तथा च न जायत इत्यजः परमात्मा, एवं अकारः परमात्मा तस्मात् जायते इति अजः जीवात्मा । अजश्च अजश्च इत्यजौ । नन्वत्र जीवस्य परमात्मजन्यत्वे व्याख्याते "न जायते म्रियते वा विपश्चित् " (कठ० १/२/२०) "न जायते म्रियते वा कदाचित्" (गीता २/२०) इति श्रुतिस्मृतिविरोधापत्तिरिति चेन्न । न जायते इत्यस्य जननीजनकरजःशुक्रसंयोगपरिणामतो न जायते इति व्याख्यानात् । अनेन शरीरं जायते वस्तुतस्तु जीवात्मनः परमात्मसकाशाल् जायमानत्वं प्रलये परमेश्वरे विश्रान्तस्य सृष्टौ तत उत्थानमात्रं, न च द्वयोरजयोरूत्पत्त्यर्थ-

वैलक्षण्ये "स्वरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ" इति पाणिनीय सूत्रेण स्वरूपता-भावादनयोरेकशेषो न स्यादितिवाच्यं, सूत्रेऽस्मिन् आनुपूर्विकृतसारूप्यस्वीकारेणादोषात्, अतएव रामश्च रामश्च रामश्च इति रामाः इत्यत्रैकशेषे त्रयाणामपि रामाणां भार्गवत्व-राघवत्व- माघवत्त्वनिबन्धनार्थवैभिन्नेऽपि अनेनैवेकशेषः इति शब्दशास्त्रे स्पष्टम् आनुपूर्वि वैरूप्ये समानार्थकत्वमपेक्षते, यथा घटश्च कलशश्चेत्येकशेषे घटौ कलशौ वा इति आनुपूर्विवैलक्ष्येऽपि द्वयोः कम्बुग्रीवादिमत्वरूपे समानेऽर्थे एकशेषः । इदम् "विरूपाणामपि समानार्थानाम्" इति वार्तिके कात्यायनेन ध्वनितम् । आनुपूर्विसारूप्ये समानार्थकता नहि अर्थसारूप्ये च नानुपूर्विसारूप्यमिति शाब्दिकविवेकः । एवं सतोरुभयोः भोग्य-सामग्रीं का व्यवस्थापयति इत्यत आह— भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता भोक्तारौ, जीवात्मपरमात्मानौ प्रामुख्येन जीवात्मा तेन दीयमानानां पत्रपुष्पफलजलादीनामाप्राधान्येन परमात्मापि भोक्ता, अथ "अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति" इति श्रुतिविरोधः स्यादिति चेन्न, पूर्वमेव दत्तोत्तरत्वात् । वस्तुतः परमात्मा जगद् विषयान् न भुङ्क्ते, स तु भुञ्जानस्य जीवस्य साक्षी । अतः "अनश्नन् अन्यः" इति श्रुतिः सङ्गता, किन्तु "तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः" (गीता ९/२६) इति स्मृतेः भगवानपि अश्नाति इत्यवगम्यते । ननु व्याख्यानेऽस्मिन् शृतिस्मृत्योः परस्परविरोधः ? इति चेन्न, श्रुतौ 'अनश्नन्' इति प्राधान्येन भगवतोऽशननिषेधः, श्रीगीतायामश्नामीति भक्तप्रेमवशंवदस्य तत्परिपालनाय प्राध्यान्येनाशनविधिः यदा भक्त्योपहरति शबरीविदुरादिरिव तदा तु अश्नामि । अभक्त्योपहतं दुर्योधनादिनेव नाश्नामि इति हार्दम् । तस्मात् "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति श्रुतौ "सह युक्तेऽप्रधाने" इति सूत्रेण विहिता ब्रह्मणा इत्यत्र अप्रधानार्थतृतीया संगच्छते । एवं भोक्त्रो ब्रह्मजीवयोः भोग्याः येऽर्थाः भूम्यादयः पञ्चभूतात्मकाः तैर्युक्ता इति भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता । आशयोऽयं– यथा कापि कुशला गृहिणी पतिपुत्रयोः कृते भोजनसामग्रीं व्यवस्थापयति तथैवेयं परमेश्वरयोगमाया प्रकृतिसंज्ञा जीवस्य जीविकार्थं परमात्मक्रीडार्थं च स्वमायाबलेनैव जीवोपभोगसाधनं शरीरं तद्भोग्यानि पञ्चभूतानि तदात्मकानि च अन्नानि निर्माय तैरुपतिष्ठते, एभिर्जीवात्मानं पोषयति पुत्रं पतिं परमात्मानं परितोषयति इति सिद्धान्तः । अतएव मानसेऽपि **श्रुति सेतुपालक राम तुम्ह जगदीश मायाजानकी, जो सृजति जग पालति हरति रूख पाइ कृपानिधान की** (मानस२/१२६)

अत एव

मयाध्यक्षणे प्रकृतिः सूयते सचराचरम् (गीता ९/१०)

सा किं रूपा ? इत्यत आह— विशेषण द्वयेन एका अद्वितीया रचनायां न सहाय्यमपेक्षते इति भावः यद्वा "अकारो वासुदेवः" तस्मिन् एकं सुखं यस्या सा एका

भगवत्सुखसुखा इति भावः । अजा न जाता परमात्मा तु कदाचित् अवतारकाले कौसल्यायाः गर्भमागच्छति "**प्रजापतिश्चरति गर्भे**" (शुक्लायजु॰ ३१/१९) इति श्रुतेः।

कौसल्या जनयद् रामम् (वा. रा. वा. १८/१२) इति स्मृतेः **जा दिन ते हरि गर्भहिं आये** इति मानसोक्तेश्च। किन्तु श्रीसीताभिधानेयं भगवन्माया तु अवतारलीलायामपि नैव कस्याचित् गर्भमायाति प्रत्युत पृथिवीमेव जननीत्वेनाङ्गिकरोति । अतस्तस्य अजात्वं सार्वकालिकं लीलायामपि न विरुद्धमिति भावः, इति चेन्माधुर्यातिशयेन जनकस्तस्याः जन्म मन्यते यथा वाल्मीकीयरामायणे **देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै** (वा. रा. सुन्दर, १३/५९) तदा तु जनकस्य विदेहराजस्य आत्मा पत्नीत्वेन सम्मता पृथिवी तस्यां जायते सा जनकात्मजा इति समाधानम् । तर्हि कथं जनकस्य कुले जाता ? इति तत्र कुले अजाता इत्यकारप्रश्लेशः । यदि चेत् माधुर्याय जन्मोपचार आवश्यकः तदा तु **अकारो रामचन्द्रः** तस्मै जाता सा अजा इति परिहारः । इत्थं भगवदभिन्ना योगमायापि भगवत्स्वरूपैव द्वावप्येकौ, किन्तु जीवात्मा अनेकः अत आह— चकारोऽत्र किन्त्वर्थकः , आत्मा सततगमनशीलः विश्वरूपः विश्वानि समस्तानि चराचराणि रूपाणि अवयवसन्निवेशाः शरीराणि वा यस्य तथाभूतः, नास्ति अन्तः रूपाणां वैविध्यात् समाप्तिः यस्य तथाभूतः, यदा एतत्त्रयं ब्रह्म सान्निध्येन, प्रकृतिमात्मानं च ब्रह्मसेवकतया, तत्समानरूपं परमात्मानं सेव्यत्वेन, स्वं च नित्यकिंकरत्वेन विन्दते स्वस्वरूपपरस्वपरूपज्ञानेन उपलब्धविषयीकरोति तदा अकर्ता कतृत्वाभिमानशून्यः सन् तत्परिणामशुभाशुभफलैर्विमुच्यते इति तात्पर्यम् ।।श्रीः।।

इदानीं क्षराक्षराभ्यां परस्य परमात्मनः स्वरूपं निर्वक्ति—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।।१०।।

प्रधानं क्षरः अमृताक्षरः हरः क्षरात्मानौ एकः देव ईशते तस्य अभिध्यानात् योजनात् च तत्वभावात् भूयः अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः भवतीति शेषः । गीतायां ययोर्द्वयोः पुरुषयोश्चर्चा ताविह क्षराक्षरशब्दाभ्यां व्यवहृतौ, यश्च तत्र पुरुषोत्तमशब्देन व्यवहृतः स एवात्र हरः कीर्तितः । वस्तुतः जडवर्गः क्षरः अचित् , चेतनश्च जीवात्माक्षरः तयोरधिष्ठातापरमाक्षरो हरः, क्षर एव भोग्यम् अक्षरोभोक्ता परमात्माद्वयोः साक्षी । क्षरः क्षरणशीलत्वात् नैव पृथक् तत्वरूपेण स्वीकर्तुं शक्यः। लोके यथा महात्मायाति इति कथने यद्यपि महात्मना सह तच्छिष्य अपि यान्ति, वाहनानि च वहन्ति सर्वान् यात्रिणः किन्तु महात्मन्येवान्तर्भावात् न तेषाम् पृथक् चर्चा, जीवात्मनि सत्येव तच्छरीरस्य तद्भोग्यानाम् चान्येषामुपकरणानां समुपयोगः । असति तस्मिन् सुन्दरस्यापि शरीरस्य सकलमहत्वपूर्णस्य अग्निशात्करणं दृष्टमेव । भोक्तरि सति भोग्यानामुपयोगिता ।

तस्मात् त्रीण्येव जीवात्मपरमात्मप्रकृतिनामानि तत्वानि अस्मन्नये जगतो जीवभोग्यत्वात् तत्रैव गतार्थता, असारस्य संसारस्य किं तत्वरूपेण पृथक् कल्पनया प्रत्युत् विशेषणत्वेन। अतः प्रमाता जीवः प्रमेयं श्रीरामाख्यं ब्रह्म । प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानशब्दाख्यानि इत्येव सिद्धान्तो वरीवर्ति मम विशिष्टाद्वैतवादस्य। ननु प्रमेयरूपे ब्रह्मणि ज्ञाते अलम् जीवप्रकृतिज्ञानेन, ब्रह्मसूत्रमपि इत्थम् **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा** इति चेच्छ्रूयताम् जिज्ञासाजिज्ञासुसापेक्षा भवति। जिज्ञास्यं ब्रह्म, तर्हि यद्येकमेव तत्वं ब्रह्म तदा स्वमेव कथं जिज्ञासेत् ? कथं वा नित्यज्ञानसम्पन्नस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः जिज्ञासा ? यदि चेत् अभिनयमात्रमिदं सर्वं तदा तु मोघारम्भं शास्त्रं, नहि असत्यं बोधयितुं अपौरुषेया श्रुतिः प्रवर्तते। तस्मात् जिज्ञास्यं ब्रह्म जिज्ञासुश्च जीवः इति फलितार्थः। **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा** इत्यत्र **सनन्तात् कर्मणि अप्रत्ययः** कर्ता च अनुक्तः अतस्तत्र तृतीया, कर्तारं विना जिज्ञासा नोपपद्यते, अज्ञानिनि हि ज्ञातुमिच्छा भवति , स च जीव एव, एकस्मिन् तत्वे स्वीकृते अखण्डज्ञानवति ब्रह्मण्यज्ञानापत्तिः। अतो ज्ञाता ज्ञेयं ज्ञानमिति विभागत्रयं, तत्र ज्ञेयं ब्रह्म ज्ञाता जीवः सेवकसेव्यभावरूपो ब्रह्म विषयकबोधो ज्ञानं, ज्ञेये निरूपिते तज्ज्ञातुर्निरूपणमावश्यकम्। अतोऽनुसंगिकतया जीवोऽपि तत्वतया स्वीकर्तव्यः इति दिक् ।

प्रधानं प्रकृतिः भूम्यादिर्भिन्ना अष्टधा क्षरं क्षणभंगुरम् अमृताक्षरममृतं स्वरूपेण मृतभिन्नं तदेवाक्षरविनाशि जीवतत्वं, हरः द्वावपि हरति प्रलये स्वशरीरं प्रापयति इति हरः, यद्वा प्रधानमिति अमृताक्षरमित्यस्य विशेषणम्। एवं सति क्षरं भोग्यतया न प्रधानं तदपेक्षया अमृताक्षरं जीव तत्वं प्रधानं , किन्तु तावपि क्षरात्मानौ भोग्यभोक्तारौ जडचेतनौ भिन्नप्रकृतिप्रत्यगात्मानौ क्षरमक्षरमतीतः एकः केवलः अक्षरापेक्षया प्रधानः देवः देवदेवो भगवान्परमप्रकाशकः ईशते ईष्टे नियच्छतीति भावः । ईशते इत्यत्र 'गणकार्यानित्यत्वात् बाहुलकाच्च न शपोलुक्' । एवमक्षरात्मानावीशानस्य तस्य परमात्मनः अभिध्यानात् आभीक्ष्ण्येन तच्छ्रीविग्रहचिन्तनात् योजनात् तस्मिन् मनसः, सन्निधापनात् च तथा, तत्वभावात् तत्वं जीवस्व रूपं दास्यं तद्भावात् इह स्पष्टं विशिष्टाद्वैतवादः प्रतिपादितः। क्षरमचित् अमृताक्षरं चित् जीवः, हरः द्वाभ्यां विशिष्टः परमेश्वरः। एवं क्षरात्मानौ प्रकृतिपुरुषौ विशेषणीभूतौ, ईशते विशिष्टः सन् शास्ति। तस्य परमात्मनः चिन्तनात् तस्मिन् मनः सन्निधानाच्च अन्ते मायायाः निवृत्तिः, इदमेव विशिष्टाद्वैतदर्शनम्।। इति भावः ।।

भूयःपुनः अन्ते भगवद्भजनप्रतिबन्धकदुरितावसाने विश्वमाया निवृत्तिः, विश्वा समस्ता या माया अज्ञानं **मायाज्ञाने छले तथा** तस्याः अज्ञानपर्यायाः निवृत्तिः भगवद्भजनेनैव माया निरासो भवति इति सूचितम्।।श्रीः।।

ब्रह्मज्ञानफलमाह ज्ञात्वेति—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः।।११।।

देवं ज्ञात्वा सर्वपाशापहानि: (भवति) क्लेशै: क्षीणै: जनस्य जन्ममृत्यु: प्रहाणि: (भवति) तस्य अभिध्यानात् देहभेदे सति केवल: आप्तकाम: विश्वैश्वर्यं तृतीयं (प्राप्नोति) देवं कोटि-कोटिब्रह्माण्डप्रकाशकं सुरासुरै:स्तूयमानं परमात्मानं ज्ञात्वा परमाराध्यत्वेन समवगम्य साधकस्य, सर्वपाशापहानि: सर्वेषां पाशानां निखिलभवबन्धनानाम् अपहानि: अपकृष्टतया विनाशो जायते । भगवति विज्ञाते तस्मिंश्च निजसेव्ये विनिश्चिते सकलममतास्पदे च सम्पन्ने स्वयमेव जागतिकममतापाशा: पश्यति भगवति प्रणष्टा: भवन्ति इति भाव: । क्लेशै: अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशरूपै: क्षीणै: विनष्टै: हेतुभूतै: अत्र हेतौ तृतीया, तत्कार्यरूपजन्ममृत्यो: प्रहाणि: जरामरणोपमर्दनं भवति । एवं तस्य परमात्मन: अभिध्यानात् अभीक्ष्णश: स्मरणात् देहभेदे प्रारब्धजनितशरीरनाशे आप्तकाम: लब्धसकलेप्सित: केवल: सकलममतानिरासेन ममतास्पदानाम् अभावात् एकाकी भगवदाश्रय: सन्, विश्वैश्वर्यं विश्वानि सर्वाणि ऐश्वर्याणि ज्ञानशक्तिप्रभृतीनि सन्ति यस्मिन् स विश्वैश्वर्य: तं विश्वैश्वर्यं तृतीयं, क्षरामृताक्षरहराणाम् चिदचित्तद् विशिष्टानां मध्ये तृतीयं क्षराक्षरमतीतं परं ब्रह्म गच्छति । तत्पर्यमेतत् गीतायां क्षरवाच्यनि सर्वाणि भूतानि, अक्षर: कूटस्थो जीवात्मा आभ्यां विलक्षण: अत्रत्यस्तृतीय: परमात्मा । तथोक्तं

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च,
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।
यस्माक्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः
अतोऽस्मिल्लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

(गी. १५/१६/१७,१८)

यत्तु तृतीयमित्यस्य देवयानपितृयानविलक्षणं विराटस्वरूपमिति व्याकुर्वते तदनुचितम्, अत्रत्य प्रकरणविरोधात् । अत्रत्ये प्रकरणे हि **क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः** (श्वे. श्व. १/१०) इति मन्त्रे तृतीयत्वेन भगवानेव वर्णित:, तस्मात् तृतीयं देहभेदे अतोऽत्रापि स एवार्थो नुसंजनीय: ।।श्री:।।

इदानीं ज्ञेयतत्वं निर्धारयति एतदिति—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।।१२।।

एतत् एव आत्मसंस्थं नित्यं ज्ञेयं हि अतः परम् किञ्चित् न वेदितव्यं भोक्ताभोग्यं च प्रेरितारं मत्वा सर्वं (ज्ञातं) प्रोक्तम् एतत् त्रिविधं ब्रह्म ।

एतत् पूर्वमन्त्रेषु वर्णितं क्षराक्षरातीतं क्षरात्मशासकमेव, अत्र ब्रह्मातिरिक्तयोगमेवकारो व्यवच्छिनत्ति। आत्मनि शरीर एवं हृत्पुण्डरीके सन् तिष्ठति इति आत्मसंस्थं तादृशं नित्यं सततं ब्रह्मविशेषणत्वे त्रिकालमबाधितसत्ताकं ज्ञेयं ज्ञातव्यं विशिष्टाद्वैततत्वमत्र विध्यर्थे यत् प्रत्ययः । यद्धृदयदेशे अन्तर्यामिरूपेण विराजते एतदेव ज्ञेयं जीवेनेति शेषः । कथमेतदेव ज्ञेयम् ? इति जिज्ञासां समाधत्ते— हि यतो हि अतः एतस्मात् ब्रह्मणः किञ्चित् किमपि वस्तु परं न उत्कृष्टं नास्ति, तस्मात् अस्मात् परमतिरिक्तं श्रेष्ठतया किञ्चित् न वेदितव्यं न ज्ञातुमर्हम् । ननु न भवतु नाम ब्रह्मणः परतरं किञ्चित् परञ्च अस्मान्निकृष्टं तु किमपि वर्तते ? इत्यत आह— भोक्ता इति जीवः पूर्वमहं भोक्ता चित् इति स्वं जानीयात् । तदनु भोग्यं च अचित् पश्चात् प्रेरितारं सर्वप्रेरकपरमात्मानमाभ्यां विशिष्टं मत्वा विज्ञाय सर्वं जानाति । अर्थात् स्वस्वरूपं परस्वरूपं तत् प्राप्ति उपायस्वरूपं तद्विरोधिस्वरूपं फलस्वरूपं च ज्ञात्वा सर्वं जानाति । एवम् व्याख्याते प्रश्न उदेति– ननु पूर्वार्धे **नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्** इति ब्रह्मातिरिक्तपदार्थज्ञेयतानिषेधः पुनरुत्तरार्धे **भोक्ताभोग्यं प्रेरितारं च मत्वा** इति श्रुतिसकलेन भोक्तृभोग्यप्रेरकाणां ज्ञेयत्वसूचनेन श्रुतावपि वदतोव्याघातदोषः ? इति चेन्न भोक्तृभोग्यप्रेरकत्रिकज्ञानं ब्रह्मज्ञानमेव प्रधानपूजाङ्गीभूततदङ्गपूजनवत्, नहि जीवेन विना परमात्मा तिष्ठति जीवश्च भोग्यमन्तरेण स्थातुं न प्रभवति, तस्मात् ब्रह्मज्ञाने तदङ्गतया जीवज्ञानं जीवज्ञाने च तदङ्गभोग्यज्ञानं ब्रह्मणो विशेष्यस्य ज्ञाने विशेषणयोः जीवप्रकृत्योः भोक्तृभोग्योः ज्ञानमावश्यकं, त्रयाणां विना भूतत्वात् स्वत एव सिद्धम् ? इत्यत् आह– एतत् त्रिविधं भोक्तृभोग्यप्रेरकज्ञानरूपं ब्रह्मं ब्रह्मणः इदं इति ब्रह्मम्, अत्र इदमर्थे तद्धितीयेऽ ण प्रत्ययेऽपि (बहुलं छन्दसि) इति **बाहुलकबलात् तद्धितेस्वचामादेः** इति सूत्रेण नैवादिवृद्धिः । इत्थमेतत् त्रिविधं ब्रह्मं ब्रह्मज्ञानमिति भावः ।।श्रीः।।

इदानीं ब्रह्मस्वरूपनिरूपणानन्तरं तद् ग्रहणाय प्रणवोपयोगितां प्रतिपादयन्ती श्रुतिः अग्नीन्धनोदाहरणेनेदं स्पष्टयति । वह्नेरिति—

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ।।१३।।

अन्वयः— यथा योनिगतस्य वह्नेः मूर्तिः न दृश्यते च न एव लिङ्गनाशः स एव भूयः इन्धनयोनिगृह्यः तद् वा उभयम् (ब्रह्म) प्रणवेन देहे गृह्यः ।

वहति हवींषि यः स वह्निः । वह् धातोः कर्तरि औणादिको निङ् प्रत्ययः । तस्य वह्नेः पावकस्य योनिगतस्य अरणिरूपस्वप्राकट्यकारणभूतकाष्ठगतस्य मूर्तिः स्फूल्लिङ्गादिराकारः न दृश्यते नैव साक्षात् क्रियते । च किन्तु तस्य लिङ्गनाशः आकृतिविनाशः नैव, लीनः सन् दारुण्यग्निः केवलं विलोक्यते न, तथैव स एव अग्निः भूयः पुनः इन्धनयोनिगृह्यः इन्धनरूपकारणेन देदीप्यमानो गृह्यते । तद्वत् तेनैव प्रकारेण देहे शरीरे वर्तमानमन्तर्यामितया निर्गुणं ब्रह्म स्वाधिकरणतया च सगुणं ब्रह्म उभयमपि निर्गुणं सगुणं च प्रणवरूपेण, इत्यनेन देदीप्यमानमग्निस्वरूपं गृह्यते । इत्यनेन यथा अग्निर्बृहदाकारः सन् दहति सर्वं, तथैव प्रणवेन स्तूयमानं निर्गुणं ब्रह्मापि प्रकटितगुणत्वात् सगुणं साकारं सन् पावक इव भक्तभयदुरितक्लेशान् हरतीति हार्दम् । यथोक्तं मानसे श्रीतुलसीदासमहाराजैः—

एक दारुगत देखिय एकू । पावक सम जुग ब्रह्मविवेकू ।
उभय अगम जुग सुगम नाम ते । कहहूँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते ।।

(मानस १/२३/४,५) ।।श्रीः।।

इदानीमरणिमन्थनरूपकेण ब्रह्मप्राकट्यं निरूपयति, यथा अरणिद्वये अधरोत्तरे मथ्यमाने अग्निः प्रकट्यते याज्ञिकैः तथैव शरीररूपाधरारणिं प्रणवरूपोत्तरारणिं संयुक्तौ विधाय निर्मथनरूपध्यानेन असकृदभ्यस्तः परमात्मा निगूढोऽपि द्रष्टुं शक्यते इति मन्त्रार्थः ।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ।।१४।।

सुगमान्वयत्वात् अक्षरार्थो निरूप्यते—

स्वदेहम् निजशरीरं जपकाले रसनावच्छेदेन अरणिं पूर्वारणिं कृत्वा विधाय, च तथा प्रणवम् ओंकारं रामनाम वा तस्यापि प्रणवरूपत्वात् **श्रीरामो ब्रह्मतारकम्** इति श्रुतेः । एवं द्वयोरपि प्रणवरामनाम्नोः तारकब्रह्मत्वेन श्रूयमाणत्वात् प्रणवत्वं शास्त्रसङ्गतम् । अतो यथानिष्ठं निराग्रहः सन् न्यासी ओंकारं श्रीवैष्णवः अन्योऽपि कस्मिंश्चिदपि वर्णाश्रमे वर्तमानः रामनामरूपं प्रणवं उत्तरारणिं कृत्वा ध्यानरूपनिर्मथनस्य यः अभ्यासः

वैखरीजपरूपः अजपाजपरूपो वा असकृद् स्मरणविशेषः । तस्माद् हेतोः निगूढवत् निगूढमिव हृदयकुहरे वर्तमानं देवं सकलप्रकाशकं सगुणश्रीविग्रहपरमात्मानं पश्येत् दृष्टुं शक्यते । अत्र 'शकिलिङ् च'' इति सूत्रेण शक्यार्थे लिङ्लकारः । ओंकाररामममन्त्रयोरन्यतरेण कृतध्यानजपाभ्यासो ब्रह्मसाक्षात्कारसमर्थो भवतीति फलितम्।।श्रीः।।

इदानीं ब्रह्मणो व्यापकतां तत्प्राप्त्युपायं च वर्णयति तिलेषु इत्यादिना—

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ।।१५।।

अन्वय :—तिलेषु तैलं इव, दधनि सर्पिः इव, स्रोतःसु आपः इव च, अरणीषु अग्निः इव एवम् आत्मनि असौ आत्मा (तेन) गृह्यते यः एनं सत्येन तपसा अनुपश्यति ।

तिलेषु तैलं इव यथा सर्वावच्छेदेन तिलेषु तैलं व्याप्तं किन्तु तिलं निर्मथ्य तत्प्राप्तुं शक्यम् । यथा दधनि दुग्धपरिणामे सर्पिः घृतम्, एवमेव यथा स्रोतःसु निर्झरछिद्रेषु आपः जलानि । यथा च अरणीषु अग्निः पावकः निगूढः यत्नेन प्राप्यते । तद्यथा-निष्पिष्टेषु तिलेषु तैलं निर्मथिते दधनि घृतं, वार्धिषु स्रोतःसु जलं, घर्षिताषु अरणीषु अग्निः। एवमसौ आत्मा परमात्मा तैलघृतजलाग्निसमानधर्मा तिलदधिस्रोतोऽरणिसमानधर्मणि आत्मनि वेदानुवचनेन निष्पिष्टे, व्रतेन मथिते, तपसा विशदीकृते, अनाशकेन घर्षिते च प्रत्यगात्मनि तेनैव साधकेन गृह्यते निजोपलब्धिविषयीक्रियते । अथ चतुर्धर्मिणां धर्मचतुष्टयपरिकल्पनं कुतः कृतमिति चेत् ''तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति वेदानुवचनेन वृतेन तपसानाशकेन'' इति श्रुतिवचनमेवमानं गृहाण । केन गृह्यते ? इत्यत आह—यः एनं परमात्मानं सत्येन वेदानुवचनपरिणामरूपेण शास्त्रानुमोदितसदाचरणेन तपसा व्रतानाशकयोरप्यत्रैवान्तर्भावः । अनुपश्यति आनुकूल्येन द्रष्टुं समीहते ।।श्रीः।।

साम्प्रतं पूर्वोक्तसाधनेन ब्रह्मप्राप्तिं विविच्य प्रथमाध्यायमुपसंहरति सर्वेत्यादि—

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ।।१६।।

अथ सर्वव्यापकः परमात्मा कीदृशः तत्प्राप्तये कोपायः अस्मिन् किं प्रमाणमिति प्रश्नत्रयसमाधान एव समाप्नोति प्रथमाध्यायम् ।

अन्वयः— क्षीरे अर्पितं सर्पिः इव सर्वव्यापिनम् आत्मविद्यातपोमूलम् आत्मानं (यः सत्येन तपसा अनुपश्यति तेन असौ गृह्यते)।

मन्त्रैकवाक्यतया वाक्यार्थबोधाय श्रुतावस्यां पूर्वश्रुतेः षट्पदानि तेन इत्याध्याहृत-पदञ्च सप्तकमिदमनुवर्तते। एवं क्षीरे दुग्धे सर्पिः इव क्षीरभूते परमात्मप्रकृतिगवीपरिणाम-भूते संसारे अर्पितं समर्पितम्। यथा क्षीरस्य सारभूतं घृतं तथैव संसारस्य सारभूतः परमात्मा तथा च सम्यक् परमात्मरूपः सारः तत्वं यस्मिन् स संसारः इति व्याचक्ष्महे। क्षीरघृतोदाहरणादत्र किं वैलक्षण्यम्? अत आह अर्पितं तात्पर्यमेतत् क्षीरे घृतं स्वतःसिद्धम्, किंतु संसारे परमात्मा स्वतः सिद्धो नहि पूर्वं योगमायया संसारः सृष्टः पश्चात् तदसारतां समीक्ष्य तत्र तयैव परमात्मा समर्पितः इति वैशिष्ट्यम्। नन्वस्मिन् व्याख्याने किं मानम्? इति चेन्न, **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' (तै.उ. २/७) इति श्रुतिरेव प्रमाणाम् एवं सर्वं , चराचरं व्याप्नोति स्वसत्तया व्याप्तं करोति तच्छीलः इति सर्वव्यापी। स्वावच्छिन्नात्यन्ताभावाप्रतियोगितावच्छेदकतावान् इत्यर्थः। तं सर्वव्यापिनं आत्मा आदत्ते भक्तभावान् यस्तथाभूतः तत्प्राप्तये विद्या आत्मविद्या ब्रह्मविद्या वेदान्तनाम्नीति भावः। **तपः**— तन्नामरूपलीलाधाम्नां तद्गुणानां तत्प्राप्तिसाधनानां च असकृदालो-चनम्। ते आत्मविद्यातपसी मूले प्राप्तिसाधने यस्य स आत्मविद्यातपोमूलः तं आत्मविद्यातपोमूलमात्मानं परमात्मानं श्रीरामाभिधं परमेश्वरं यः सत्येन तपसा अनुपश्यति असौ तेन गृह्यते। तस्य सत्तायां किं मानमित्यत आह— तत् पूर्वव्याख्यातं उपनिषत्परं उपनिषत्सु परतत्वतया बहुशो वर्णितं ब्रह्म वेदान्तप्रतिपाद्यम्, द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिसूचनाय।

इति श्रीचित्रकूटनिवासि तुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामि रामभद्राचार्यप्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रीराघवकृपाभाष्ये प्रथमोऽध्यायः।

।।श्रीराघवः शान्तनोतु।।

॥ श्री राघवोविजयते तराम् ॥

॥ श्री रामानन्दाचार्याय नमः ॥

।। अथ द्वितीयोऽध्यायः ।।

सम्बन्धभाष्यम्— प्रथमाध्याये ब्रह्मजीवयोः सारूप्यवैरूप्यपुरःसरं तद्वैलक्षण्य-लक्षणानि लक्षयित्वा द्वयोः कार्यं ब्रह्मप्राप्त्युपायं च सयुक्तिकं प्रपञ्चयामास । तद्ब्रह्म प्रवचनेन केवलेन, सकलनिरपेक्षया मेधया, केवलेन बहुना श्रुतेन नैवाधिगन्तुं शक्यं, इदं तु तेनैव लब्धुं शक्यते यश्च परमात्मना व्रियते । तद्वरणाधिकारं सैवाधिगच्छति यस्तत्कृपाभाजनं भवति । परमेश्वरकृपापि तमेवाङ्गीकरोति यो दैन्यवान् भवति । दैन्यं हि प्रार्थनामूलं, ननु सर्वभूतसमस्य समदर्शिनो निरस्तनिखिलपक्षपातस्य परमेश्वरस्य प्रार्थनानिघ्नत्वे लालाटिकतापत्तिरितिचेन्न , सर्वदैव निखिलद्वन्द्ववर्जितस्य निरस्तशात्रव-सौहृदस्वभावस्य परमात्मनः सर्वदा समवर्तित्वेऽपि निजगुणविस्मरणशीलत्वात् तद्बोधनाय स्तुतिपाठानां उपादेयत्वे नैव लालाटिकता शंका, न च परमात्मनो निजगुण-विस्मरणशीलतापादने तत्र स्मृतिमत्वानुपपत्तिरिति वाच्यं , तत्र प्राशस्त्ये मतुपो-विधनेनादोषात् । अतोऽनिवार्यत्वे प्रार्थनायाः तत्र प्रार्थयितृप्रवृत्तिप्रयोजकतावच्छेदकतायाः समवधाने प्रार्थ्यमाहात्म्यवर्णनावश्यकत्वे पूर्वं तद्गुणानेव विशिनष्टि—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ।।१।।

सविता प्रथमं तत्त्वाय युञ्जानः (पश्चात्) धियः युञ्जानः अग्नेः ज्योतिः निचाय्य पृथिव्याः अध्याभरत ।

अत्र सविता परमेश्वरः न तु सूर्यः, तथा च 'सुप्रेरणे' इति धातोः सवति प्राणिनः प्रेरयति इति सविता सकलप्रेरक इति भावः । प्रथमं ध्यानदशातःपूर्वं मनः सैव सरिता युञ्जानः स्वेन योजयन्, पश्चात् धियः बुद्धीः अपि स्वेन योजयन्, अग्ने अग्निसदृशस्य स्वस्य ज्योतिःप्रकाशं निचाय्य समूह्य, पृथिव्याः भूमेः अधि उपरि आभरत तज्जयोतिः पूरयामास ।

तात्पर्यमेतत् यद्ध्यातुर्मनः बुद्धीश्च स्वेन योजयित्वा भगवान् निजतेजसैव तस्यान्तः-करणरूपपृथ्वी निजतेजोरश्मीरेव भाषयति, अतः स एव भजनीयः प्रार्थनीयश्च । यद्वा सकलप्राणिप्रसवभूमिः सविता प्रेरयिता वा प्रथमं तत्त्वाय ब्रह्मतत्त्वाधिगमाय मनः संकल्पात्मकम् इन्द्रियविशेषं धियः व्यवसायात्मकवृत्तीः युञ्जानः निजचरणसरोरुहे

सन्निवेषयन् अग्नेः उपलक्षणतया अग्न्यादि हृषीकाभिमानयुक्तसुराणां **ज्योतिः** प्रकाशं तत्तत् विषयग्रहणसामर्थ्यं वा निचाय्य समुपसंहृत्य पृथिव्याः पार्थिवभोगेभ्यः, **अधि** उपरि **आभरत** विभर्तु । अत्र "बहुलं छंदसि" इत्यनेन लोडर्थे लङ् लकारः । इति नव्याः । यत्तु **युञ्जान** इत्यस्य योजनीयमिति व्याचक्षते प्राञ्चः तत्स्थविरबुद्धिप्रसूततया नादरणीयम् ।।श्रीः।।

अथ द्वितीये मन्त्रे प्रार्थयमानः साधकः परमात्मपदपद्मपरागरसपानाय प्रतिजानीते । देवाधिष्ठितं हि मनः भगवत् भजनरसे अग्रेसरं भवति, आसुरभावसम्पन्न मन एवं मनोजादीन्संकल्पयति । ननु मनसोऽधिष्ठाने तद्देवतां विरहय्य सवितृप्रार्थना नोपपद्यते ? इति चेन्मैवं, सविता हि चक्षुरभिमानिदैवतम् । चन्द्रश्च मनोऽभिमानिनीदेवतेति श्रुतौ प्रसिद्धम् । चन्द्रमाः यथातिथिक्रमं कृष्णपक्षे सुरैः पीतकलः अमावश्यायां सूर्येण संगच्छमानः सवितुरेव पुनः कलाः लभते इत्यपि ज्यौतिषशास्त्रे प्रसिद्धम् । एवमेव अत्राप्यूह्यं यथा शशी सूर्यात् कलाः लभते तथैवात्र चक्षुरभिमानिदैवतात् बाहुल्येन विषयाँल्लभते, मनोऽभिमानि दैवतम् । अतः मनसश्चक्षुरधीनत्वात् परिहृत्य तद्दैवतं चक्षुर्दैवतप्रार्थनं सुसंगतं तर्कसहमपि ।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । सुवर्गेयाय शक्त्या ।। २ ।।

वयं (सवित्रा) युक्तेन मनसा सुवर्गेयाय सवितुः देवस्य सवे शक्त्या (युञ्जमहि) ।

वयं साधकाः सवित्रा जगत्प्रेरकपरमात्मना युक्तेन समधिष्ठितेन मनसा स्वान्तेन **सवितुः** सत्कर्मसु निजजनेभ्यः प्रेरणाप्रदस्य यद्वा सवितुःसूर्यस्यापि सूर्यस्य यद्वा सवितुः सूर्यकुलभूषणस्य गौणवृत्त्या सवितृवंश्योऽपि सविता "मंचाः क्रोशन्ति" इतिवत् तात्स्थे लक्षणा । **सवे**— श्रुतिमाध्यमेन भगवता प्रेरिते सत्कर्मरूपयज्ञे, भगवन्निमित्त- कर्मापि यज्ञो भवति । यथोक्तं गीतासु—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।। (गीता ३/९)

यत्तु **सवे** अनुज्ञायामिति प्राहुः तन्न 'सव' शब्दस्य कुत्रापि अनुज्ञावाचकत्वा प्रसिद्धेः। तादृशे भगवन्निश्वासभूतश्रुतिविहितकर्मयज्ञे यद्वा गृहीतलीलातनोः श्रीराघवेन्द्रस्य चरित्रानुशिष्टवर्णाश्रमानुकूलसत्कर्ममखे । **सुवर्गेयाय** सुवर्गः साकेतलोकः तत्र निवासःयस्य स सुवर्गेयः । बाहुलकात् स्त्रीत्वा भवेऽपि 'ढक्' वृध्यभावश्च, तस्मै सुवर्गेयाय साकेत-निवासिने श्रीराघवेन्द्राय अत्र तादर्थ्येचतुर्थी शक्त्या पूर्णमनोयोगसामर्थ्येन **युञ्ज्महि** युक्ता भवेम ।।श्रीः।।

अथ समनस्कहृषीकाभिमानिदेवतानां भगवद्भजनरूपसत्कर्मणि सहाय्यं विधातुं साधकस्य सत्प्रेरणायै सवितारं प्रार्थयते । तस्य हि सकलप्रेरिकत्वप्रसिद्धेः तस्य च परमात्मन एवासाधारणधर्मत्वात् मुख्यवृत्या सविता शब्दः परमेश्वरवाचकः । गौणवृत्या भवतु नाम सूर्यवाची गौणमुख्ययोर्मुख्यकार्ये सम्प्रत्ययः । इति वैय्याकरणसिद्धान्तदृशा अत्रापि सवितृशब्दस्य मुख्यार्थ एव ग्राह्यः ज्ञानकाण्डस्य च मुख्यार्थसूचकत्वात् —

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धियां दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।।३।।

अन्वयः— सुवः धियम् यतः बृहत् ज्योतिः करिष्यतः नः देवान् मनसा धियां युक्त्वाय सविता प्रसुवाति ।

सविता हि इन्द्रियमनोभिमानिनो देवान् सुवति इमे चतुर्दशदेवाः सूर्यादयो महदन्ताः उभयेषां कर्णानां विषयान् गृहणन्तो भगवद्भजनं प्रत्यवयन्ति । यथोक्तं गोस्वामि तुलसीदासचरणैः—

जौं तेहिं विघ्न बुद्धि नहिं बाधी । तौं बहोरि सुर करहिं उपाधि।।
इन्द्रियद्वार झरोखे नाना । तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।।
आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।।

(मानस ७/११८/११,१२,१३)

न तेभ्यः ज्ञानं रोचते निसर्गतस्तेषां विषयाशक्तिमत्वात् । पुनरप्याहार्थमिमं मानसकृत् ज्ञानदीपके—

इन्द्रिय सुरन्ह न ज्ञान सुहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई।।

(मानस ७/११८/१५)

तस्मात् तेषां निग्रहार्थं सूपपन्नं सवितृप्रार्थनम् । जीववृत्तिभेदात् तदन्तःकरणावछिन्नदैवतान्यपि द्विधागामीनि भवन्ति, सकामानां ज्योतिष्टोमादिभिः स्वर्गं यजमानानां तत्कर्णैः सह स्वर्गं यान्ति दैवतान्यपि, एवमेव निरस्तकामानां तीव्रेण भक्तियोगेन भगवन्तं भजमानानां परमभागवतानां तत्कर्णाविच्छिन्नदेवताः सकर्णाः साकेतगोलोकवैकुण्ठान्यतमं द्युनामधेयं भगवल्लोकं यान्ति । अत आह— सुवः सकामकर्णाविच्छिन्नत्वात् स्वर्गलोकं यतः, 'इण्' धातोर्गत्यर्थकस्य शतृप्रत्ययान्तद्वितीयाबहुवचनान्तरूपमिदं तथा हि— यन्तीति यन्तः तान् यतः '**इण्**' धातो अनुबन्धलोपे शतृप्रत्यये अनुबन्धकार्ये इ अत् अस् इति स्थिते "**इणो यण्**"

इत्यनेन यणि रूत्वे विसर्गे यतः इति दिग् गच्छत इत्यर्थः । एवमेव दिवं पूर्वोक्तं साकेतादिकं भगवद्धाम "**त्रिपादस्यामृतं दिवि**" (शुक्ल यजु. ३१/३) इति श्रुतेः। यतः, बृहत् निरतिशयवर्धनशीलं ज्योतिः, प्रकाशं करिष्यतः प्रार्थनाकाले तथाविध-प्रयोगाभावात् सदन्तप्रयोगः विधास्यत इति भावः । एवं विधान् देवान् विषयरङ्गमञ्चे क्रीडतः विषयवने वा खेलतः देवान्, क्रीडार्थक दिव् धातोः देवशब्दनिष्पत्तेः। यत्तु देवान् द्योतनशीलान् इति प्राहुः तदिहत्य प्रसङ्गार्थमनालोच्यैव । देवानां हि द्योतनशीलत्वे ज्योतिः करिष्यतः इति भविष्यत् काले क्रियार्थानुपपत्तेः । तान् नः अस्माकं साधकानां देवान् कर्णसम्बधिनः, मनसा भगवद्भजनयोग्येन स्वान्तेन, धिया परमेश्वरचिन्तनक्षमया बुद्ध्या, युक्त्वाय युक्तान् कृत्वा बुद्धिमनोयुक्ता हि देवाः भगवत्स्मरणे प्रभवेयुः अतः सविता सकलप्रेरकः परमात्मा तान् प्रसुवाति अत्र लोड् अर्थे लट् आडागमश्च प्रकर्षेण प्रेरयतु इत्यर्थः ।।श्रीः।।

अथ परमेश्वरस्तुतेः प्रासङ्गिकतां निरूपयति, नहि सर्वान्तर्यामीसमदृग् भगवान् अस्मदादिरिव लालाटिको भवति । न वा तस्मिन् महत्वाकांक्षित्वादयो दौर्बल्यसूचकाः फल्गवो गुणास्तिष्ठन्ति तस्मादलं तत् प्रार्थनया इति समुत्थितं बलवत्तरं प्रश्नं समाधत्ते युञ्जत् इत्यादिना—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।।४।।

अन्वयः— ये विप्राः (यस्मिन्) मनः युञ्जते उत धियः युञ्जते (यः) होत्रा विदधे (यः) एकः वयुना वित् इत् (तस्य) विप्रस्य बृहतः विपश्चितः देवस्य सवितुः मही परिष्टुतिः (तैः विप्रैः कर्तव्या)।

अत्र मन्त्रार्थसंयोजनाय मया श्रुतेरेकवाक्यतया नातीच्छतापि वाक्यार्थानुरोधेन बहूनि पदानि अध्याहतानि । ये विप्राः ब्रह्मकुलोत्पन्नत्वे सति द्विजातिसंस्कार सम्पन्नत्वे सति वेदपठनशीलाः ब्राह्मणाः यथोक्तं याज्ञवल्क्येन—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारात् द्विज उच्यते ।
वेदपाठी भवेत् विप्रः श्रोत्रियो वेदपारगः ।।

यदुक्तं कैश्चिन्मूर्खैः **(जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारात् द्विज उच्यते , वेदपाठी भवेत् विप्रो, ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः)** ।। इति ।। तत्तु कोटि-कोटिशेषशारदागणनानर्ह-संख्याकमहाकल्पपर्यन्तावधिकरौरवनरकनिवासभीषणयमयातनाप्रचण्डपापपुरीषकीटाणु-कल्पितदुर्गन्धपिसुनकुजल्पितमिव कुक्कुरवमनबुद्ध्या समुपेक्ष्यम्। अस्य

महामूढशिरोमणिवान्तस्य छन्दसः कुत्राप्यार्षग्रन्थेष्वदृष्टत्वात् । तस्मिन् बृहति विपश्चिति मनःसंकल्पात्मकं धियः भगवति समर्पितत्वेन धियोऽपि समादरणीयतया तत्र बहुवचनान्तविवक्षया धिय इति शसन्तरूपम् । एवम् धियः परमात्मध्यानसमर्था समादरणीया बुद्धिः तदुपलक्षितानि सर्वाणि करणानि युञ्जते तस्मिन् परमात्मनि योजयन्ति, एवभूतो यः होत्राः हूयते अग्निहोत्रं यासु तादृक् क्रियाविशेषाः **'हु धातोः'** अधिकरणेष्ट्रनबाहुलकः, यःविदधे ब्रह्मणे रचयित्वा प्रदर्शयामास **व्यवहिताश्च** इति वार्तिकेन **विहोत्रादधे** इति होत्राशब्दव्यवहितादपि दधातेः पूर्वं व्युपसर्गः । एवं यः वयुनावित् वयुनानाम निखिलकोटिब्रह्माण्डविज्ञानसमर्था प्रज्ञा सैव भगवतो ज्ञानशक्तिः, संविदाख्या तया वेत्ति इति वयुनावित् निजप्रज्ञाबलेन सर्ववेत्तेति भावः । एकः केवलः तस्य देवस्य परमकान्तिमतः विप्रस्य विशेषेण प्राति स्वजनकामान् पूरयति इति विप्रः तस्य विप्रस्य बृहतः अतिशयेन समेधितस्य विपश्चितः नित्यविज्ञानसम्पन्नस्य सवितुः प्रेरयितुः सवितृकुलभूषणस्य रामाभिधब्रह्मणः उत निश्चयार्थो निपातोऽयं छन्दसि प्रयुज्यते । निश्चयेन मही महती अर्थतः शब्दतः भावतश्चापि महनीया परिस्तुतिः परितः नामरूपलीला-धामभिः स्तुतिः लोकोत्तरकल्याणगुणगणसंकीर्तनम्, यद्वा परिष्कृतास्तुतिः परिष्कृतिः परिष्कारश्चात्र भगवति भक्तिप्रवणचित्तैकाग्र्यरूपः अथवा परिश्रितास्तुतिः परिष्टुतिः परिश्रयश्चात्र भगवच्छरणागतिरूपः, यद्वा परिव्यक्तकामनास्तुतिः परिष्टुतिः कर्तव्या तैरेव विप्रैः इत्यनेन ब्राह्मणानां सविशेषभगवद्भजनं सूचितम्, ब्राह्मणानां हि ब्रह्मरूपवेदज्ञानं जन्मना सिद्धं तस्मिन्नेव ब्रह्मणि वेदे परमतात्पर्यरूपेण भक्तिर्निहिता । यत्तु ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः इति वाक्यं कल्पयित्वा ब्रह्म जानाने कस्मिंश्चिदपि वर्णे ब्राह्मणत्वमारोपयितुं दुःसाहसिनो भवन्ति वैदिकधर्मभागधेयधूमकेतवः तदशास्त्रीयम् । अस्य श्लोकस्य कुत्राप्यसत्वात् व्युत्पत्तिर्हि इति शब्दपूर्विका भवति, यथा करोति इति कर्त्ता वक्तीति वक्ता तथा नात्र दृश्यते ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मणः इति दृष्ट्या स्वास्त्रेण स्वयं निपातितः। ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः इत्यस्य ब्राह्मणः ब्रह्म जानाति इत्येवार्थः ब्राह्मणेतराः तत् कृपया ब्रह्म जानन्तु नाम परन्तु मुख्यतया ब्राह्मण एव जानाति इति संक्षिप्यते ॥श्रीः॥

अथ प्रार्थयिता निजस्तुतिमहिमानं दिगन्तेषु वितन्यमानं कामयमानं इदं निज-कर्तृकस्तोत्रवचनं श्रोतुं सर्वान् परमात्मसूनून् प्राणिनः प्रार्थयते । युज इत्यादिना—

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।।५।।

वाम् पूर्व्यम् ब्रह्म नमोभिः (अहम्) युजे । सूरेः पथ्या इव विश्लोकः एतु ये दिव्यानि धामानि आतस्थुः (ते) विश्वे अमृतस्य पुत्राः शृण्वन्तु । इदानीं प्रार्थयिता भगवच्छरणागतिं वृणानो गृणाति निजोद्गारम्– अहम् वाम् वचनत्वेन बहुवचनस्थाने द्विवचनात् वाम् इत्यस्य युष्माकं चतुर्दशकरणानामित्यर्थः । केचन वाम् इत्यस्य युवयोरिति व्याकृत्य तदवाच्यतया मनोबुद्धी गृह्णन्ति तदसत् । पूर्वसंकीर्तितानां परामर्शकत्वे युष्मच्छब्दस्य सर्वनाम्नो निसर्गसिद्धिनियमेन तेषु चतुर्दशकरणेषु अन्यतरयोरेव ग्रहणे मानाभावात् वामिति षण्ठ्यन्ताभिलप्यानाम् अनुयोगिभूतं ब्रह्म सम्बन्धश्च नियम्यनियामकभावः । तथा हि युष्मन्नियामकं ब्रह्मेति फलितं, पूर्व्यम् पूर्वमपि वर्तमानं सनातनमिति भावः । यद्वा पूर्व्यम् सृष्टेः पूर्वमपि विद्यमानं परमपुरातनं ब्रह्म परमेश्वरं नमोभिः प्रणतिभिर्कायिकवाचिकमानसैः युजे संयुक्तो भवामि । सूरेः वेदविदः ब्राह्मणस्य विश्लोकः विशिष्टगुणगणगानरूपसद्गुणसंघातस्तवः पथ्या आतुराणां ओषधिपथ्यमिव, एतु हितकारितां गच्छतु, अत्र पथ्याः इति (सुपांसुलुक्) इत्यनेन सोः आसादेशः। यद्वा सूरेः पण्डितप्रकाण्डस्य पथ्याकीर्तिरिव, यथा श्लोकः मत्कृतस्तुतिः वि एतु व्यापकतां गच्छतु । अथवा सूरेः विश्लोकः विष्णोः श्लोकः विश्लोकः पथ्या इव औषधानुकूलासनमिव एतु गच्छतु श्रेय इति शेषः। ये नित्यभगवत्कैंकर्यरताः दिव्यानि धामानि परमप्रकाशकानि साकेतगोलोकवैकुण्ठाख्यानि आतस्थुः आदरेण स्थिताः, ते विश्वे अमृतस्य-मृताः शरीरावच्छेदेन मरणधर्मवन्तो जीवाः तद्भिन्नोऽमृतः तस्य अमृतस्य जन्मादिषड्विकार-रहितस्य परमात्मनः पुत्राः सुताः । अमृतस्य पुत्राः इत्यनेन श्रुतिः कण्ठरवतः जीवब्रह्मणोर्भिदां समचिख्यपत् । अमृतस्य इति षष्ठी षष्ठ्या हि मुख्यः सम्बन्धोऽर्थः स चात्र जन्यजनकभाव-रूपः । एवममृतस्य पुत्राः इत्यत्र अमृतप्रतियोगिकपुत्रानुयोगिकजन्यजनकभावसम्बन्धः इति शाब्दबोधः शाब्दिकसम्मतः । न्यायनये तु जन्यजनकभावसम्बन्धेन अमृतविशिष्टपुत्राः षष्ठ्याः भेदरूपार्थः सर्वसम्मतः। स एव मन्दधीर्ब्रह्मजीवयोर्भिदां स्वरूपतोऽध्यवस्यति यः खलु पितापुत्रयोः स्वरूपेण भेदं स्वीकरोति वस्तुतस्तु जीव परमात्मनः पुरातनः पुत्रः, एतेनैव **ममैवांशो जीवलोकेजीवभूतः सनातनः** इति गीतापि संगच्छते।।श्रीः।।

साम्प्रतं मनोधिष्ठानपरमेश्वरं वर्णयति—

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरूध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ।।६।।

यत्र अग्निः अभिमथ्यते यत्र वायुः अधिरुध्यते यत्र सोमः अतिरिच्यते तत्र मनः सञ्जायते । अस्य मन्त्रस्य चतुर्धा व्याख्यानं, प्रथमं क्रतुरूपम्– यत्र क्रतौ अग्निः हवनीयः अभिमथ्यते अरणिमन्थनविधिना अभिमथ्यते आविर्भाव्यते । यत्र क्रतौ यजमानेन

वायुः अधिरुध्यते, यजमानेन कर्मकाण्डे आचम्य प्राणायानम्य इति निर्दिष्टः प्राणानायच्छति, यद्वा वायुसहायभूतः शब्दः नागरं प्रतिक्रियते । सोमः सोमरसः अपि यत्र अतिरिच्यते समधिकमुत्पाद्यते तत्र तत्र क्रतौ नः मनः संजायते सम्यगासक्तं भवति, संजायते इत्यत्र "व्यत्ययात्" लोडर्थे लट् । यद्वा यत्र यस्यां स्थितौ अग्निः अग्निस्वरूपो ज्योतिर्मयः परमात्मा अभिमथ्यते प्रथमाध्यायोक्तदृशा स्वदेहं पूर्वारणिं विधाय एवमोंकारमुत्तरारणिं कृत्वा ध्यानरूपनिर्मथनेन पश्यति– एवमेव वायुः सर्वव्यापी परमात्मरूप एव वायुः समीरणः यत्र रुद्धो भवति तादृशे स्थितिविशेषे । एवमेव यत्र सोमः रसात्मकः परमात्मा **रसो वै सः** इति श्रुतेः । **सोमो भूत्वा रसात्मकः** इति स्मृतेः । यत्र अतिरिच्यते स एव सर्वान्तर्यामी परमात्मा सोमीभूय अतिरिच्यते सर्वातिरिक्ततया भाषते अत्राग्निवायुचन्द्राणां भगवद्विभूतितया स्मरणेन परम्परया भगवत् स्मरणमेव । यद्वा अग्निवायुसोमा भगवन्नामानि तथा च अग्रे सर्वेषां पुरः नीयते इत्यग्निः परमात्मा हि सकलप्राणिपुरोवर्ती, यद्वा अज्यते भक्तसमक्षं आविर्भूतो भवति इति अग्निः तस्मादग्निर्हि परमात्मनो मुख्यं नाम अत एव ऋग्वेदस्य प्रथमाऋक् "**अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्युजं होतारं रत्न- धातवम्**" (ऋग्वेद १/१)। अत्र सामान्यतः अग्निरेव संकीर्तितो वेदस्य प्रथमे मन्त्रे परन्तु गहनं विचार्यमाणे निखिलवाङ्मयस्य सर्वप्राथमिकमङ्गलाचरणभूते एतस्मिन् ऋग्विशेषे निखिलमङ्गलायतनस्य परब्रह्मणः श्रीहरेः रामाभिधस्य समुपेक्षणं विधाय तदितरसंकीर्तनं मांगलिकरूपेण श्रुतौ संघटत एव नहि । यथोक्तं प्राचीनैः —

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदौ मध्ये तथैवान्ते हरिः सर्वत्र गीयते ।।

अतः विश्वसासहित्यश्रीगणेशरूप ऋग्वेदस्य प्रथमोऽयं, मन्त्रोऽपि श्रीहरिपरतयैव गीयते व्याख्येय इति- पुरोहितं पुरः सम्मुखं हितं निज प्रपन्नकल्याणमेव यस्य स पुरोहितः सम्मुखीकृतभक्तकल्याण इति भावः, विभीषणादिकल्याणसमक्षं निजहिताय भगवतो दत्ततिलांजलित्वं श्रीरामायणे दृष्टमेव तथाभूतं पुरोहितं यज्ञस्य श्रुतिविहितस्य मखस्य देवं प्रकाशकम् ऋत्विजं याज्ञिकविशेषं एवमेव रत्नधातवं रत्नानि दधाति धारयति इति रत्नधातवः "**कर्तरि तवेङ्**" प्रत्ययः तं एवं होतारं निरन्तरं कोटि-कोटि वाजपेयाश्वमेधेषु आहुति दातारं यथोक्तं रामायणे "**अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः** (वा.रा.बा. १/९४) एवमग्निं संग्रामे सर्वेषां अग्रे नीयमानं श्रीरामाभिधं ब्रह्म ईडे स्तौमि इति मन्त्रार्थः । तत्र तस्यामवस्थायां मनः संजायते प्रविशतु धातोरनेकार्थत्वात्, जनेः प्रवेशार्थः तृतीयव्याख्यायां यत्र ब्रह्मणि अग्निः परमज्योतिः अभिमथ्यते

साधनेनोपलभ्यते वायुः प्राणात्मकः आयुरात्मको वा यत्र परमात्मनि दृष्टे अधिरुध्यते साधिकारं रुद्धं भवति। नहि परमात्मभक्तः कालवशगो भवति भुशुण्ड्यादिचरित्रे तथैव दृष्टत्वात् न च कालवशानुगः इति श्रीरामायणे स्मृतत्वाच्च । एवं सोमः अमृतं यत्र अतिरिच्यते अतिशयं प्राप्यते तत्र ब्रह्मणि मनः संजायते विशुद्धं भवतीत्यर्थः । इत्थमेव श्रीरामं प्रत्यपि संगमयितुं सुशकं चतुर्थव्याख्याने यत्र यस्यां भक्तौ अग्निः खलवनकृशानुः अभिमथ्यते अभिव्यक्तीक्रियते यत्र यस्यां भक्तौ वायुः सर्वत्र गमनशीलः वायुरिव लौकिकरूपरहितोऽपि दिव्यदेहेन सर्वान् स्प्रष्टुं क्षमः यथा सुतीक्ष्णचरित्रे—

अतिसय प्रेम देखि रघुबीरा । प्रकटे हृदयँ हरन भवभीरा ।।

एवम्भूतः वायुरिव सूक्ष्मः (मा. ३/१०/१४) परमात्मा भक्तिवसंवद एव अधिरुध्यते भक्तहृदयेषु रुद्धो भवति । यत्र यस्यां भक्तौ सोमः श्रीरामरूपश्चन्द्रः अतिरिच्यते सर्वोत्कृष्टतया दृश्यते पूज्यते च यद्वा उमया सह वर्तमानः सोमः भगवान्रुद्र एव श्रीरामः अतिरिच्यते निहत्य रावणादीन् परिभूयकामादींश्च सर्वोत्कर्षेण तिष्ठति । तत्र तस्यां श्रीरामभक्तौ मनः स्वान्तं संजायते सम्यक् जायते जगद्वासनां त्यक्त्वा सम्यक्तया भगवदीयं भूत्वा नूतनमिव जन्म लभते इत्थं चतुर्भिधाव्याख्या मन्त्रस्यास्य मया कृता विभावयन्तु विद्वांसो वेदसारसमीक्षकाः ।।श्रीः।।

अथ निष्कामभावनया परमात्माराधनस्य विधीयमानस्य फलमाह सवित्रेत्यादिना—

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृण्वसे नहि ते पूर्वमक्षिपत् ।।७।।

अन्वयः — सवित्रा प्रसवेन पूर्व्यम् ब्रह्म जुषेत तत्र योनिं कृण्वसे ते पूर्वम् (कर्म) नहि अक्षिपत् ।

हितैषिणी श्रुतिः साधकं निर्दिशति– हे मुमुक्षो जीव ! सवित्रा सत्कर्मणे प्रेरयित्रा दत्तेन प्रसवेन प्रेरणाविशेषेण यद्वा प्रकृष्टः सवः प्रसवः प्रकृष्ट यज्ञः स च स्वसम्प्रदायमर्यादानुसारं निजाचार्यतो लब्धश्रीरामकृष्णनारायणादिमन्त्रजपरूपः तेन निज-निजेष्टदैवतमन्त्रजपरूपेण यज्ञेन करणभूतेन **यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि** (गी. १०/२५) इति भगवतैव प्रशस्ततया संकीर्तितेन । पूर्व्यम् त्वदुद्भवतः पूर्वं वर्तमानं निजपितरं **'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'** (श्वेताश्वत. उ. २५) इति श्रुतेः । यद्वा सृष्टेः पूर्वमपि विद्यमानं तादृशं पुरातनं पुरुषविधं, ब्रह्म वेदान्तवेद्यं श्रीरामाख्यं जुषेत, अत्र व्यत्ययेन मध्यमपुरुषैकवचनस्थाने प्रथमपुरुषैकवचनम् । एवं जुषेत इत्यस्य प्रीति भाजनं कुर्याः तत्सूनुः सर्वभावेन परमममतास्पदीकृत्य सेवेथाः । यद्वा प्रकृष्टाः सवाः वाजपेयाश्वमेधादयः

सन्ति यस्य यस्मिन् वा सप्तसवः । इन्द्रस्तु शताश्वमेधितया शतक्रतुः परन्तु मम राघवस्तु कोटिक्रतुः, शतादिसंख्यानामानन्त्यराचित्वेन अनन्तक्रतुश्च तथोक्तं मूलरामायणे **अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः** । (वा.रा.बा. १/९४) अत्र शतैरिति बहुत्ववाचि शतशब्दात् पुनर्बहुवचननिर्देश एव भगवतः श्रीरामस्य अनेकशतयज्ञकारित्वे मानमन्यथा अश्वमेधशतेनेष्ट्वा इति ब्रूयात् । इन्द्रस्तु एकशतं यज्ञान् अयजत् किन्तु मम कोशलेन्द्रोऽनेकशतानि क्रतूनां याजी इति विशेषः । यथोक्तं श्रीमानसे—

कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे । दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे ।।

(मानस ७/२४/१)

इत्थम्भूत कोटिकोटिवाजिमेधकारिणा प्रकृष्टसववता भगवता सवित्रा सूर्यवंशभूषणेन सूर्यशंकासप्रतापवता सूर्येणेव चरित्रेण कर्ममार्गस्थानां रामनाम्ना ज्ञानमार्गाणां प्रेरकेण श्रीरघुवरेण परमेश्वरेण कृपापात्रीकृतः इति भावः, शेषं पूर्ववत् । तत्र श्रीरामब्रह्मणि योनिं निष्ठां सकलशुभयोनिं भक्तिं सकलश्रेयोयोनिं शरणागतिं वा कृण्वसे पुरुषे 'कृणु' धातुः करोत्यर्थः श्रौतः **कृणु कुचेषु नः** (भा. १०/३१/७) इति भागवते प्रयुक्तः तस्यैव आत्मनेपदे लटि मध्यमपुरुषैकवचने **थासःसे** इत्यादेशे बाहुलकात् अडागमे द्वित्वे तल्लोपे यणि कृण्वसे पुरुषे इत्यर्थकम् । एवं भगवता प्रेरितः भक्त्या तं सेवमानः तस्मिन्नेव यदि शरणागतिं कुरुषे चेत् तदा ते तव भगवत्प्रपन्नस्य पूर्वं पूर्वकृतं भजनप्रतिबन्धकप्रत्यवायफलं कर्म सर्वाशुभं हि निश्चयेन न अक्षिपत् अत्र कालव्यत्ययेन **'लृडर्थे लङ'** एवं न अक्षिपत् इत्यस्य न क्षेप्स्यति संसारसागरे त्वां, यद्वा शरणागतं त्वां ते पूर्वम् अत्र सम्बन्धषष्ठी । एवं ते तव सम्बन्धिभूतं स्वामितया निर्णीतं पूर्वं सर्वेषां पूर्ववर्तमानं पुरातनं ब्रह्म निश्चयेन न अक्षिपत् नैव संसारसागरे क्षेप्स्यति । भगवान् हि स्वपदपदतो विमुखान् तमेव द्वेषभाजनं कुर्वतो जनान् संसारसागरे क्षिपति । यतोक्तं गीतायाम् —

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।। (गीता. १६/१८)

यत्तु अक्षिपत् इत्यस्य न पुनर्भोगहेतुत्वेन बध्नाति इति कैश्चिद् व्याख्यातं, यच्च न बन्धनं करिष्यति इति विवृतं हिन्द्यां, तदुभयमपि क्षिपधातोरर्थमजानतां ज्ञानाभाव-परिणामभूतम् । यदपि पूर्वमक्षिपत् इत्यस्य स्थाने पूर्तमक्षिपत् इति कुत्रचित् लेख उपलभ्यते सोऽपि न समीचीनः, पूर्तं हि स्मार्तं कर्म, तच्च इष्टशब्देन सार्धम् द्वन्द्वेन समस्तम् आकारपूर्वकम् इष्टापूर्तमिति प्रयुज्यते, **इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं**

(कठ. १/२/९) नहि श्रौतमिष्टशब्दमनादृत्य ततः पश्चाद्भावि स्मार्तपूर्तशब्दं प्रयुञ्जीत कोऽपि। भागवतेऽपि **स्वेष्टस्य पूर्तस्य च बोधदत्तयोः** (भा. १/५/२२) पूर्तशब्देन च इष्टशब्दस्य अध्याहारकल्पना नहि पश्चाद्भाविना पूर्वमध्याह्रियते तस्मात् पूर्वमित्येव न्याय्यम् ।।श्रीः।।

अथ भगवतः प्रार्थनाप्रकारं निर्दिष्य तद्द्वारैव विषयश्रोतःसंतरणोपायं निर्दिशति-

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।८।।

अन्वयः — विद्वान् त्रिरुन्नतं समं शरीरं स्थाप्य मनसा इन्द्रियाणि हृदि संनिवेश्य ब्रह्मोडुपेन सर्वाणि भयावहानि स्रोतांसि प्रतरेत ।

वेत्ति निजस्वामित्वेन ब्रह्म जानाति इति विद्वान् । विज्ञातभगवन्महात्म्य इति भावः एवंभूतः साधकः शरीरं शीर्यमाणं निजदेहं सफली चिकीर्षुः ।

त्रिरुन्नतम्—त्रीणि वक्षो, ग्रीवा शिरांसि, उन्नतानि उपरिकृतानि यस्मिन्, तथाभूतं त्रिरुन्नतम् अत्र रुडागमो बाहुलकात् दृढीकृतमेरुदण्डमिति भावः । **समम्**— सिंहासनविधिना समानावयवं स्थाप्य। अत्र संस्थाप्य इति सम् पूर्वकस्य ण्यन्त '**स्था**' धातोः पुकि क्तो ल्यपि समो लोपेऽपि नैव ल्यबभावो बाहुलकात् एवं स्थाप्य इत्यस्य संस्थाप्य इत्यर्थः । अनन्तरं मनसा निगृहीतानि इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि अत्रेन्द्रियशब्दः इन्द्रियवृत्तिपरः, ताः मनोनिगृहीताः सकला अपि इन्द्रियवृत्तीः हृदि चेतो नामान्तःकरणे संनिवेश्य अन्तर्निधाय सर्वाणि शब्दादीन् स्रोतासिं दर्शने क्षुद्राण्यपि प्रवाहतो नित्यानि नद्यः खलु स्रोतो बहुलतया दीर्घकालावधि जलयुक्ताः भवन्ति । तदभावे तासां सत्तापि संदेहग्रस्ता तथैव इयमपि मोहनदी वासनास्रोतसां नित्यसद्भावेन समवच्छिन्नप्रवाहा, विषयाः खलु यद्यपि फल्गवः तथाप्येकैके जीवं निमज्जयितुं क्षमाः, अत एव स्रोतांसि इति यथार्थमुपमानं दत्तमेभ्यः, अत एव भयावहानि भयं जन्ममृत्युरूपमावहन्ति आदरेण धारयन्ति इति भयवहानि तानि । कथं तर्तुं शक्यानि स्वल्पसत्वेन जीवेन ? अत आह— ब्रह्मोडुपेन उडुपं वंशत्रिणादिनिर्मितं तरणोपकरणं, भाषायां बेड़ा इति व्यवह्रियमाणम्। ब्रह्मैव उडुपमिति ब्रह्मोडुपं तेन ब्रह्मोडुपेन ब्रह्मणो भगवता परमेश्वरस्य प्रत्येकमङ्गं ब्रह्मैव— **आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिं** इति स्मृतेः । एवं ब्रह्मणः ब्रह्मरूपचरणकमलदीर्घनौकया **प्रतरेत** प्रकर्षेण तीर्त्वा पारं गच्छेत् प्राकर्ष्यञ्चात्र भगवत्भक्तानुग्रहरूपं, त एव संसारसागरे निमज्जतं जीवमिमं भगवत्पदकमलमहानावमारोप्य स्वयं तरन्ति तारयन्ति चैनं, तथा चाहुः देवा श्रीकृष्णगर्भस्तुतौ भागवते—

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाभोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहोभवान् ।।

(भाग. १०/२/३१)

भगवत्पदकमलरूपनौकयैव जीवः संसारसागरं तरति इति मन्त्रार्थः । समर्थयति च श्रीगोस्वामि पादः—

यत्पादपल्लवमेकमेव हि भवाम्भोधोस्तितीर्षावताम् ।

(मानस १ मंगलाचरण ६) ।।श्रीः।।

इदानीं भगवत्प्राप्त्युपयोगिसमाध्यंगतया प्रसंगेन प्राणायामविधिं निरूपयति प्राणन् इत्याना—

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ।।९।।

अप्रमत्तः विद्वान् इह संयुक्तचेष्टः प्राणान्प्रपीड्य प्राणे क्षीणे नासिकया उच्छ्वसीत दुष्टश्वयुक्तं वाहम् इव एनं मनः धारयेत इत्यन्वयः ।

अप्रमत्तः—मजनात् न प्रमादं कुर्वन् विद्वान् भगवन्तमन्तरेण मम नास्ति गतिरन्येति व्यवस्यन् इह शरीरे । **प्राणान्**— पूरकेण प्राणवायुं **प्रपीड्य** वामनासिकाछिद्रे पूरयित्वा भगवद् भजनोपयोगित्वात् प्राणानित्यत्र समादरे बहुवचनं, पश्चात् कुम्भकेन चिरकालं ध्यानपूर्वकमन्त्रजपविधिना निरुद्धप्राये प्राणे श्वासधारणबले क्षीणे अल्पशक्तिंगते नासिकया रेचकविधिना दक्षिणनासिकाछिद्रेण इतिमावः, **उच्छ्वसीत** उपरिगतं प्राणवायुं विस्रजेत् । किमनेन प्राणायामत्रैविध्येन ? अत आह— दुष्टाश्वेति अनेन प्राणायामेन सततविषयसेवनतया वायुरिव चंचलमुच्छृंखलं मनः सहजतया निरुद्ध्यते। कथम् ? अत आह— **दुष्टश्व**युक्तं दुष्टाश्वाः अनियन्त्रिताः हयाः तैः युक्तं वाहं रथरश्मिमिव, यत्तु केचन् वाहमित्यस्य यंतारमिति व्याचक्षते तदसंगतं कठोपनिषन्मंत्रविरुद्धत्वात् । तत्र हि—**मनः प्रग्रहमेव च** (कठ० १/३/३) । इत्थं मनसः प्रग्रहोपमेयता स्वीकृता **एनं** इदं मनः व्यत्ययेन पुंल्लिंगः, मनोधारणे किंभूमिकः साधकः ? अतआह- **संयुक्तचेष्टाः** संयुक्ताः भगवद्भजने संलग्नाः चेष्टा शारीरिकाः मानसाश्च व्यापाराः यस्य तथाभूतः मनः स्वान्तमप्रमत्तः प्रमादरहितः धारयेत् स्ववशं नयेत् ।।श्रीः।।

इदानीं योगाभ्यासस्य समधिकमुपयुक्तं स्थानं निर्दिशति । सम इत्यादिना—

समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।।

अन्वयस्तु सुगमः । अत्र समेत्यादीनि सप्तम्यन्तानि सप्तविशेषणानि सप्तम्यन्तस्य स्थाने इति विशेष्यदलस्य, तस्मिन् हि समाधिः अतस्तस्य सहकारिणां यमादीनां सप्तांगानां पोषकतयैव मन्ये । तादृक् संख्यानि समे, समतले शर्करा, धूलिः, वह्निः, पावकः, बालुकाः, लघुरेणवः ताभिर्वर्जिते शर्करादीनां सद्भावे हि शारीरिकविक्षेपाशङ्का, एवमेव शब्दाः श्रुतिविषयीभूताः भगवद्गुणगानव्यतिरिक्तलौकिकशृङ्गारनिबन्धनगानादयः जलं वासनोद्दीपकस्मरक्रीडोपयोगिसरोवरादिकं तदाश्रयाणि सरित्पुलिनानि तदादिभिः आदिपदेन पुष्पितकाननादीनां ग्रहणम्, तैरपि वर्जिते अनुकूले, योगसाधनानुरूपे, चक्षुं पीडयतीति चक्षुपीडनं सौन्दर्यप्रसाधनसमेतं तदतिरिक्ते, एवमेव गुहां नीरवगिरिकन्दरां निवातमत्यन्तशान्तं कुटीरादिकं नीरवं तदाश्रयतीति, गुहानिवाताश्रयणं तस्मिन् स्थानविशेषे मनः प्रयोजयेत् यथोक्तं योगमार्गेण भगवति संयोजयेत् इति भावः ।।श्रीः।।

इदानीं सायुज्यवतो योगिनः दृष्टिगोचरीभूतानां संग्रहं निरवक्ति—

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ।।११।।

अन्वयस्तु सुगमः । तथा च योगे योगप्रक्रियायां नीहारः तुषारावर्णविशेषः धूमः आग्नेयः अर्कः सूर्यः अनिलो वायुः अनलः पावकः तेषाम्, एवमेव इमानि रूपाणि सूर्यमण्डलगामिनां, चन्द्रमण्डलीयानान्तु खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः, विद्युत चपला, स्फटिकं श्वेतमणिः, शशी चन्द्रः, तेषां एवम् नवानां रूपाणि साधकस्य ब्रह्मणि ब्रह्मविषये अभिव्यक्तिकराणि प्राकट्यसूचकानि पुरःसराणि अग्रेसराणि भवन्ति इति शेषः ।।श्रीः।।

अथ योगसिद्धिं गतवतः साधकस्य देहवैचित्र्यं वर्णयति—

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।।१२।।

पृथ्वी-जल-तेजो-वायु-आकाशानि पञ्चभूतानि इमानि यदा समुत्थितानि भवन्ति तदैव कर्मबन्धनानि नास्यन्ते तदैव योगस्य चरमासिद्धिः प्राप्यते । अक्षरार्थस्तु पृथ्वी भूमिः, जलं तेजः, ज्योतिः अनिलः वायुः खं आकाशं एषां द्वन्द्वे सप्तम्यन्त्यैकवचनं तस्मिन् समुत्थिते शरीरमर्यादातः ऊपरिगते, एवमेव इमानि पञ्च पृथ्व्यादीनि आत्मनः स्वरूपाणि यस्य तथाभूते तस्मित् योगगुणे प्रवृत्ते सक्रिये एवं योगाग्निमयं योगपावकरूपं शरीरं विशिष्टं देहं प्राप्तस्य तस्य साधकस्य रोगः शारीरिको व्याधिः जरा वृद्धावस्था मृत्युः मरणमपि न भवन्तीति भावः ।।श्रीः।।

इदानीं यौगिकक्रियायाः शरीरे कः प्रभावः इत्यत आह—

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ।।१३।।

अन्वयः सुगमः । योगस्य अष्टानाम् अङ्गानां सम्यक् साधनेन शरीरे अष्टौ विशेषा आगच्छन्ति । लघुत्वं लघुता, आरोग्यं शारीराणां मानसानां च रोगाणामभावः । अलोलुपत्वं विषयेष्वनासक्तिः, वर्णप्रसादं वर्णयति मनोभावमभिव्यक्तीकरोति स वर्णः आननाकारः तस्य प्रसादं प्रसन्नता, स्वरे सौष्ठवं कण्ठावरोधकाभावः । मूलकं शुभो गन्धः नैर्मल्यंजनितः अल्पं मूत्रपुरीषं अन्नस्य सम्यक् परिपाकात् तयोः स्वल्पता, इमामेव प्रथमां योगप्रवृत्तिं योगप्रतिक्रियां वदन्ति योगिनः इति शेषः ।।श्रीः।।

अथात्मदर्शनफलं विवृणोति बिम्बोपमानेन—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वत्सत्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।।१४।।

अन्वयः— यथा एव मृदया उपलिप्तम् तत् सुधान्तम् तेजोमयम् भ्राजते तत् वत् सत्वम् प्रसमीक्ष्य एकः देही वीतशोकः कृतार्थः भवते ।

यथा एवं, येन प्रकारेण बिम्बम्, सुवर्णरचितम् आभूषणादिकं रजतं वा, वस्तुतस्तु बिम्बं इष्टकानिर्मितं कुड्यमेव, न खलु सुवर्णं लोके सुधया स्वच्छीक्रीयते यत्तु सुधान्तमित्यस्य सुधौतमित्यर्थं व्याचक्षते स तु शब्दबलात्कारः । मृदया, मार्ष्टीति मृदा "आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा" इति नियमेन टाप् । एवं मृदया धूल्या अवलिप्तं मलिनीकृतं पश्चात् तदेव सुधान्तं सुधया चूर्णेन लेपनमन्ते पश्चात् यस्य तत्र सुधान्तं पूर्वं रजसा मलिनं अन्ते च तदेव सुधया स्वच्छीकृतं तेजोमयं परमप्रकाशयुक्तं भ्राजते दीप्यते सुस्पष्टं विलोकनार्थं भवतीति भावः । तद्वा तेनैव प्रकारेण सत्वम् , अन्तःकरणं पूर्वं रजोगुणेन मलीनीकृतं पश्चात् च भक्तिसुधया धवलितं प्रसमीक्ष्य विभाव्य तत्रैव दर्पणीभूते परमेश्वरं दृष्ट्वा, देही देहः भगवद्भजनमहिम्ना प्रशस्तस्तस्येति देही परमेश्वरभक्तपावनीकृतशरीर इति भावः । एकः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिमिथ्यात्मबुद्धिरहितः परमात्मपरिकरप्रधानः एक इत्यस्य प्रधान इत्यर्थः, किं मूलकः ? इति चेत् अमरकोष एवात्र मूलम् । **एकोऽन्यार्थे प्रधाने च** इत्यमरः । कृतार्थः समधिकृतः याथात्म्यबोधरूपार्थः याथात्मबोधश्चात्र सेवकसेव्यभावज्ञानरूपः । वीतः विगतः परमेश्वररूपेष्टलाभेन निजेष्टवियोगजनितदुःखरूपः शोकः यस्मात् स वीतशोकः, भवते व्यत्ययादात्मनेपदं भवतीत्यर्थः । मन्त्रार्थस्त्वयम् यथापूर्वम् आगन्तुकरजोराशिभिमलिनीकृतम् कुड्यम् ,

तिरोहिततेजस्कम् परन्तु पश्चात् सुधया धवलीकृतं भूयस्तेजसा शुद्ध्यते । तथैवा विद्यारजसा भग्नतेजसि चेतसि नैव परमेश्वरस्य प्रतिबिम्बनं भवति । परन्तु भगवद्भक्तिसुधया निर्मलीकृते स्वान्ते दर्पण इव भूयो भासते भास्वानिव भगवान्, तदैव स्वस्वरूपं विज्ञाय सार्वकालिकतया परमात्मनः साहचर्यमुपैति नित्यपरिकरभावापन्नो जीवात्मा कृतार्थो भवति ।।श्रीः।।

इदानीं जीवब्रह्मणोः सुस्पष्टं भिदां विवृणोति यदेत्यादि—

यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।१५।।

अन्वयः —तु यदा इह दीपोपमेन आत्मतत्वेन युक्तः ब्रह्मतत्वं प्रपश्येत् (तदा) अजम् ध्रुवम् सर्वतत्वैः विशुद्धम् देवम् ज्ञात्वा सर्वपाशैः मुच्यते ।

यदा, यस्मिन् समये, इह अस्मिन्नेव जीवने, दीपोपमेन दीपतुल्येन यथा दीपकेन तमस्यपि सामान्यो लोकः सूक्ष्ममपि वस्तु विलोकयति तद्वत् इति भावः । आत्मनः परमात्मदासभूतस्य जीवस्य, तत्वं विशेषो गुणः स चानन्यभजनरूपः तेनैव युक्तः परमात्मसाधने लग्नः, ब्रह्मतत्वं परमेश्वरयथार्थतां प्रपश्येत् प्राकर्षेण सम्बन्धनिश्चयरूपेण साक्षात् कुरुते । तदैव तं , अजं संसारिण इव जन्मरहितं, ध्रुवं न केनापि च्यावयितुं शक्यम्, सर्वतत्वैः इन्द्रियादिभिः विशुद्धं, देवं भक्तैः सह क्रीडन्तं ज्ञात्वा निजनाथत्वेन निश्चित्य सर्वपाशैः अविद्याकल्पितैः कामादिभिः मुच्यते मुक्तः क्रियते । अनयापि श्रुत्या तृतीयान्तद्वितीयान्तप्रयोगतः ब्रह्मजीवयोः भेदः साधितः ।।श्रीः।।

इदानीं जीवात्मदिदृक्षाविषयब्रह्मणः सर्वव्यापकतां व्याहरति । एष इत्यादिना—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।।१६।।

ह एषः देवः सर्वाः प्रदिशः नु (तिष्ठति) ह एषः पूर्वो ह जातः उ स गर्भे अन्तः स एव जातः सः जनिष्यमाणः सर्वतोमुखः जनान् प्रत्यङ्तिष्ठति इत्यन्वयः । ह निश्चयेन एषः सगुणरूपः परमेश्वरः देव दिव्यज्योतिर्मयः सर्वाः पूर्वाद्याः प्रदिशः आग्नेय्याद्याःनु प्रसिद्धतया समधितिष्ठति स एव ह प्रसिद्धः । पूर्वः जातः हिरण्यगर्भरूपेण भावः । सह निश्चयेन गर्भे अन्तः कौशल्यादिजठरे इति भावः । स एव परमेश्वरः जातः

श्रीरामकृष्णादिरूपेण गृहीतलीलावतार: स: परमात्मा जनिष्यमाण भविष्यति कलियुगान्ते कल्कि अवतारं स्वीकरिष्यमाण: । तथोक्तं भागवते—

अथासौ युगसन्ध्यायां दस्यु प्रायेषु राजसु ।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ।। (भा. १/३/२५)

एवं सर्वतोमुख: सर्वव्यापी, जनान् निजभक्तान् प्रत्यक् प्रत्यक्षीकृत्य तिष्ठति तेषां नयनविषयो भूत्वा विराजते ।।श्री:।।

अथ विविभगमयन्निममध्यायं सर्वव्यापिने परमात्मने नमस्कारं निवेदयति यो इत्यादिना—

यो देवो अग्नौ य अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ।।१७।।

अन्वय: सरल: । य: श्रुतिप्रसिद्ध:, देव: द्युतिमान् परमात्मा, अग्नौ पावके अपि तेजोरूपेण विराजते **तेजश्चास्मि विभावसौ** (गीता ७/९) य: परमात्मा अप्सु जले रसरूपेण तिष्ठति **रसोऽहमप्सु कौन्तेयः** (गीता ७/८)

इति स्मृते: । य: परमात्मा विश्वं सम्पूर्णं भुवनमतलादिं सत्यपर्यन्तम् आविवेश निजतेजसा आविष्टो बभूव । य: ओषधीषु रसात्मक:

सोमः सोमो भूत्वा रसात्मके (गीता १५/१४) इति स्मृते: ।

य: वनस्पतिषु जीवनरूप: ओषधय: लता-तृण-वीरुध: वनस्पतयश्च विशाल-वृक्षा इति विवेक:। तस्मै देवाय श्रीरामाख्याय ब्रह्मणे सर्वेषाम् परमप्रकाशकाय । यथोक्तं मानसे—

सब कर परम प्रकाशक जोई । राम अनादि अवध पति सोई ।।
(मानस १/११७/६)

नमो नम: अत्र नित्यार्थे द्विर्वचनं नित्यमेव नमस्कारोऽस्तु मे ।।श्री:।।

इति श्रीचित्रकूटनिवासि सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वरजगदगुरुरामानन्दाचार्यपदवीक श्रीरामभद्राचार्य प्रणीतेः श्रीराघवकृपाभाष्ये श्वेताश्वतरोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः।।

।। श्री राघवः शान्तनोतु ।।

।। श्री राघवोविजयते तराम् ।।

।। श्री रामानन्दाचार्याय नमः ।।

।। अथ तृतीयोऽध्यायः ।।

परमात्मा खलु परमानन्दस्वरूपः, यथा सितायाः असकृत् समास्वादने समनुभूयते वागगोचर आनन्दः, यथा वा रसालफलस्य वारम्वारं चोषणेन न तृप्यति मनः तथैव श्रुतिरपि पौनःपुन्येन समभ्यसन्ती तमानन्दमयं परमात्मानं नैव तृप्तिं व्रजति । अतस्तमेवार्थमाह, यथोक्तं बादरायणाचार्येण **आनन्दमयोऽभ्यासात्** अभ्यासादत्र हेतौ पञ्चमी, यतोऽस्य पौनःपुन्येनाभ्यासः अतोऽयमानन्दमयः । यथा निरतिशयस्वादसम्पन्नं सुधामयं मिष्ठान्नं नैकधा रस्यते परं न तृप्यते, तथैव परमात्मगुणान् गायन्ती श्रुतिरपि नैव तृप्तिं लभते, अतो द्वितीयाध्याये चर्चितचरमपि तृतीयेऽध्याये पुनरपि वर्णयितुमारभते । य इत्यादिना—

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।१।।

अन्वयः—यः एकः ईशनीभिःजालवान् यश्च ईशनीभिः सर्वान् लोकान् ईशते यः एकः उद्भवे सम्भवे च एतत् ये विदुः ते अमृता भवन्ति ।

यः एकः केवलः, ईशनीभिः ईशते कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं क्षमन्ते तच्छीलाः इति ईशिन्यः ईशनी अघटितघटनापटीयसी भगवद्योगमाया तत्रैव आदरार्थे बहुवचनम् ईशिन्यः ताभिः ईशनीभिः योगमायया युक्तः जालं जगत्, यथा जाले कपोताः मत्स्यादयश्च बध्यन्ते तथैव जीवाः जगज्जालेऽस्मिन् तज्जालं जगद्रूपमस्ति अस्य निन्दितत्वेन इति जालवान् । अत्र निन्दायां मतुप् । स च प्रकृत्यर्थविशेषणं न तु प्रत्ययार्थस्य षष्ठ्यर्थश्चात्र धार्यधारकभावरूपसम्बन्धः । परमात्मैव खलु कैवर्तक इव जगज्जालं धारयति । ईशनीभिः उत्पत्तिपालनप्रलयक्षमाभिः ब्रह्मविष्णुरुद्रसंज्ञाभिः सर्वान् लोकान् ईशते जन्मस्थितिभङ्गेषु शास्ति । यः एकः प्रधानः सम्भवे उत्पत्तौ उद्भवे उत्कर्षे जगतस्तिष्ठति एतत् एवं गुणगणविशिष्टं परब्रह्म ये साधकाः विदुः निजसेव्यत्वेन जानन्ति ते अमृताः मरणधर्मवर्जिताः भगवन्नित्यपरिकराः भवन्ति सम्पद्यन्ते इति भावः ।।श्रीः।।

साम्प्रतं पूर्वोक्तस्यैव परमात्मनः सर्वव्यापकतां महता समारोहेण प्रतिपादयति । यथा काचिद् कुलाङ्गना समयिकानुरागवशंवदमानसा निजप्राणवल्लभं महतादरेण वारं वारं प्रशंसति, तथैवैषा श्रुतिरपि समस्तनिगमतात्पर्यरूपं निजप्राणेश्वरं श्रीरामाभिधं ब्रह्म आनन्दातिरेकेण प्रशंसन्ती भूयो भूयस्तृप्तिं न याति एक इत्यादिना—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ।।२।।

अन्वयः— हि एकः रुद्रः द्वितीयाय न तस्थुः यः इमान् लोकान् ईशनीभिः ईशते (स एव) विश्वा भुवनानि संसृज्य अन्तकाले संचुकोच स एव जनान् प्रत्यग् तिष्ठति इत्यन्वयः ।

इन्द्रवरुणाग्निरुद्रप्रभृतिभिः श्रौतानि प्रातिपदिकानि परमेश्वरस्यैव वाचकानि मुख्यवृत्या । गौणवृत्या भवन्तु नाम तत्तद् देवाभिधानानि, हि यतो हेतोः रुद्रः रोदयति निशाचरान् स्वभक्तहृदयस्थान् वा कामादिविकारान् यः स रुद्रः। यद्वा रोदिति बालकरूपः कौसल्यायाः पुरस्तात् पयः पानाय यः स रुद्रः। एवंभूतो भगवान् एकः इतरसहायनिरपेक्षः द्वितीयाय तदतिरिक्ताय देवान्तराय न तस्थुः चिन्तयितुं नोपस्थिताय ब्रह्मविदाय, यद्वा द्वितीयाय इति क्रियार्थोपपदचतुर्थी भगवदव्यतिरिक्तं द्वितीयं तत्वमध्यौवसितुं न स्थिता "**तीयस्य ङित्सु वा** इति वार्तिकेन सर्वनामसंज्ञाया विकल्पेनास्मै । अथ सकलसाधननिरपेक्षः सन् परमात्मा किं करोति ? अत आह— यः ईशनीभिः सर्वसमर्थया समादरणीयया योगमायाया इमान् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तान् लोकान् प्राणिनः ईशते गणकार्यस्यानित्यत्वाच्छपोलुङ् न, तथा च ईशते क्षमते इति भावः । स एवं विश्वाभुवनानि सम्पूर्णानि ब्रह्माण्डानि संसृज्य रचयित्वा, गोपाः गोपायतीति गोपाः रक्षको भूत्वा विष्णुरूपेण पुनः अन्तकाले शङ्करतनुः संचुकोच महाप्रलये भूतानि संद्धतवान्, यद्वा संचुकोच इति लिट् लकारः व्यत्ययेन लडर्थः । प्रतिप्रलयं भूतानि संहरतीत्यर्थः, एवं ब्रह्मरूपेण सृष्टिं विरचय्य विष्णुरूपेण पालयित्वा शिवरूपेण संहत्य निजरूपेण किं करोति ? अत आह, जनान् निजपदपद्मप्रपन्नान् प्रत्यक् प्रत्यक्षविषयान् कृत्वा तेषां पुरस्तिष्ठति । इत्यनेन ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वपालकत्वसंहारकत्व रूपाणि सर्वतोमुखानि सामर्थ्यानि कथयित्वा पुनरन्तिमेन चरणेन निजभक्तनयनानन्ददायकत्वमुक्तम् ।।श्रीः।।

अधुना भूयोऽपि परमात्मनः सर्वशक्तिमत्तां ध्यायति—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ।।३।।

अन्वयः— विश्वतश्चक्षुः उत् विश्वतोमुखः विश्वतोबाहुः उत विश्वतस्पात् द्यावाभूमी जनयन् एकः देवः बाहुभ्यां संधमति पतत्रैः सं (धमति) इत्यन्वयः ।

भगवान् खलु विराड्रूपः, समेषां प्राणिभृतां चक्षुर्मुखबाहुपादाः भगवदीया एव भगवद्दत्ताश्च । भगवान् किल सर्वानाविश्य सर्वेषां चक्षुर्मुखबाहुपद्भिः दर्शनाशन-ग्रहणगमनान्यनुतिष्ठतीतिप्राञ्चः । परेतु सर्वशक्तिमत्त्वात् प्रत्येकप्राणिनः कर्मसाक्षित्वाच्च लीलागृहीततनुःपरमेश्वर एव सर्वतश्चक्षुर्मुखबाहुचरणवताटीकत इत्याहुः । तथा च विश्वतः सर्वत्र विश्वशब्दो हि सर्वपर्यायः तत्र तसिरधिकरणार्थः । विश्वतः चक्षूंसि नेत्राणि यस्य तथाभूतः अत एव समेषाम् शुभाशुभाननुपश्यति । विश्वतः परितः मुखानि वदनानि यस्य स विश्वतोमुखः अत एव सर्वतः समर्पितानि पत्रपुष्पफलजलानि स्वीकरोति । यथोक्तं श्रीमुखेन—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।। (गीता ९/२६)

विश्वतः सर्वत्र बाहवः भुजाः यस्य स विश्वतोबाहुः अत एव समत्र स्वभक्तान् परित्रायते । विश्वतः सर्वत्र पादाः चरणाः यस्य स विश्वतस्पात् 'कस्कादित्वात्' खरि परेऽपि सकारे विसर्गस्य सकारः, एवं सर्वत्र सर्वाङ्गः एकः अद्वितीयः देवः स्तूयमानः मोदमानश्च निजानन्देन, द्यावाभूमी उपलक्षणत्वात् ऊर्ध्वाधस्तनलोकान् जनयन् सृष्टिकाले स्वशरीरतः प्रादुर्भावयन् मनुष्यान् बाहुभ्यां बाहूपलक्षितसामर्थ्येन संधमति योजयति । पक्षिणश्च पतत्रैः पक्षैः पक्षोपलक्षितजीवनीयक्रियया समयोजयति । यद्वा सर्वतश्चक्षुर्मुखभुजांघ्रिमान् भवन्नपि निजयोगमायया द्यावाभूम्युपलक्षितपरावरलोकान् सृजन्नपि अवतारकाले श्रीराघवत्वमुपेतः बाहूभ्यां द्वाभ्यां एव भुजाभ्यां द्विभुजो भूत्वा रावणं प्रतिनिक्षिप्तैः संपतत्रैः दशवदनवदनश्रेणीषु लक्ष्यतया सम्यक् पतनशीलैः वाणैः धमति प्रतिकल्पमेव रावणवंशवेणुवनं निजशरानलेन भस्मसात् करोति इति नव्याः ।।श्रीः।।

इदानीं सर्वव्यापकस्य ब्राह्मण एव समधिकमैश्वर्यमनुस्मरन् तस्मादेव विशुद्ध-बुद्धिलाभं निश्चिन्वन् तदर्थं तमेव प्रार्थयते यो इत्यादिना—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।।४।।

यः देवानां प्रभवः च उद्भवः (यः) च विश्वाधिपः रुद्रः महर्षिः (यः) पूर्वं हिरण्यगर्भं जनयामास सः नः शुभया बुद्ध्या संयुनक्तु इत्यन्वयः । यः पूर्वमन्त्रोक्तगुणगणविशिष्टः देवानां इन्द्रादिसुराणां प्रभवः प्रभवन्ति प्रकाशन्ते स्व स्व कार्यक्षमाः भवन्ति यस्मात् तथाभूतः सकलगुणगणचेतनाप्रदाय इति भावः ।

देवा हि परमात्मनः सकासतो लब्धनिजनिजकार्यसामर्थ्याः प्रभवन्ति स्वं स्वं अधिकारमनुष्ठातुम् । अथवा देवानां प्राणिजीवनभूतानां महदादीनां प्रभवः सामर्थ्य-दाता, तथा च प्रभवन्ति क्षमन्ते निजनिजकार्येषु येन स प्रभवः । इत्थं हि भागवते गीयते भगवतारचिता अपि महदादयो यदा स्व-स्वकार्यकरणे न प्रबभूवुः तदा परमात्मानं स्तुत्या प्रसाद्य ततो लब्धसामर्थ्याः क्षमा जाताः । तद्यथा—

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ।।
कालसंज्ञां तदा देवीं विभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः ।
त्रयोविंशति तत्वानां गणं युगपदाविशत् ।।

(भागवत ३/६/१/)

उद्भवः जन्मस्थानं उद्भवन्ति यस्मात् स उद्भवः इति व्युत्पत्तेः अत्रापादानर्थको बाहुलकात् धः, विश्वेषां समेषां जनानां अधिपः शासकः इति विश्वाधिपः, अथवा विश्वस्य जगतः अधिपः रक्षकः विश्वाधिपः, अथवा विश्वानाम् अनन्तकोटिब्रह्माण्डानाम् अधिपः समधिकृतत्राता इति विश्वाधिपः रुद्रः विख्यातचरः । अथवा रुदन्ति क्रन्दन्ति भगवत् पद-पद्मप्रपन्नाः संसारसागरभीतेः एते इति रुद्रत् 'कर्तरि क्विप्' तेभ्यो रुद्भ्यो राति ददात्यभयमिति रुद्रः । महर्षिः महांश्चासौ ऋषिः इति महर्षिः, अथवा महीयन्ते पूजयन्ति निर्भरभक्त्या ये ते महाः भगवदनन्यभक्ता हनुमदादयः तानेव ऋषति गच्छति दिदृक्षुः सन् यः सः महर्षिः । मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः (बा. ४/९/१) इति स्मृतेः यः हिरण्यगर्भं हिरण्यं तेजः गर्भेः अन्तःकरणे वेदवाङ्मयरूपेण विद्यमानो यस्य स हिरण्यगर्भः ब्रह्मा, तं हिरण्यगर्भं ब्रह्माणमेव पूर्वं सृष्टेः प्राक् जनयामास निजनाभि-कमलात् सम्भावयांबभूव स एव सर्वसामर्थवान् भगवान् नः अस्मद्विधान् साधकान् बुद्ध्या निजपदपद्मपरागमकरन्दमधुव्रतया मत्या संयुनक्तु सनाथयतु । अत्र प्रार्थनायां लोट् ।।श्रीः।।

अथ मन्त्रद्वयेन खलनिग्रहार्थं रौद्रमापन्नं परब्रह्मपरमात्मानमनुनयति । याते इत्यादिना,

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ।।५।।

अन्वयः — हे रुद्र! हे गिरिशन्त! ते या शिवा अघोरा पापकाशिनी तनुः (अस्ति) तया शन्तमया तन्वा नः अभिचाकशीहि, इत्यन्वयः ।

हे रुद्र ! खलक्रन्दनहेतो ! हे गिरिशन्त ! गिरौ कैलाशे तिष्ठन् शं कल्याणं तनोतीति गिरिशन्तः तत् सम्बुद्धौ हे गिरिशन्त ! अथवा गिरिस्थानां तपसे गुहा

प्रविष्टानां शं कल्याणं तनोति तथाभूतः तत् सम्बुद्धौ यत्तु गिरौ हिमालये शन्तनोति इति व्याख्यातं तदप्रासंगिकम्। कैलासस्यैव शिवनिवासश्रवणात् तथा सर्वजनप्रसिद्धेः। **ते तव या** सर्वजनसुखप्रदा **शिवा**, परमकल्याणमयी **अघोरा**, शान्ता **पापकाशिनी**, **अघनाशिनी तनुः**, मूर्तिः **तया** श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासप्रसिद्धया गङ्गातरङ्गरमणीय-जटाकलापया पार्वतीफणिबालेन्दुरश्मिमन्दारमालया संश्रितभूतिभुजङ्गकालकूटमुण्डमालया कर्पूरगौररसालया समलङ्कृतवामाङ्गशैलराजबालिकया त्रिलोकपालिकया शन्तमया कल्याणरूपया तन्वा भक्तनयनसुभगमूर्त्या युक्तस्त्रिलोचनस्त्वं नः अस्मान् अभिचाकशीहि करुणाकलितचन्द्रलोचनेन पश्य। अभिचाकशीहि इति पुनः पुनः अतिशयेनाभिचक्ष्व इत्यर्थे अभिपूर्वकस्य दर्शनार्थकस्य चक्षि धातोः यङ्लुगन्ते विधिलिङ्लकारे मध्यमपुरुषैकवचनरूपमिदम्। ननु विरुद्धमेतत् चक्षिङ् अव्यक्तायां वाचि इति पाणिनीयवचनात् तस्य व्याख्यानरूपार्थप्रसिद्धेः ? इति चेन् न **अनेकार्था: हि धातवः** इति परिभाषया **परौ भुवोऽवज्ञाने** इति सूत्रे अवज्ञानग्रहणज्ञापितया तस्य दर्शनार्थेऽप्यदोषात्। अतएव **चक्षोः सूर्यो अजायत** इति संगच्छते। चक्षुः शब्दो हि चक्षिङ् धातोरेव निष्पद्यते तथा हि चक्षते विलोकयन्ति जनाः येन तत् चक्षुरिति व्युत्पत्तिः। मन्त्रोऽयं श्रीरामपरकतयापि व्याख्यायते। तथा हि— निहत्य रावणं रौद्ररसमापन्नं षडैश्वर्यसम्पन्नं भगवन्तं श्रीरामं समनुनयन्ति महर्षयः, हे रुद्र ! रोदयति सर्वाः रिपुपत्नीः निहत्य तत्पतीन् यः स रुद्रः तत् सम्बुद्धौ हे रौद्ररसविग्रह श्रीराम ! ते, तव या, सकललोकलोचनाभिरामा शिवा, कल्याणमयी अघोरा, घोरानाम क्रूरा तद्भिन्ना अतिसौम्या धनुर्बाणनिषङ्गजटामुकुटोपलक्षिता तनुः श्रीमूर्तिः नवजलधरनीला अस्ति। हे गिरिशन्त ! गिरौ चित्रकूटे शं कल्याणं तनोति स गिरिशन्तः अथवा गिरिस्थानां महर्षीणां शन्तनोति तथाभूतः हे सकलमुनिगणश्रेयो विधायिन् ! तया कोटिकोटिकन्दर्पकमनीयया शन्तमया सकलकल्याणगुणगणनिलयरूपया तन्वा श्रीमूर्त्या नः अस्मान् प्रार्थयमानान् साधकान् अभिचाकशीः सकृदपि करुणादृष्ट्या विलोकय ।।श्रीः।।

भूयोऽपि तमेवार्थं द्रढयितुमाह यामित्यादि —

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु माहिँसीः पुरुषं जगत्।।६।।

अन्वयः —हे गिरिशन्त ! याम् इषुम् अस्तवे हस्ते बिभर्षि हे गिरित्र ! ताम् शिवाम् कुरु पुरुषम् जगत् मा हिंसीः, इत्यन्वयः।

हे गिरिशन्त!, हे गिरिसदृशपरोपकारी जनकल्याणप्रद ! श्रीरामपक्षे हे गिरिगुहाप्रविष्टतपस्वीजनकल्याणकारिन् ! याम् , अमोघलक्ष्याम् इषुम् , इष्णाति हिनस्ति शत्रून् या सा इषुः हिंसार्थकादिषु धातोः औणादिकः अण्प्रत्ययः ताम् इषुम् बाणम् , अस्तवे शत्रुषु निक्षेप्तुं हस्ते वामे करे विभर्षि धारयसि, ताम् अतिभयावहाम् इषुम् शिवां कल्याणमयीं कुरु । हे गिरित्र ! गिरिं कैलाशं त्रायते इति गिरित्रः तत्सम्बोधने हे गिरित्र ! श्रीरामपक्षे गिरिं चित्रकूटं राक्षसेभ्यस्त्रायते इति गिरित्रः, अथवा गिरित्र इति सप्तम्यन्तं बाहुलकादसर्वनामत्वेऽपि त्रल् । एवं गिरित्र गिरिकन्दरेषु वर्तमानं पुरुषं पुरुषाराधनतत्परं साधकवर्गं जगत् ततोऽन्यदपि जडचेतनात्मकं मा हिंसीः मा जहि ।।श्रीः।। अथ भगवत्प्रार्थनाफलमाह । तत इति —

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ।।७।।

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं प्रार्थनायाः अनन्तरं ब्रह्म अशेषकारणवर्जितं परं अवस्थात्रयातीतं बृहन्तं सर्वापेक्षया समधिकं वर्धमानं, निचीयते ब्रह्म यस्मिन् तत् निकायं तत् अनतिक्रम्य इति, यथा निकायं हृदयदेशावकाशानुसारमिति भावः । सर्वभूतेषु निखिलप्राणिषु गूढं तिरोहितमहिमतया निष्क्रियं सन्तं विराजमानमेकमद्वितीयं विश्वस्य जडचेतनस्य जगतः परिवेष्टितारं परितः समाच्छादनशीलं, परमात्मा हि निजमहिम्ना निखिलं जगत् परिवेष्टयति । 'पादोऽस्येहाभवत्पुनः'' (शुक्ल यजु. ३१.३) इति श्रुतेः 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (गी. १०/४२) इति स्मृतेः । ईशं सर्वसमर्थम्, अथबा अकारो वासुदेवः तस्यापत्यं पुमान् इः कामः तस्य यः कामस्य ई सौन्दर्यलक्ष्मीः इति ई ताम् ईम् कोटि-कोटि-कन्दर्पदर्प-सौन्दर्यलक्ष्मीं स्यति निजशरीरसुषमया तनूकरोति इति ईशः, तं साक्षान्मन्मथमन्मथं ज्ञात्वा निजनाथत्वेन परिचित्य अमृताः मरणधर्मवर्जिताः भवन्ति, भगवतो नित्यशरीरं प्राप्य तन्नित्यपरिकरभावं लभन्ते इति भावः ।।श्रीः।।

भगवत् प्रपत्तिमिच्छतां स्वान्तेषु निरत्ययं प्रत्ययं जनयितुमाह—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।८।।

अहं एतं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् (वर्तमानं) महान्तं पुरुषं वेद तं एव विदित्वा अतिमृत्युम् एति अयनाय अन्यः पन्थाः न विद्यते । श्रुतिः परमकरुणा मातेवास्मद्विधान् विश्वासयन्ती महता समारोहेण घोषयति— अहं मदभिन्नाश्रुतिः संवादेऽत्र

श्वेताश्वतरः, एतं वेदान्तवेद्यम् आदित्यवर्णम्, आदित्यः सूर्यः तस्य इव वर्णः कान्तिर्यस्य तं परमज्योतिर्मयं तमसः अज्ञानान्धकारात् परस्तात् परीभूततया वर्तमानम्, अथवा तमसः तिमिरमयजगतः परस्तात् परस्मिन् साकेतादिलोके वर्तमानं महान्तं सुरासुरैरपि महीयमानं पुरुषं पुरि शरीरे उदयावच्छेदेन उ निश्चयेन हृत्तल्पे शेते इति पुरुषः, तं पुरुषाकृतिं परमात्मानं वेद निजसेव्यत्वेन जाने । किमनेन तव ज्ञानेन ? इत्यत आह— तं तादृशं तमालनीलं भक्तहृदये तमोहनं एव अत्र तमिति विशेष्येण संगतोऽयमेवकारः, तद् पदवाच्य परमात्मव्यतिरिक्तानां ज्ञेयत्वेन कल्पितानाम् इतरैरन्ययोगव्यवच्छेदार्थकतया समेषां योगं व्यवच्छिनत्ति । ननु व्याख्यानेऽस्मिन् (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः) (तरति शोकमात्मवित्) इत्यादि श्रुतिविरोधः ? मैवेत्थं तत्रात्मपदस्य परमात्मार्थवाचकत्वेन व्याख्याने विरोधपरिहारेणादोषात् । इत्थं निखिलहेयगुणवर्जितं सकलकल्याणगुणगणनिलयं परमात्मानमेव विदित्वा निजस्वामित्वेन निश्चित्य अतिमृत्युम् अतिक्रान्तः मृत्युम् इति अतिमृत्युः "अत्यादयः क्रान्त्याद्यर्थे द्वितीयया " इत वार्तिकेन तत्पुरुषसमासः । अतिमृत्युर्हि मरणमतीतः परमात्मा, अथवा मृत्युमतिक्रान्तः साकेतलोकः तं अतिमृत्युम् एति सायुज्यविधिना सालोक्यविधया वा प्राप्नोति । अयनाय गमनाय भगवत्पार्श्वे इति शेषः अन्यः भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वक-तच्चरणसरसीरुहशरणागत्यतिरिक्तः पन्थाः मार्गविशेषः न विद्यते त्रिकालेऽपि त्रिलोक्यामपि न वर्तत इति भावः । इत्यनेन शुष्कज्ञानावलम्बी आत्मज्ञानवादसिद्धान्तः परास्तः । श्रीरामपक्षेऽपि श्रुतिरेषा सुगमतया संगच्छते । तथा हि अहं श्रुतिः एतं मनुशतरुपातपः-प्रभावेण निखिललोकलोचनगोचरम् आदित्यवर्णम् आदित्यं सूर्यं वर्णयति तस्य वंशे आविर्भूय स्वयशसा तं ख्यापयति इत्यादित्यवर्णः, अथवा लंकासंग्रामाङ्गणे अगत्स्योपदेशेन आदित्यहृदयपाठमिषतः आदित्यं वर्णयति कीर्तयति इत्यदित्यवर्णः, अथवा आदित्य-मण्डले विराजमानः महर्षिभिः वर्ण्यते कीर्त्यते इत्यादित्यवर्णः, अत्र हि ण्यन्तवर्णधातोः पचादित्वात् कर्मण्यच् प्रत्ययः ततः सप्तम्यन्तेन आदित्यमण्डलशब्देन सह सुपसुपेति समासः शाकपार्थिवादित्वान्मण्डलशब्दलोपः। तम् आदित्यवर्णं तमम् अन्धकारं स्यति खण्डयति इति तमसाः तन्नाम्नी नदी तस्याः तमसः तमसानद्याः परस्तात् परस्मिन् तटे गतं पारंगतं वा महान्तं पुरुषं महापुरुषलक्षणं श्रीराघवं वेद उत्तरार्धं तु पूर्ववत् ।।श्रीः।।

परमेश्वरस्य परमानन्दमयत्वात् परमममतास्पदत्वाच्च निजप्राणवल्लभतया श्रुतिस्तदव्यापकतां भूयस्समभ्यसति । यस्मादिति —

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।।९।।

अन्वयः— यस्मात् किञ्चित् न परम् न अपरम् अस्ति यस्मात् कश्चित् न अणीयः न ज्यायः अस्ति एकः वृक्षः इव स्तब्धः दिवि तिष्ठति तेन पुरुषेण इदम् सर्वम् पूर्णम् । इत्यन्वयः ।

यस्मात् ब्रह्मणः अपेक्षया किञ्चिदपि वस्तु न परं नैव श्रेष्ठम् एवमेव यस्मात् तदपेक्षया किमप्यपरं वस्तुत्वबुद्ध्या नैवावशिष्यमाणमस्ति । तत्सत्तायाः सर्वभावेन सर्वदैव विद्यमानत्वात् तस्मात् ब्रह्मणः किमपि अणीयः लघुतरं नास्ति । प्राणेषु सर्वेषु लघिष्ठायाः पिपीलिकायाः अपि हृदये अन्तर्यामित्वेन वर्तमानत्वात् । ततः ज्यायः प्रशस्ततरमपि कश्चित् अत्र व्यत्ययाल्लिङ्गपरिणामः , किमपि वस्तु नास्ति सर्वतः श्रेष्ठस्यापि ब्रह्मणे भगवतः सकाशादेव लब्धजन्मत्वात् ।

वस्तुतस्त्वणीयस्त्वज्यायस्त्वविभागो भक्तज्ञानिभावविभागाभिप्रायेण भक्तानां कृते अणोरप्यणीयान् भगवान् । ज्ञानिनां कृते महतोऽपि महीयान् । एवं निखिलकल्याणगुणगणसागरो भगवान् निजभक्तसमक्षं प्रेमरसनाबद्धचरणकमलः क इव भवति ? अत उपमानमाह— वृक्षः इव विटप एव निश्चलः इति प्राञ्चः । वयं तु वृक्षः पनसवृक्षः इव भक्तप्रेमनिर्भरचेतस्तयापुलकपूर्णसर्वाङ्गः स्तब्धः निरुद्धसर्वचेष्टः इति व्याचक्ष्महे । तथा चाहुर्गोस्वामितुलसीदासचरणाः

मुनि मगमाझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ।।

स एव एकः अतुलनीयमहात्म्यः दिवि साकेतलोके तिष्ठति विराजते, तेन पुरुषेण पुराणपुरुषोत्तमेन भगवता श्रीरामेण ब्रह्मणा इदं दृश्यमानं सर्वं चराचरं प्रपञ्चं पूर्णं सुखसमृद्धम् ।।श्रीः।।

अथ ब्रह्मणो जगद्वैलक्ष्यण्यं तन्माहत्म्यं तदज्ञानदुष्परिणामं च सूचयति । तत इति—

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् ।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियान्ति ।।१०।।

अन्वयः सुगमः — तन्यते स्थूलनामरूपतया विस्तार्यते यत् अदस्तत् तस्मात् ततः जगतः विलक्षणं यत् अनिर्वचनीयरूपम् उत्तरतरम् अविनाशित्वादुत्कृष्टतरं सकलकार्यकारणातीततया अलौकिकं तद्ब्रह्म अरूपं चर्मचक्षुभिरदृष्टरूपम् । ननु कथं नास्ति रूपं यस्य तदरूपमिति न व्याख्यायते? **रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव** (कठ०-१/३/१२) इति श्रुतिवचनविरोधित्वात् । अत्र हि भगवतो रूपवत्वोक्तेश्च मद्व्याख्यानमेव ज्यायः । उक्तं च **यन्मे त्वदन्येन न दृष्टिपूर्वम्** (गीता ११/४७)

अत:स्पष्टयति भगवान् गीतायाम्, **न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेन स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।** अनामयं न सन्ति आमया: भवरोगा: यस्मिन् तदानामयम् । यद्वा नास्ति आमय: रावणादिशस्त्रप्रहारकृतव्रण: यस्मिन् तादृशम् । यथोक्तं मानसे **पश्यामि राममनामयम्** (मानस ६/१०७/९) एवं एतद् ब्रह्म ये ज्ञानिन: भक्तचेतस: विदु: निजस्वामित्वेन जानन्ति , ते अमृता: मरणधर्मशरीरवर्जिता: भगवन्नित्यपरिकरा: भवन्ति । अथ अन्यथाभावयुक्ता: इतरे भगवन्तं न जानन्तो निजनाथत्वेन दु:खप्रतिकूलवेदनीयमेव नान्यत् अपयन्ति पुन: पुनर्लभन्ते ।।श्री:।।

इदानीं सर्वजनसंदेहनिराशार्थं श्रुति: भगवत: साकारस्वरूपं निर्वक्तुं कण्ठरवेण भगवानिति व्याहरति यथा कोऽपि भगवानितिशब्दं श्रुतिबाह्यतया न शङ्केत । सर्वेत्यादिना

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वत्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ।।११।।

तस्मात् सर्वाननशिरोग्रीव: सर्वभूतगुहाशय: सर्वव्यापी सर्वगत: शिव: स: भगवान् इत्यन्वय: । मन्त्रेऽस्मिन् श्रुति: सुस्पष्टं भगवत्वमाह— तस्मात् हेत्वनुवादकोऽयं यतो हि तत् उत्तरतरम् अरूपमनामयं ततो हेतोरिति भाव: । सर्वत्र आननानि मुखानि शिरांसि मूर्धान: ग्रीवा: कण्ठा: सन्ति यस्य स सर्वाननशिरोग्रीव: । सर्वेषां चराचराणां भवन्ति इति भूतानि तेषां गुहासु अन्त:करणनाम्नेषु शेते शयनं करोति इति सर्वभूतगुहाशय: । सर्वव्यापी सर्वं व्याप्नोति तच्छील: तिलेषु तैलमित्यादि श्रुते: । सर्वगत: सर्वव्याप्त: शिव: कल्याणस्वरूप: स: सर्वसमर्थ: भगवान् भगानि ऐश्वर्यधर्मयशश्श्रीज्ञानवैराग्याणि तानि नित्यं सन्ति यस्मिन् स भगवान् अत्र नित्ययोगे मतुप् । तथोक्तं— **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः, ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा** । अत्र समग्रशब्द: अर्थानुरोधेन लिङ्गविपरिणामविधया षड्भिरन्वेति । तथा च समग्राणां ऐश्वर्यधर्मयशसां समग्राया: श्रिय: समग्रयो: ज्ञानवैराग्ययो: भगत्वम्, एवम् —

उत्पत्तिञ्च विनाशञ्च भूतानामगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ।।

तथा च—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्याण्यशेषतः ।
विना हेयगुणैर्यत्र तमाहुर्भगवानिति ।।

भगवत्वञ्च समग्रषडैश्वर्यनित्यसम्पत्तिमत्वं नित्यत्वेन भूतोत्पत्त्यादि षड्भावबोधवत्वं सकलहेयगुणवर्जितत्वे सति ज्ञानादि षड्वैशिष्ट्यवत्वं, परे तु एकसंसर्गावच्छेदेन-एककालावच्छेदेन एकाधिकरणतावच्छेदेन सकलविरुद्धधर्माश्रयतावच्छेदकतावत्वं भगवत्वमित्याहुः ।।श्रीः।।

भूयोऽपि श्रुतिः समादरातिशयान्निजप्राणपतिं प्रशंसति महानिति–

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ।।१२।।

महान् सकलचराचरपूजनीयः प्रभुः सर्वसामर्थ्यवान् पुरुषः अनन्तपौरुषसम्पन्नः सत्वस्य अन्तःकरणस्य एषः अयं परमात्मा प्रवर्तकः प्रेरकः भक्तानामिति शेषः । ईशानः सर्वशासकः ज्योतिः परमप्रकाशपुञ्जः अव्ययः न केनापि नाशयितुं शक्यः । इमामेव भगवद्विषयिणीं सुनिर्मलां विमलां प्राप्तिम् उपलब्धिम् आहुः सन्तः इति अध्यहार्यम् ।।श्रीः।।

अथ साधारणजनबोधैषया हृदि परमात्माकारं निर्धारयति । अङ्गुष्ठ इति—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।।१३।।

अन्वयः— पुरुषः आत्मा सदा जनानां हृदये अन्तः अङ्गुष्ठमात्रः संनिविष्टः मन्वीशः हृदा मनसो उपक्लृप्ता ये एतद् विदुः अमृता ते भवन्ति इत्यन्वयः ।

पुरुषः महापौरुषसम्पन्नः, आत्मा अतति सततं गच्छति भक्तानां समीपं स्मर्यमाणः यः सः आत्मा परमेश्वरः, एवंविधः सदा निरन्तरं जनानां जायन्ते इति जनाः जनिमन्तस्तेषां जनानां जनिमतामिति भावः । हृदये अन्तः नाभितो दशाङ्गुलमूर्ध्वं हृद्देशे । किमाचारःइत्यत् आह— अङ्गुष्ठमात्रः अङ्गुष्ठपरिमाणः प्रमाणार्थे मात्रच्, संनिविष्ठः विराजमानः, मनूनां स्वायम्भुवादीनां मन्त्राणं वा ईशः मन्वीशः ज्ञाता भवति । कोषानुसारेण हृत् मनः इति द्वावपि समानार्थकौ तथाहि **स्वान्तं हृन्मानसं मनः** इत्यमरः । तथाप्यत्र द्वयोरुच्चारणानुरोधेन श्रुतिहार्दमनुसृत्य द्वयोरर्थभेदो व्याख्यातः । एवं हि हृदा चेतसा मनसा स्वान्तेन उपक्लृप्तः निजस्वामित्वेन समीपतरनिश्चयविषयो भवति । एवं एतद् ये विदुस्ते अमृताः भवन्ति भगवन्नित्यकैंकर्यसौभाग्यभाजनानि भवन्ति।।श्रीः।।

अथ ब्रह्मणो विराट्रूपं निर्वक्ति—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।१४।।

सहस्राणि अनेकानि शीर्षाणि यस्य स सहस्रशीर्षा, सहस्राणि असंख्यानि अक्षीणि नेत्राणि यस्य सः सहस्राक्षः, एवं सहस्रसंख्याः अनेके पादाः यस्य सः सहस्रपात् एवं विधः पुरुषः नराकृतिः श्रीरामाभिधानः पूर्णः परमात्मा । सः भूमिं निखिलब्रह्माण्डानि भूम्युपलक्षणानि विश्वतः सर्वतः वृत्वा व्याप्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमाणं धारयन् बालाकारम् अत्यतिष्ठत् सर्वानतिक्रम्य तिष्ठतीति सन्तः । भगवान् हि सहस्रमुखैर्भक्तनैवेद्यं गृह्णन्, सहस्रचक्षुर्भिर्विलोकयन् भक्तान्, असंख्यचरणैः एकस्मिन्नेव काले विपुलभक्तान् कृतार्थयन्, सकलभुवनमावृत्य दशाङ्गुलमात्रः शिशुरूपो निजजनसेव्यतया विराजते इति वयम् ।।श्रीः।।

ननु सविशेषं ब्रह्मेदं जगति कुत्र तिष्ठति ? इत्यत आह—

पुरुष एवेदँ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।१५।।

यत् भूतं जातं यच्च भव्यम् भविष्यत् तत् सर्वं इदम्, पुरुषः अत्र पुरुषस्येति वक्तव्ये 'सुपां सुलुक्' इति सूत्रेण ङसः स्वादेशः, अर्थात् पुरुषः इति पुरुषस्य इत्यर्थकः । यत्तु पुरुष इति प्रथमैकवचनं मन्यन्ते तत् व्याकरणज्ञानशून्यत्वादेव बोध्यम् । तथा च यद्भूतं यद्भविष्यत् यत् अन्नेन अदनीयपदार्थेन करणेन अतिरोहति वर्धमान-मास्ते एवं त्रिकाललब्धजन्मजीवजातमिदं दृश्यमानं सर्वं सम्पूर्णमपि पुरुष एव पुरुषस्य एव इतिभावः । षष्ठीसम्बन्धार्थस्तु जन्यजनकभावरूपः । पुरुषजन्यं जगदिदमिति फलितं, कथमित्यत् आह— उत निश्चयेन सः अमृतत्वस्य मोक्षभावस्यापि ईशानः शासकः ।।श्रीः।।

भूयोऽपि सगुणसाकारब्रह्मणः सर्वतो हस्तचरणादिसद्भावं व्यवस्थापयन्ती श्रुतिः परमेश्वराकाराभाववादिनो निराकरोति, सर्व इति—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१६।।

अन्वयः सुगमः— तद् ब्रह्म सर्वतः पाणिपादं सर्वतः सर्वत्र अत्र सप्तम्यर्थे तसि, पाणयः पादश्च यस्य तत् सर्वतः पाणिपादम् सर्वत्र एव भक्तानां भावनानुसारं स हस्तचरणान्प्रकटय्य तं मनोरथं पूरयति इत्यर्थः । एवमेव सर्वतः सर्वत्र अक्षिणी नेत्राणि शिरांसि मूर्धानः मुखानि आननानि यस्य तत्, सर्वासु दिक्षुः वर्तमानान् भक्तान् भगवान् अक्षिभिः पश्यति बालकस्तान् मुखैश्चुम्बति शिरोभिश्च तत्समर्पितमाल्यादिकं वहतीत्यर्थः । एवमेव सर्वतः सर्वासु दिक्षु श्रुतयः कर्णानि सन्ति अस्येति सर्वतः श्रुतिमत् । अत्र नित्ययोगे मतुप्, सर्वत्रैव श्रवणं कृत्वा प्रणतक्रन्दनं नित्यं शृणोति नित्यश्रवणरूपार्थस्य बहुव्रीहावप्रतीतेर्मतुप् ! एवं लोके संसारे वर्तमानं सर्वमपि

चराचरमावृत्य निजमहिम्ना समाच्छाद्य तिष्ठति। अयमेव मन्त्रः गीतायाः त्रयोदशेऽध्यायेऽपि त्रयोदशश्लोकरूपेण यथानुपूर्वनिर्दिष्टः गोपालनन्दनस्य हि उपनिषद् गवीनां दोग्धत्वात्। यथोक्तं भारते—

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत् ।।श्रीः।।

भूयोऽपि तमेवार्थमभ्यसति—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ।।१७।।

सर्वेषामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां तत्सम्बन्धिगुणानामाभासः प्रतीतिः यस्मिन् तत् सर्वेन्द्रियगुणाभासं, भगवति सर्वेन्दियगुणानामाभासस्तिष्ठति। परन्तु नैव स सर्वेन्द्रियात्मकः ? इत्यत आह— सर्वैः इन्द्रियैः चक्षुरादिभिः विवर्जितमिन्द्रियातीतमिति भावः । एवं सर्वस्य जगतः प्रभुं नाथमीशानमीश्वरस्यादिशासकं सर्वस्य शरणं रक्षकं गृहं वा **शरणं गृहरक्षित्रोः** इति कोषात् बृहत् अतिशयेन वर्तमानमहं वेद । अत्र षण्णामपि पदानां द्वितीयान्तत्वानुरोधेन 'अहं वेदेति' माण्डुक्यप्लुत्या अष्टममन्त्रेणान्वयः ।।श्रीः।।

ननु एतावान् परमितशरीरावयवः परमात्मा अस्मच्छरीरेषु तिष्ठति न वेति जिज्ञासां समाधत्ते, नवद्वारे इति ।

नवद्वारे पुरे देही हꣳसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ।।१८।।

सर्वावयवोऽपि भगवान् सर्वस्य लोकस्य चराचारस्य वशी वशयिता नियन्तेति यावत्, हंसवत् इति हंसः पक्षीविशेषः। नवद्वारे नवानि-कर्णयोः द्वे चक्षुषोर्द्वे नासिकयोर्द्वे मुखस्येकम् अधस्तात् द्वे च द्वाराणि वायुः निःसरणमार्गाः यस्मिन् तादृशे पुरे देही देहवान् सगुणसाकाररूपः सन् लीलायते खेलति बहिश्च तिष्ठति ।।श्रीः।।

पुनर्ब्रह्मणो वैलक्षण्यं वर्णयति—

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।।१९।।

परमेश्वरो हि सकलविलक्षणो न सन्ति पाणिपादाः यस्य तथाभूतः अपाणिपादः जवः वेगः अस्ति अस्मिन् इति जवनः **लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यश्शने लचः** इत्यनेन पामादित्वान्नप्रत्ययः । गृहीता तथा हि पादमन्तरेणापि वेगवान् प्राकृतपाणिमन्तरापि

ग्रहणसामर्थ्यवान् इति हार्दम् । अत्र जवनत्वं पादधर्मः गृहीतृत्वं पाणिधर्मः द्वयोर्व्यतिक्रमे क्रमभङ्गालंकारः। एवं सः अचक्षुः चक्षुरेन्द्रियनिरपेक्षोऽपि पश्यति सकलमपि चाक्षुषप्रत्यक्षविषयं करोति । अकर्णः अनपेक्षकर्णेन्द्रियः शृणोति श्रावणसाक्षात्कारं करोति, सः वेद्यं ज्ञातुमर्हं वेत्ति जानाति, अस्य परमात्मनः तत् कृपामन्तरेण वेत्ता न अस्ति तम् अग्र्यम् आद्यं महान्तं महनीयं पुरुषं पूर्णकामं पुरुषमाहुः कथयन्ति ।।श्रीः।।

अधुना भूयोऽपि परमात्मानं विलक्षणतया प्रतिपाद्य तद्विलक्षणतया तत् कृपामेव तद् दर्शने साधनत्वेन निर्णयते—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।।२०।।

अयं आत्मा परमात्मा यस्तावत् भक्तानां समक्षम् अणोः लघुतमादपि परमाणोः अणीयान् लघुतरः यथास्य हृदये गुप्तो भवेत् एवं ज्ञानिनां समक्षं महतः महत्तमात् नभस्तत्वादपि महीयान् महत्तरः । स एव अस्य जन्तोः जीवस्य गुहायां हृदये निहितः परमाराध्यत्वेन धारितः, अक्रतुः क्रतुः संकल्पः तद्रहितः, वीतशोकः त्यक्तजगदिष्टवियोग-जनिततापः भगवत्येव तदिष्टदैवत्वात् धातुः प्रसादात् परमेश्वर कृपया महिमानं महत्वातिशय-मीशं परमात्मानं पश्यति नयनविषयं करोति ।।श्रीः।।

भूयोऽपि श्रुतिः साधिकारतया परमेश्वरं निजज्ञानतया प्रतिजानीते—

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ।।२१।।

अहं श्रुतिः विभुत्वात् सामर्थ्यात् सर्वात्मानं सर्वे आत्मानः जीवाः सन्ति यस्मिन् स सर्वात्मा तथाभूतं, सर्वगतं सर्वव्यापकं पुराणं पुरातनम् अजरं वृद्धावस्थारहितं पुरुषं पौरुषयुक्तं न तु क्लैव्ययक्तमहं वेद जानामि स्वभर्तृत्वेन अध्यवस्यामि । तस्य जन्मनिरोधं जन्माभावं प्रवदन्ति प्रवादतया व्यवहरन्ति । वस्तुतस्तु स भक्तप्रेमवशंवदः जन्मगृह्णाति एवमेव ब्रह्मवादिनः इत्थं नित्यं प्रवदन्ति प्रकर्षेण प्रतिपादयन्ति नित्यत्वेऽपि तदवतारे न विरोधः तद्वत्वात् ।।श्रीः।।

इति श्रीचित्रकूटनिवासि सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वरजगदगुरूरामानन्दाचार्यपदवीक श्रीरामभद्राचार्य प्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये श्वेताश्वतरोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः।।

।। श्री राघवः शान्तनोतु ।।

।। श्री राघवोविजयते तराम् ।।

।। श्री रामानन्दाचार्याय नमः ।।

।। अथ चतुर्थोऽध्यायः ।।

अथ देवाः खलु प्रार्थ्यमानाः द्रवन्तीति सार्वभौमसिद्धान्तानुरोधेन तृतीयाऽध्याये वर्णिताचिन्त्यासंख्यलोकोत्तरकल्याणगुणगणसिन्धुं तमार्तबन्धुं परमात्मानं तुरीयेऽपि तुरीयमेव भूयो द्वाविंशत्यामन्त्रैः प्रार्थयते । ननु ब्रह्मणो द्वैरूप्यं निर्गुणं सगुणं चेति सगुणं ब्रह्म खलु सर्वावयवम् **सर्वतः पाणिपादं तत्** (श्वेताश्वतर॰ ३/१६) निर्गुण ब्रह्म खलु रूपरहितम् **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्** कठो॰ १/३/१) तथा च सर्वावयवे सगुणब्रह्मणि प्रार्थना घटते तस्य सर्वतः श्रुतिमत्वात् **सर्वतः श्रुतिमल्लोके** (श्वेता॰ ३/१६) इति श्रुतेः । परञ्च निर्गुणे ब्रह्मण्यरूपे कथमुपपद्येत प्रार्थना इति चेन्न । अरूपस्यापि प्रार्थनाश्रवणयोग्यतावत्वोपपत्तेः । कर्णमन्तरापि परमात्मा सर्वं शृणोति तस्य हि हृषीकेशत्वात् **पश्यत्यचक्षुः शृणोत्यकर्णः** (श्वेता॰ ३/१९) वस्तुतस्तु सगुणनिर्गुणयोर्मध्ये नान्तरम् । एकस्मिन्नेव काले परमात्मा सगुणनिर्गुणश्चापि, गुणैः सह वर्तमान:सगुणः, तथा च प्रकटितभक्तकल्याणकारिकारुण्यादिसद्‌गुणत्वं सगुणत्वं, निर्गुणो नाम निर्लीनगुणकः नहि एकदैव प्रकटयितुं शक्याः समस्ता अपि गुणाः तेषामनन्तत्वात् । प्रपन्नाभिलाषाणाञ्च सान्तत्वाच्च भक्तेच्छा पूरणे तेषामुपयोगित्वात्, तस्मात् यावन्तो गुणाः प्रकटिताः तेषामनुरोधेन भगवान् सगुणश्च, अनुपयोगित्वेन तिरोहिताः तदपेक्षया निर्गुणः भूमिवत् । अतो मानसकारः प्राह—

अगुनहि सगुनहि नहि कछु भेदा । गावहिं मुनि पुराण बुध वेदा ।।
जो गुन रहित सगुन सो कैसे । जल हिम उपल विलग नहि जैसे ।।

(मानस १/११६/१/२)

एवमेव निराकारसाकारसम्बन्धेऽपि ज्ञेयम् ।

परमात्मा हि नित्यमवयववान् अतो नायमाकारहीनश्च त्रिकालेऽपि यत्तु ऐन्द्रजालिकोदाहरणेन भगवतविग्रहं मायामयतया मिथ्येति इति साधयन्ति तत् प्रच्छन्नबौद्ध-प्रलपितत्वादुपेक्ष्यम् । **आकाशशरीरं ब्रह्म** (तैतीरीय १-७ इति श्रुतेः) गीतागूढार्थदीपिकायां तन्मतस्य तन्मतावलम्बिविद्वच्छिखामणिभिः दृढ़निश्चिततया शास्त्रीययुक्तिभिश्च खण्डितत्वात् तस्मात् परमात्मनि प्रणतप्रार्थनाश्रवणस्वभावसद्भावात् सूपपन्नेयं प्रार्थना।

च एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।।१।।

यः वर्णितमाहात्म्यः, एकः केवलः, अवर्णः अनेकाः शुक्लादयः वर्णा यस्य स अवर्णः । अथवा आदृतः वर्णः वर्णव्यवस्थानुसारि ब्राह्मणादि येन तथाभूतः। अथवा नास्ति निजावतारार्थं निश्चितो वर्णः यस्य सः अवर्णः चतुर्ष्वपि वर्णेषु पत्मात्मनोऽवतार-श्रवणात् । तद्यथा वामनादेर्ब्राह्मणः श्रीरामस्य क्षत्रियः कृष्णस्य च गोपालः जगन्नाथश्च चतुर्थः इति एवं सर्ववर्णः । बहुधा बहुप्रकारेण शक्तियोगात् सन्धिनीशक्तिसाहाय्यात् अनेकान् शुक्लादीन् वर्णान् ब्राह्मणादीन्वा दधाति पुष्णाति, यश्च विश्वम् आदौ दधाति अन्ते च प्रलये व्येति संहरति स देवः परमप्रकाशकः स एव नः शुभया श्रेयस्या बुद्ध्या संयुनक्तु संबध्नातु ।।श्रीः।।

अथ भगवदीयविभूतिभिश्च तद्भेदं धारणाद्रढीकरणाय प्रतिपादयति—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ।।२।।

अत्राग्न्यादित्यवायुचन्द्रशुक्रब्रह्माप्रजापति नाम्नीनामष्टानामपि भगवद् विभूतीनां ब्रह्मांशत्वात् अंशांशिनोश्च समधिकसन्निकर्षपर्यायभेदमेव तच्छब्दवाच्यब्रह्मणा सह समुद्घोषयति। अग्निः सर्वतोऽग्रे नीयमानःपावकः । आदित्यः सूर्यः । वायुः समीरणः, चन्द्रमा निशाकरः, शुक्रं चरमधातुः, ब्रह्मभेदः, आपः जलाभिमानीदेवता प्रजापतिः ब्रह्मा, तत् बह्माभिन्नाः ।।श्रीः।।

भूयः सर्वावस्थासु सर्वजीवेषु च परमेश्वरस्मरणं विधित्वेन प्रतिपादयति—

त्वंस्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।।३।।

भगवानेव स्त्रीपुरुषकुमारकुमारीवृद्धबालकरूपाणि धर्तुं प्रभवति । हे परमेश्वर ! त्वं भवानेव स्त्री नारी तद्रूपधारणे समर्थः, त्वं भवानेव पुमान् पुरुषः, स्त्रीत्वं करुणः पुरुष इव पौरुषसम्पन्नः । एवं त्वं कुमारः पञ्चवर्षपर्यन्तबालकः, उत वा कुमारी कन्येव अक्षतसौन्दर्यः पूज्यः शक्तिप्रभवश्च, त्वं जीर्णेन दण्डेन जीर्णलकुट्या उपलक्षितः दण्डेन इत्यत्र **इत्थंभूतलक्षणे** इत्यनेन तृतीया । वञ्चसि स्खलन् चलसि, वृद्ध इव भावः । विश्वतोमुखः सर्वव्यापी त्वं भवानेव जातः भवसि नवप्रसूतशिशुः संपद्यसे अथवा त्वं भवान् स्त्री-मोहिनीरूपः तद्रूपस्य समुद्रमन्थने पुराणप्रसिद्धत्वात् **कपटयुवतीवेषः** (भागवत ८/१२/४६) त्वं पुमान् परमपुरुषनारायणरूपः, त्वं कुमारः श्रीरामः

दशरथराजकुमारः, उत वा कुमारी श्रीसीताजनकराजतनया । यद्वा कुमारः नन्दकुमारः कृष्णः कुमारीवृषभानुन्दिनीराधा च श्रीसीतारामयोः श्रीराधाकृष्णयोः ब्रह्मरूपत्वात् । त्वमेव जीर्णेन दण्डेन जर्जरवंशखण्डेन उपलक्षितः वंचसि सर्वज्ञोऽपि निजमहिमानं तिरोभाव्य वृद्धब्राह्मणवेशधारी सदानन्दम् अल्पज्ञ इव तद्दुःखकारणं पृच्छसि इति सत्यनारायणकथायां प्रसिद्धम् । त्वमेव जातः भवसि बालको भूत्वा कौशल्याक्रोडे यशोदाङ्के च खेलसि इति वयम् ।।श्रीः।।

भूयोऽपि प्रादेशमात्रेण भगवत्सर्वरूपतां साधयति नील इति—

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
आनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ।।४।।

यतः यस्मात् ब्रह्मणः विश्वा विश्वशब्दस्य प्रथमा बहुवचने इत्यर्थः । भुवनानि ब्रह्माण्डानि जातानि उद्भूतानि तादृक्त्वं विभुत्वेन सर्वसामर्थ्येन सहितमनादिमत् नित्यत्वेन समुत्पादरहितं वर्तसे राजसे, तथा च नीलः पतङ्गः नीलवर्णः पक्षी, हरितः शुकादिः लोहिताक्षः रक्तनेत्रखगः तडिद्गर्भः तडित् चपला गर्भे अन्तः अस्ति अस्य तथाभूतो मेघः विद्युत्वान्, ऋतवः वसन्ताद्याः, समुद्राः सागराः इमे सर्वे तव रूपविशेषा एव ।।श्रीः।।

साम्प्रतं परमेश्वरं प्रार्थ्य तत् कृपया प्रकृतिमोक्षमाह—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।।५।।

अत्र हि भगवद्विमुखभगवत्प्रपन्नजीवयोः सुस्पष्टमन्तरमाह— अजां न जायते इत्यजा प्रकृतिः ताम् अजाम् एकां केवलां लोहितशुक्लकृष्णां लोहिता रजोगुणमयी शुक्ला सत्वगुणा कृष्णा तमोगुणमयी त्रयाणां लोहितशुक्लकृष्णानां प्रकृतिविशेषणत्वेऽपि साधुत्वार्थमत्र विशेषणविशेष्यभावं कल्पयित्वा "**वर्णो वर्णेन**" इति सूत्रेण कर्मधारयः । तथा च लोहिता चासौ शुक्ला इति लोहितशुक्ला लोहितशुक्ला चासौ कृष्णा इति लोहितशुक्लकृष्णा तां लोहितशुक्लकृष्णाम् इति विग्रहप्रकारः । एवं विधां गुणत्रयवतीं सरूपाः समानं रूपं यासां तथाभूताः, यद्यपि प्रजासु परस्परमाकारभेदो वर्तते, तथाप्यत्र देहवत्वेन सारूप्यं, तथाविधाः वह्वीः अनेका प्रजाः देवतिर्यङ्नररूपाः संततीः सृजमानां रचयन्तीम् इमामजामिव जुषमाणः भगवद् विमुखतया सेवमानः एकः भगवत् प्रतिकूलाचरणः बद्धजीवः अनुशेते तत्र प्रकृतौ अनुरज्यते बध्यते च । अन्यः भगवच्छरणागतिसुधास्वादसंतृप्तशान्तस्वान्तः अन्यः जगद् विलक्षणः अजः

आत्मावच्छेदेनाजन्मा । अथवा अकाराय वासुदेवाय तल्लीलासिद्धये जातः एनाम् इमां भुक्तभोगां भुक्ताः जनैरुच्छिष्टाः कृताः भोगाः स्वादाः यस्याः तादृशीं भुक्तोज्झितां मत्वा खण्डितामिव योषितं जहाति त्यजति इति सरलं व्याख्यानं गम्भीरं त्विदानीमुच्यते । यद्यपीमां श्रुतिंसांख्याः स्वशास्त्रप्रमाणबीजं मन्यन्ते, ते खलु प्रकृतिपुरुषसंयोगात् सृष्टिं स्वीकुर्वन्ति, सृष्टौ ही प्रकृतिमेव कर्तृत्वेनाध्यवस्यन्ति पुरुषस्तेषां पुष्करपलाशवन-निर्लेपः । प्रकृतिर्जडा पुरुषश्च चेतनः किन्तु सृष्टिकरणसामर्थ्याभाववान् प्रकृतिर्हि महत्तत्वमुत्पादयति ततोऽहंकारः, ततः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः चक्षुः श्रोत्ररसनाघ्राणत्वक्वाक्प्राणिपादपायूपस्थमनांसीति षोडपविकाराः । पञ्चतन्मात्रभ्यः पञ्चमहाभूतानि, तथा च शब्दादाकाशः, स्पर्शाद्वायुः, रूपादग्निः, रसाज्जलं गन्धात्पृथ्वी एवं त्रयोविंशतिः, द्वौ प्रकृतिपुरुषौ संयोज्य पञ्चविंशतितत्त्वात्मकं सांख्यशास्त्रं । तथाच सांख्यकारिका मूलप्रकृतिविकृतिमहदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त , षोडशकस्तुविकारः न प्रकृतिर्न विकृतिपुरुषः इति एवं पग्वन्धयोरिव प्रकृतिपुरुषसंयोगः । तथा च लोहित-शुक्लकृष्णां सत्वरजस्तमोमयीम् एकाम् । सरूपाः समानाकाराः बह्वीप्रजाः सृजमानां इमाम् अजां बर्करीमिव भोगलिप्सुं एकः अजः बर्करइवकामान्धःजुषयाणः सेवमान अनुशेते तत्र सज्जते । प्रकृतिसंयुक्तो हि पुरुषः बध्यते अवबन्धनैः अन्यः कश्चन विवेकी पुरुषः भुक्तभोगाम् एनां जहाति त्यक्त्वा मुच्यते । अत्र पुरुष बहुत्वं श्रुत्वैव साधितम् अज शब्दस्य द्विरुक्त्या । एवं श्रुतिरियं सांख्याशास्त्रबीजम् । वस्तुतस्तु सांख्यसिद्धान्तः श्रौतो नास्ति । तत्र तत्र श्रुतिविरोधदर्शनात्, यथा श्रुतिमते नैव शब्दादिभ्यो गगनादीनामुत्पत्तिः तद्यथा "**ॐ तस्मादेतस्याद्वा आत्मनः आकाशस्सम्भूतः आकाशात् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी पृथ्व्या औषधयः इत्यादि** (तैतिरीय २/२)

एवमेव प्रकृतिः कर्त्री अपि नास्ति, **तत्सृष्ट्वा तदेवानुपाविशत्** तैतिरीय २/६ एवमेव पुरुषपंगुत्वविषयेऽपि श्रुतिविरोधः **द्यावाभूमिजनयन्देव एकः** इत्थम् अवैदिकत्वात् सिद्धान्तोऽयमुपेक्ष्यः । तथाहि ब्रह्मसूत्रम् ("**ईक्षतेर्नाशब्द**" १/१/५)

अतो नैव तद्बीजश्रुतितथा चाधुना नव्यमतेन व्याख्यायते । जीवो ही प्रकृतिं सेवमानो तत्प्रपञ्चेन बध्यते । एवं भुक्तभोगामिमां परमेश्वरो जहाति ।

द्वाप्यजौ जीवपरमात्मानौ इति इत्यनेन, जीवस्य प्रकृतिपारतन्त्र्यम् । परमेश्वरस्य च प्रकृति नियन्तृत्वं सूचितम् । तथाहि लोहतशुक्लकृष्णां रजःसत्वतमः प्रतीतत्रिरागयुक्ताम् एकां दुर्जयामद्वितीयां सरूपाः बह्वी प्रजाः कोटि कोटि ब्रह्माण्डात्मिकाः सृजमानां

गुणयुक्ता: कुर्वतीं न तु जनयन्तीम् । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् इत्यादि श्रुतिभिरेव प्रकृतिकर्तृत्वस्य निषिद्धत्वात् एक: जीव: अज: अकारो वासुदेव: तस्माज्जातः इत्यज: अयमेव एनामजामिव जुषमाणोऽभित: अनुशेते अनुशयितो भवति । अत्र वर्णिता अजेयमविद्या तत: अन्य: जीवतो विलक्षण: परमात्मा भुक्तभोगां भुक्ताजीवैरेव उच्छिष्टा: भोगा: यस्या तादृशीं जहाति दूरतस्त्यजति इत्थं भगवद्विमुखजीव: मलिनसत्वामविद्यां सेवते पत्मात्मा तु तां स्पृशत्येव नहि ।।श्री:।।

अथ पञ्चममन्त्रोक्तां जीवब्रह्मभिदां आलंकारिकतया विवृणोति द्वा इत्यादिना—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।६।।

मुण्डकोपनिषदि व्याख्यातोऽपि मन्त्रोऽयं भूयो व्याख्यायते शोभनं पर्णं पक्षं ययो: तौ सुपर्णौ "सुपां" इति सूत्रेण औट: पूर्वसवर्णदीर्घ: । अथवा सुलभा: पर्णा: ययो: तौ सुपर्णा तात्पर्यमेतत् यथा कश्चन पक्षी नीडमाश्रयते भग्ने च वृक्षे स्वत एवोड्डीयते नीडान्तरञ्चाश्रयते तथैवेमौ जीवेश्वरो पक्षभूतौ प्रारब्धजनितशरीरं श्रितौ नष्टे च तस्मिन् सूक्ष्मतया निर्गत्य नवं शरीरमालम्बेते । उड्डयनञ्चानयो: सूक्ष्मं लघु-निर्गमनमेव सहैव युञ्जाते शरीरमेतत् युगपदेव प्रविशत: इति सयुजा अत्रापि पूर्ववत् सवर्णदीर्घ: एवमुत्तरत्रापि । समानं खेलत: इति सखाया शरीररूपतरौ द्वावपि जीवेश्वरौ खेलत: नरवत्वेकाकिना क्रीडितुं शक्यं, सखाया इति श्रुत्युक्ति: सख्यं व्यनक्ति । द्वयो: ब्रह्मजीवमन्तरेण न तिष्ठति तत्परिहारेण तद्गुणानुपयोगत्वात् । जीवोऽपि तदन्तरेण न स्थातुं प्रभवति तदतिरेकेण तत्स्थानासंभवात् यथोक्तं भगवता—

न तदस्ति विनायत्स्यान्मयाभूतं चराचरम् (गी. १८/३९) तौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ कुत्र तिष्ठतोऽत आह समानं वृक्षं परिषस्वजाते समानं समानकालमेव अर्थात् यस्मिन्क्षणे जीव: शरीरमालम्बते तस्मिन्नेव क्षणे परमात्माप्यन्तर्यामिभूत:। न द्वयोरागमने क्षणार्धस्यापि वैषम्यम् । अथवा समानमिति परिष्वङ्ग: परपर्यायक्रियाया:विशेषणम्। तथा हि इमौ पक्षिभूतौ सखायौ शरीरवृक्षं मानेन सम्मानेन सहितं यथास्यात् तथा समानं परिषस्वजाते नैवैतयो: शरीरोत्कर्षापकर्षभेदबुद्धि:, यथा ब्रह्मशरीरश्रयमाणौ खेलतस्तथैव निकृष्टकीटशरीरमपि । अथवा समानमिति शरीरवृक्षस्यैव परिस्थिति परिचायिकं विशेषणं तथा हि मानेन मानोपलक्षितकामादिविकारजातेन सह वर्तमानं इति समानं विकारयुक्तमपि शरीरं परिष्वक्तवन्ताविमाविति समधिकमुदारता वृक्षं पिप्पलमिति तृतीयचरणत: समनुकृष्यान्वय: । एवं वृश्च्यते छिद्यते कृतान्तेन प्रारब्धकुठारेण य: स वृक्ष: तं वृक्षं वृश्चनार्हमिति भाव: । तादृशं क्षणभङ्गुरं पिप्पलं पिबति दूषितं वायुं

पलाययति प्रेषयति शुद्धं वायुं यः स पिप्पलः तं पिप्पलमश्वत्थम् । यद्यपि पिप्पलशब्देन तदभिधानवृक्षबोधसंभवे वृक्षमिति पदाधिक्यमिव भाति । तथा वृश्चनार्थकतया तस्य क्षणभंगुरत्वसूचनाय समुचितमेवेति मन्महे । परिषस्वजाते अत्र "परोक्षे लिट्" श्रुतेस्तात्पर्यमेतत् यत् कदा प्रभृति वृक्षमेतच्छ्रिताविमाविति नाहं वेद, पारोक्षमित्येव । नन्वसंगतं व्याख्यानमेतत् (वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं) (श्वेताश्वतर० -३/२१) इति श्रुतिविरोधादिति चेन्न वेदाहमित्यस्य सामान्यवेदनप्रतिज्ञानात् । नन्वत्र व्याख्याने किम्मानमिति चेन् मन्त्र एवेति ब्रूमहे तथा हि (सवेत्तिवेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता) (श्वेता० ३/१९) अथ (वेदाहमेतं) श्वेताश्वतर० ३, २१ (न च तस्यास्तिवेत्ता) श्वेताश्वतर० ३/१९ इत्यनयोः श्रुत्योः कथं प्रामाण्यसंगतिरिति चेच्छृणु– वेदाहमित्यस्य अहं श्रुतिरेव सामान्यतः वेद्मि न च तस्यास्ति वेत्ता इत्यस्य कोऽपि सम्पूर्णतया ज्ञातास्य नास्तीत्यर्थः। इत्थं द्वयोः सामान्यं विधाय विशेषं विशिनष्टि तयोरिति गुणनिर्धारणे षष्ठी । तयोरन्यः केवलः जीवात्मा स्वादु विषयभोगबहुलतया मधुरं पिप्पलम् अश्वत्थफलं अनिश्चयेन अत्ति खादति भुङ्क्त इति भावः । जीवो हि प्राक्तन कर्म प्राप्तशरीरशुभाशुभं भुङ्क्ते । अन्यः प्रधानः परमात्मा अनश्नन् कर्मफलानि भोगविषयान्नकुर्वन्नपि अविचाकशीति अभितो निरीक्षते शोभते ।

यत्तु केचनापलपन्ति यत् मन्दात्मविज्ञानात्मानावेव सुपवर्णाविह तत्तु पीतमहामोहमदिरप्रमत्तवमनमेव, नहि एकत्रशरीरे द्वावात्मानौ स्थातुं प्रभवतः कदापि यौगपद्येन एकशरीरस्य कृते एकजीवात्मनिवासप्रसिद्धेः अत एव शरीरस्य वस्त्रोपमानता भगवदुक्ता यथोक्तम्—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

(गीता २/२२)

तथा चाह मानसकारोऽपि—

जोइ तनु धरऊँ तजऊँ पुनि अनायास हरि जान ।
जिमि नूतनपट पहिरइ नर परिहरइ पुरान ।। (मानस. ७/१०९/ग)

तस्मान्मदुक्तःपन्थैव ज्यायानिति विरम्यते ।

ननु जीवैश्वर्ययोः एकत्वशरीरे निवासे किं मानम् ? श्रुतयस्मृतयश्चेति ब्रूमः । श्रुतिर्यथा (सदा जनानां हृदये संनिविष्टः) (श्वेताश्वतर० ३/१७) (यो सावसौ पुरुषः) (ईशारास्योपनिषद् १६) स्मृतयो यथा (देही नित्यमवध्योऽयम्) (गीता. २/३०)

(ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति) (गीता. १८/६१) एवं बहूनि प्रमाणानि विस्तरभयादिह नोपस्थाप्यन्ते। तानि स्वयमेव तत्र तत्र दृष्टव्यानि मन्त्रोऽयं जीवब्रह्मणोः स्वरूपतो भेदं तयोः स्म्बन्धं अपृथग् भावरूपं वैलक्षण्यं च सुस्पष्टतः कण्ठरवेण संगृणाति। इत्थं सत्यपि यदि कोऽपि दुराग्रहग्रहगृहीतः समध्यवस्यतु जीवब्रह्माभेदं तं प्रत्येतदेव ब्रूमहे यत्—

नयनपीतिमदोषवसाद्यदि
वदति कोऽपि च पीतमथो विधुम् ।
न खलु तस्य गिरा किल नैष्ठिकी
कुटिलमोहवशात् प्रतिजल्पनम् ।।श्रीः।।

भूयोऽपि स्पष्टप्रतिपत्तये श्रुतिर्जीवब्रह्मणोर्वैलक्षण्यं प्रतिपादयति समान इति—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।७।।

समाने वृक्षे निमग्नः अनीशया मुह्यमानः पुरुषः शोचति यदा जुष्टं अन्यन्यमीशं तस्य महिमानं पश्यति इति वीतशोकः भवति अति शेषः इत्यन्वयः। समाने मानादिविकारयुक्ते अथवा सदृशं मानं यस्य तत् समानं तस्मिन् समाने, स्वप्रारब्धानुरूपे वृक्षे क्षणभंगुरे शरीरे निमग्नः पापसागरे इति शेषः ईशा ईष्टे जीवं भगवच्चरणागतं कर्तुं या सा ईशा भगवत्कृपा, तद्भिन्ना अनीशा अविद्या, तया मायया अनीशया, अथवा अनादृतः तिरस्कृतः ईशः परमात्मा यया सा अनीशा तया अनीशया, मायामूढाः परमात्मानमनाद्रियन्ते। यथोच्यते स्वयमेव भगवता (अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्) अथवा अनभिलषितः ईशः यया हेतुभूतया सा अनीशा माया मायामूढाः हि परमात्मानं नाभिलषन्ति, तया अनीशया कारणभूतया मायया मुह्यमानः मोहं नीयमानः, अत्र (कर्मकर्तृप्रयोगादात्मनेपदं) शोचति इष्टजनवियोगदुःखकातरो भवति। किन्तु यदा यस्मिन् काले जुष्टं सद्गुरुकृपया लब्धभगवच्छरणागतिः निजप्रीतिभाजनभूतम् ईशं सर्वसमर्थं परमात्मानम् अन्यं स्वस्माद्विलक्षणं निजपरमाराध्यं पश्यति नयनविषयं करोति सेव्यत्वेन जानाति वा तस्य परमात्मनः महिमानं निरस्तसकलहेयगुण-प्रत्यनीकवात्सत्यादिनिरतिशयकल्याणगुणगणनिलयं जानाति इति तदैव इति शब्दोऽत्र तदार्थः। वीतशोकः नष्टेष्टजनवियोगः भवति, आशयोऽयं यदा स्वस्मादन्यम् ईशं पश्यति तदैव वीतशोको भवति, अभिन्नं पश्यंस्तु सशोको जायते मन्देनानिन वायुनेव

दूरोत्सारितमद्वैतवादमहामेघाडम्बरम् । अथ (तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः) इत्यद्वैतश्रुतीनां का गतिरिति चेत् (ईशावास्य० १०७) सम्बन्धाद्वैते तासां प्रतिपादनेनाद्दोषात् ।।श्रीः।।

सम्बन्धः— भूयोऽपि ब्रह्मज्ञानमेव स्तौति। ऋचे इत्यादिना—

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।८।।

अक्षरे परमे व्योमन् ऋचः निषेदुः यस्मिन् अधि विश्वेदेवा निषेदुः, यः तं न वेद ऋचा किं करिष्यति ये इ तत् विदुः ते इमे समासते इत्यन्वयः ।

न क्षरतीत्यक्षरम् अथवा न सन्ति क्षराः भावाः यस्मिन् तदक्षरम् तस्मिन् अक्षरे अविनाशिनि परमे परया सीतया पराभ्यां सीतारामाभ्यां वा नीयते इति परमः तस्मिन् परमे, व्योमन् आकाश इव नीलवर्णे तत्रैव वा सावकाशे व्याप्ते साकेते वा ऋचः ऋग्यजुःसामानि निषेदुः तस्थुः । कीदृशः सः ? इत्यत् आह यस्मिन् अक्षरे अधिविश्वे अधिगतं विश्वं येन तदधिविश्वं तस्मिन् अधिविश्वे देवाःस्वरा निषेदुः यः साधकविशेषः तं तमालनीलं न वेद न जानाति सः ऋचा ऋग्वेदाध्ययने ऋचा किं करिष्यति किं विधाष्यति ब्रह्मज्ञानमन्तरेण वेदाध्यनमपि तुच्छं ये इमे साधकः इ निश्चयेन तत् ब्रह्मतत्वं जानन्ति ते इमे ब्राह्मणाः समासते कृतकृत्या भवन्ति ।।श्रीः।।

भूयो ब्रह्मणः सकाशात् प्रपंञ्च वर्णयति

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ।।९।।

छन्दांसि गायत्र्यादीनि, यज्ञाः श्रौतस्मार्ताः मखाः क्रतवः ज्योतिष्टोमादयः व्रतानि चान्द्रायणादीनि यत् वेदाः श्रुतयः भूतं भूतकालिकं भव्यं भविष्यत्कालिकं च इति समुच्चयार्थः वदन्ति कथयन्ति। अस्मादेव प्रपञ्चात् एतत् विश्वं जगत्मायी मायाप्रपञ्चवान् सृजते रचयति तस्मिन्नेव ब्रह्मणि अन्यः भगवदभजनविमुखः मायया अविद्यया संनिरुद्धः रुद्धचेताः ।।श्रीः।।

अथ का नाम माया ? इत्यत आह —

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।१०।।

तु निश्चयेन मायां भगवद् योगमायां प्रकृतिं परमेश्वरस्वभावशक्तिं विद्यात् जानीयात्, च तथा महेश्वरं महान् ईश्वरः महेश्वरः तं महेश्वरम् मायिनं मायापतिं विद्यात् । तस्य मायापतेः अवयवभूतैः सरितसमुद्रादिभिः सर्वमिदं जगत् त्रिभुवनं व्याप्तम् । यथोक्तं भागवते—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषिं सत्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ।।

(भागवत ११/२/४१)

तस्यावयवभूतैः इति श्रुतिसकलेन श्रुतेः साधिकृतप्रतिपादनमनवेक्षमाणानां भगवतो निरवयवत्ववादः परास्तः। ननु **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्** (कठ० १/३/१५) इति श्रुत्या तु निखयवत्वमुपपाद्यते भगवतः ?

इति चेत् न अशब्द इत्यादीनाम् अव्यक्ताः शब्दादयोयस्य तथाभूतमिति व्याख्यानेनादोषात् । न खलु भगवतः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः प्राकृतेरस्मदादीनां श्रोत्र-त्वक्चक्षुःरसनाघ्राणैर्गृहीतुं शक्याः । नन्वस्मिन् व्याख्याने किम्मानम् ? इति चेत् श्रीगीतायां भगवदुक्तिरेवेति गृहाण तथा हि भगवद्विराट्रूपदिदृक्षापरवशं पार्थं प्रति प्राह पद्मनाभः ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।

(गीता ११/८)

'**सर्वतः पाणिपादं तत्** ' श्वेताश्वतर० ३/१५ इति श्रुतिरपि प्रमाणम् । अथ ब्रह्मणः सावयवत्वे तदनित्यत्वापत्तिः । तथा हि यत् यत् सावयवं तत्तदनित्यं कार्यत्वात् घटादिवत् ?इति चेत् मैवं श्रुत्यनुरोधेन नैवैतदनुमानप्रसरः, एवमेव सकलविलक्षणस्य भगवतः साऽवयवत्वेऽपि नित्यत्वाक्षतिरेवेति बोध्यम् । '**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां**' (कठ० १/२/१३)

इति श्रुतिरपि प्रमाणम् अथवा मायां भगवतो योगमायां तु निश्चयेन प्रकृतिं प्रकृष्टा सकलविलक्षणाकृतिः रचना यस्या सा प्रकृतिः, वैलक्षण्यं हि कृतौ सर्वथा विरूद्धस्वभावानां क्षितिजलतेजोमातारिश्वनभसां परस्परसम्मेलनमपञ्चीकृतानामपि प्रपञ्चीकरणं, नवद्वारेऽपि पुरेऽस्मिन् देहे छिद्रवत्यपि सप्तधातूनां वायोश्चापि समवरोधः । नहि रन्ध्रवति घटे केनापि जलं स्थापयितुं शक्यम्, परन्तु सार्धत्रिकोटिरोमकूपरन्ध्रवत्यपि कथमयं वायुस्तिष्ठतीति चित्रम् । यथोक्तं विनयपत्रिकायां श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासचरणैः—

केशव कहि न जाइ का कहिये,
देखत तव रचना विचित्र अति, चुपहि मनहिं मन रहिये,
शून्यभीति पर चित्ररंग बिनु कर बिनु रचा चितेरे,
धोये मिटे न मरिय भीति दुखपाइअ यह तनु हेरे,
रविकरनीर वसे घट भीतर मकर रूपता माँहीं,
वदनहीन सो ग्रसे चराचर पानकरन जे जाहीं,
कोउ कह सत्य झूँठ कह कोऊ, जुगल प्रवल कोउ मानै,
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सोइ आपन पहिंचानै।।

(विनय पत्रिका १११)

एवंभूतां सकलविलक्षणकृतिमतीं विद्यात् जानीयात् । मायिनं माया अस्ति दासीभूता अस्य इति मायी तं मायिनं, अथवा मायायाः अघटितघटनापटीयस्याः योगमायायाः इनः स्वामी इतिमायिनः ''शकन्ध्वादित्वात् पररूपं'' मायिनं मायानाथं महेश्वरं परमेश्वरं विद्यात् । न किल मायापराधीनः परमेश्वरो भवितुं शक्नोति उत्तरार्धं तु पूर्ववत् । अथवा मायां भगवतः कृपाशक्तिं सीतानाम्नीं प्रकृतिं प्रकृष्टा लोकोत्तरा कृतिः शरीरसंघटना यस्याः सा प्रकृतिः तां विद्यात् प्रकृष्टकृतिमत्वं च प्रसिद्धं सीतायाः ।

यथा—

जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ।।

(वा.रा.बा. १/२७)

न च ''देवमायेव निर्मिता'' इति वाक्यघटक (निर्मिता) इति शब्देन सीतायाः प्राकृतत्वं सूच्यत इति वाच्यं निर्गतं मितं सीमा कृपादिगुणानां यस्याः सा निर्मिता निःसीमकृपादिगुणवती इति व्याख्यानेनादोषात् । इव शब्दो हि अवतारसूचनाय समधिकाभेदघटितसादृश्यपरः । एवं हि देवस्य माया कृपा इति देवमाया एवमेव प्रसन्नराघवेऽपि कविराजजयदेवः —

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः ।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगन्न चमूरुदृशः ।।

प्रसन्नराघव प्रथमांकः तथोक्तमस्मदाराध्यचरणकमलैः श्रीगोस्वामितुलसीदासमहाराजैः

उपमा कहत मोहि लघु लागी, प्राकृत नारि अंग अनुरागी ।।
जौं पटतरिअ तीय सम सीया, जग अस जुवति कहाँ कमनीया ।।

सिय बरनिय तिय उपमा देई, कुकवि कहाइ अजस को लेई ।।

(मानस - बा॰ २४७/२/३/४)

इत्थं सकलविलक्षणकृतिमतीं प्रकृतिं सीतां विद्यात् । महेश्वरं महीयते पूज्यते इति महासीता तस्या: ईश्वर: इति महेश्वर: तं मायिनं माया नियन्तारं विद्यात्, तस्य परमात्मन: सीतापते: राघवस्य अवयवभूतै: पातालादिलोकै: अवयवभूतैर्वा वनस्पत्यादिभि: इदं सर्वं जगत् व्याप्तम् ।

ननु निरस्तनिखिलहेयगुणे सकलसद्गुणैकनिलये विशुद्धसच्चिदानन्दघने परमात्मनि सकलसाधकनिन्दास्पदभूताया अपूताया: मायाया: कथमाधेयता ? इति चेत् सत्यं श्रुतौ मायाशब्द: अघटितघटनापटीयस्या: भगवतो योगमायायास्तात्पर्यग्राहक: । सीतापक्षे च मायाशब्द: कृपातात्पर्यक: । इत्थं सा माया कृपारूपिणी सीता नित्यतया हृद्देशेऽस्त्यस्य स मायी तं मायिनम्, अथवा मायाया: योगमायाया: सीताभिधायाश्च कृपाशक्तिरूपाया: श्रीसाकेतविहारिणौ महामायाया: इन: स्वामी इति मायिन: । न च माया शब्दघटकाकारेण सहेन शब्दघटकेकारस्य गुणे मायेन स्यादिति वाच्यम् । मायेन शब्दस्य आकृतिगणत्वेन शकन्धादित्वात् पररूपविधानेनादोषात् । तथा च मायाया: इन: मायिन: तं मायिनम्, मायापतिम् इति विग्रहेण पूर्वोक्तशंकापंकप्रक्षालनम् । तस्य भगवत: सीतापते: अवयवभूतै: अत्र भूतशब्द: औपम्यवाची, तथा अवयवैरिव प्रियैरपृथग्धर्मभिश्च महात्मभि: इदं सर्वं जगत् व्याप्तमिति दिक् ।।श्री:।।

अथ परमात्ममहिमवर्णनपुर:सरं तन्निश्चये फलमाह—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यम्
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ।।११।।

य: एक: योनिं योनिम् अधितिष्ठति यस्मिन् इदं (अधिष्ठितं) स सर्वं वि एति च तं वरदं देवम् ईड्यम् ईशानं तं निचाय्य इमां शान्तिम् अत्यन्तम् एति इत्यन्वय: ।

य: परमात्मा एक: अनुपम: योनिं योनिम् अत्र वीप्सायां द्वित्वं, तथा च योनिं योनिं प्रकृतिमेव नित्यत्वेन अधितिष्ठति । अत्र " अधिशीङ् स्थासां कर्म" इति सूत्रेण अधिपूर्वकस्थाधातोराधारस्यापि कर्मता । तथा च योनिं योनिमधितिष्ठति इत्यस्य नियततया साधिकारतया च प्रतिजीवप्रकृतौ तिष्ठति इत्यर्थ: । अथवा योनि: जीवान्त:करणं, योनिं योनिं प्रतिप्राणहृदयमधितिष्ठति अधिकृत्य तिष्ठति "सदा जनानां हृदये संनिविष्ट:"

इति श्रुतेः । अथवा योनिं योनिं परामपरां प्रकृतिः अथवा योनिं योनिं श्रियं लक्ष्मीं **'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ**, इति श्रुतेः (शु. यजु. ३१/२१) अथवा योनिं विद्यां योनमविद्यां च अधितिष्ठति **"विद्याञ्चाविद्याञ्च"** (ईशा. १०) अथवा योनिं कृपाशक्तिरूपां जनकनंदिनीं सीतां योनिं मायासीतां इमे द्वे अपि अधितिष्ठति स्वामित्वेनाधिगृह्णाति, इत्यनेन मायासीतापरिकल्पने वैदिकं प्रमाणं दर्शितम् । अथवा योनिं राधां पुनः योनिं रुक्मिणीमधितिष्ठति बल्लभतया अधिकरोति तथाभूतः, श्रीरामकृष्णनारायणान्यतमः यस्मिन् भगवति इदं दृश्यात्मकं जगत् अधिष्ठितं स च परमात्मा प्रलयकाले इदं सर्वं व्येति प्रलये सर्वं विनिवेशयति । अथवा इदं जीवजातमेव यस्मिन् प्रलये व्येति विनिविशति सः एवंभूतः परमात्मा इति वाक्यभेदेन व्याख्येयम् तमेवं गुणगणविशिष्टं सर्वनियन्तारं सर्वाधिष्ठानं वरदं वरान् भक्तेभ्यः ददाति इति वरदः तं वरदम्, अथवा वम् अमृतं रं रसञ्च ददाति इति वरदः तथाभूतम् । अथवा वरान् श्रेष्ठान् ब्रह्मादीनपि अत्ति खादतीति वरदः प्रलयकाले हि परमात्मा ब्रह्मादीनपि कालरूपः —

खादति यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्योर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ।।

(कठ० ३/१/२/२५)

इति श्रुतेः । यद्वा वं ब्रह्मसुखं तस्य रः अग्निः इति वरः स च कामादिः कामादिना हि बह्निनेवेन्धनं ब्रह्मसुखं भस्मसात् क्रियते **रश्चरामोनिलो बह्निः**

इति कोशेन रकारस्य पावकार्थत्वख्यापनात् । तं वरं कामादिविकारं द्यति खण्डयतीति वरदः तं वरदमीड्यं स्तोतुं योग्यं भगवानेव हि स्तोतुं योग्यः, तस्यैव हि भगवतो राघवस्य निर्व्यलीकगुणगणसागरत्वप्रसद्धेः । देवं परमप्रकाशमानमीशानं सर्वसमर्थं निचाय्य पुष्पमिव नितरां चयनविषयं विधाय इमां श्रुतिप्रसिद्धां शान्तिविकारोपशमलक्षणा-मथवा शान्तिं भक्तिं शाम्यन्ति कामादिदोषाः यया सा शान्तिः तां शान्तिमिति व्युत्पत्तेः **"शान्तिरूपापरमान्दरूपा च"** (ना.भ. सू. अ. ३/ सू.५) एतादृशीमिमामौपनिषदीं भक्तिं , अथ भक्तेरौपनिषदत्वे किं मानम् ? अस्यावोपनिषदः चरमो मन्त्रएव परमप्रमाणतया गृह्यताम्, तथा च उपनिषत् 'यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ' (श्वे. उ. अ. ६/ २३) अत्यन्तं क्रियाविशेषणमिदं निरतिशयमेति प्राप्नोति इति भावः । यद्वा अत्यन्तमिति परमात्मवाचकं तथाहि अन्तं विनाशं अतिक्रान्तः इति अत्यन्तः अविनाशितत्वरूपो भगवान् तं प्राप्नोति, अर्थात् पूर्वं सत्संगादिना एकत्वप्रकृतिनियन्तृत्वजगज्जन्मस्थानभंगत्व-सकलसाधकत्ववरदत्वदेवत्वस्तुतियोग्यत्वादिसामान्यलक्षणं विलक्षणं परमात्मानं माहात्म्य-

ज्ञानपुरःसरं विज्ञाय ततोऽनपायिनीं भक्तिं प्राप्य ततः पश्चात् परमात्मानमेव लभत इति श्रौतं हार्दम् । स्मार्तं च वचनमत्रार्थे विनिगमकम्

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः ।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।

(गीता १८/५५)

अत्र विशते तदनन्तरमिति गीतोक्तिस्तु (अत्यन्तमेति) इति श्रुतिशकलस्यानुवादरूपा ।।श्रीः।।

भूयस्तं परमात्मानं स्तुत्वा प्रार्थयते—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वादिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।।१२।।

यः देवानां प्रभवः उद्भवश्च च यः विश्वाधिपः रुद्रः महर्षिः यः जायमानं हिरण्यगर्भं पश्यत सः नः शुभया बुद्ध्या संयुनक्तु इत्यन्वयः । यः भगवान् देवानां प्रभवः उत्पत्तिस्थानं उद्भवः उत्कृष्टः स्वामी, उद्भवः उद्गतं भवं कल्याणं यस्मात् स उद्भवः, भगवतैव हि सुराणां परिपन्थिनो निहत्य उत्कृष्टकल्याणं क्रियते, विश्वानां विश्वेषां वा उभयेषां वा अधिपः शासकः रुद्रः सुररिपुवनितारोदनहेतुः महर्षिः महान् मन्त्रद्रष्टा, अथवा महीयते इति महा तामपि विशति जानाति गच्छति, च समानेतुं मिथिलायां यः स महर्षिः । यश्च जायमानं निजनाभिकमलात् समुद्भवन्तं हिरण्यगर्भं ब्रह्माणं पश्यत दृष्टवान् अपश्यदिति वक्तव्ये पश्यत इति पाठस्तु बाहुलकादभावे "व्यत्ययात्" आत्मनेपदे कृते पश्यति । इति स भगवान् नः अस्मान् शुभया भगवत्साक्षात्कारसहयोगसमर्थया बुद्ध्या मत्या संयुनक्तु युक्तान् करोतु ।।श्रीः।।

अधुना परमात्मनः हविष्यसंप्रदार्हतां वर्णयति—

यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।१३।।

अन्वयःसुगमः—यः परमात्मा देवानां सुराणां अधिपः शासकः यस्मिन् परमात्मनि लोकाः अतलादयः सत्यपर्यन्ताः अधिश्रिताः कृताश्रयाः, यः परमात्मा अस्य द्विपदः द्विचरणयुक्तमनुष्यस्य चतुष्पदस्य पश्वादेः शासकः, एवं यः ईशे शासनं करोति अथवा यः अस्य संसारस्य ईशे नियन्त्रणं करोति, यश्च द्विपदः द्विपादयुक्तो भगवान् श्रीरामादिःचतुष्पदः चतुश्चरणयुक्तो वराहादिः एवमनेकावतारधारिणं परमात्मानं त्यक्त्वा तदतिरिक्ताय कस्मै

देवाय किन्नामकाय देवाय हविषा हविर्दानविधिना विधेम दानोद्देश्यविधिना योजयेम ।।श्रीः।।

भूयस्तमेव परमात्मानं जामिताभावात् प्रभाववर्णनेन स्तौति—

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ।।१४।।

सुगमोऽन्वयः ।

सूक्ष्मः जीवात्मा तस्मादपि अतिशयेन सूक्ष्मं सर्वेभ्यः परत्वात् विश्वस्य संसारस्य स्रष्टारं रचयितारमथवा विशिष्टं भगवत्प्रेमरूपं विशिष्टाद्वैतं स्वं निधानं यस्मिन् स विश्वः "**पृषोदरादित्वात्**" तालव्यः । तस्य स्रष्टारमनेकानि कच्छपमत्स्यादीनि रूपाणि अवतारशरीराणि यस्य तथाभूतमेकं निरुपमं विश्वस्य परिवेष्टितारं निजमाया जवनिकया समाच्छादकं शिवं निखिलकल्याणगुणगणैकनिलयं ज्ञात्वा सेवकसेव्यभावसम्बन्धेन शान्तिं परमानन्दरूपां भक्तिं प्रपञ्चोपरतिं वा अत्यन्तमेति आत्यन्तिकतया गच्छति ।।श्रीः।।

अधुना भगवद्ज्ञानमेव मृत्युपाशच्छेदने हेतुतया समवधारयति—

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ।।१५।।

सुगमोऽन्वयः । स भगवानेव नान्यः कश्चनेन्द्रादिःकाले धर्मग्लानिसमये भुवनस्य गोप्ता श्रीरामादिरूपेण जगतस्त्राता, विश्वेषां भूर्भुवःस्वरलोकानामधिपः शासकः, '**रामस्य लोकत्रयनायकस्य**' (वा.रा.सु. ३८/५२) इति स्मृतेः । सर्वभूतेषु निखिलप्राणिषु हृद्देशे अन्तर्यामितया गूढः निगूढः यस्मिन्भगवति युक्ताः तच्चरणसरोरुहपरागमकरन्दरोलम्बभूताः ब्रह्मर्षयः वसिष्ठादयः देवताः शिवादयः तं सुरनरमुनिपरमाराध्यं ज्ञात्वा निजनाथबुध्या निश्चित्य मृत्युपाशान् मृत्युरूपः पाशः येषु तथाभूतान् , अथवा मृत्यवः अनेकविधाः कोटिकोटिजन्मान्तर-गताः त एव बन्धनतया पाशाः तानेव छिनत्ति द्विधा करोति ।।श्रीः।।

अधुनोपमया निरुपमस्यापि ब्रह्मणः सकलसाररूपत्वबोधनाय समपुक्रमते घृतादिति—

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।१६।।

घृतात् सर्पिषः परं सूक्ष्मं सर्पिरूपरिवर्तमानं मण्डं घृतसारभूतं तरलद्रव्यमिव अतिसूक्ष्मं समेषां प्राणिनां सारभूतं प्रीतिभाजनञ्च हार्दमेतत् यत् योगमायाधेनुदुग्धं क्षीरमिव प्रपञ्चमेतत् तत्रापि दधीव जीवजातं तत्रापि नवनीतमिव अन्तःकरणं ततोऽपि सूक्ष्मं, घृतमिव जीवात्मतत्वं तस्मादपि सूक्ष्मतरं मण्डमिव जीवान्तर्यामी परमात्मा सकलप्राणिनां प्रेमपात्रम् । यथोक्तं भागवते— तत्र हि ब्रह्मणा वत्सेषु वत्सपालेषु चोरितेषु आवर्षं घृतसकलवत्सगोपालबालाकारं स्वच्छन्दविहितव्रजवनबिहारं निशम्य स्ववत्सापेक्षया गोगोपीनां वत्सभूते भगवति प्रेमाधिक्यं चाकर्ण्य परीक्षितः पप्रच्छ, ब्रह्मन् गोगोपिकानां स्वपुत्रापेक्षया यशोदानन्दने कृष्णे कथं समधिक इयान् प्रेमा तदुत्तरयञ्छुकाचार्यः सुस्पष्टं प्राह यत् समेषां प्राणिनां सर्वतः समधिकप्रीतिभाक् प्रत्यगात्मा अन्ये सुतवित्तकलत्रादयः तत् प्रियतयैव प्रिया लगन्ति एवमेव ये खलु देहमेवात्मानं मन्यन्ते तेषामपि प्रीतिरात्मवत्तयैव, अन्यथा जीर्यति शरीरे कथं जिजीविषा तस्मात् निरतिशयप्रीतिभाजनमात्मा ततोऽपि सारभूतः परमात्मा स च कृष्णसंज्ञः । साम्प्रतमवतीर्णः तर्हि कथन्न समधिकममत्वभाग्भवेत् यथा — राजोवाच—

ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत् ।
योऽभूदपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ।।

श्रीशुक उवाच—

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वत्मैव बल्लभः ।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ।।

तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् ।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तग्रहादिषु ।।

देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ।
तथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनुये च तम् ।।

देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः ।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी ।।

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ।।

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देही वा भाति मायया ।।

(श्रीमद्भागवत १०/१४/४९ से ५५ तक)

शिवम् शेरते संम्पूर्णानि भूतानि यस्मिन् स शिवः तं शिवं सर्वभूताधारं पुनश्च सर्वाणि च तानि भूतानि च इति सर्वभूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि तेषु सर्वभूतेषु गूढं तेषां हृदयगुहासु योगमायारणावृतं जीवशुभाशुभकर्मद्रष्टारमेवं विधं निर्गुणं निराकारं ब्रह्म ज्ञात्वा तथा विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं निजमहिम्ना समाच्छादकं देवं दीव्यन्तं विजगीषमानं संग्रामाङ्गणेषु रावणादीन् हत्वा सगुणसाकारं ब्रह्म रक्षकत्वेन निश्चित्य सर्वपाशैः भवबन्धनैः मुच्यते मुक्तः क्रियते । अत्र द्वितीयचतुर्थपादयोः ज्ञात्वेति द्विरुक्तिस्तु निर्गुणं सगुणमिति ब्रह्मद्वयं यौपपद्येन ज्ञातुं विधिवाक्येन प्रेरयति ।।श्रीः।।

भूयस्तदेव ब्रह्म निजगानविषयी करोति एष इति —

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।१७।।

जनानां हृदये सदा संनिविष्टः एषः महात्मा विश्वकर्मादेवः अस्ति हृदा मनीषा मनसा अभिक्लृप्तः (भवति) एतत् जीवाः विदुः ते अमृताः भवन्ति इत्यन्वयः ।

जनानां जनिमतां हृदये अन्तःकरणे सदा सर्वास्ववस्थाषु संनिविष्टः अन्तर्यामितया विराजमानः अत्र सर्वत्र हृदयेषु एकेनैवान्तर्यामिरूपेण विराजमानत्वात्, आधेयावच्छे-दकैकत्वाभिप्रायेण (वेदाः प्रमाणं) इत्यादिवत् हृदये इति एकवचनम् । एषः साधकानां प्रत्यक्षीभूतः महान्तः परमभागवताः आत्मवत्प्रियाः यस्य स महात्मा अथवा महत्सु तन्मनोमन्दिरावच्छेदेन सत्सु आत्मा यस्य स महात्मा अत्र बाहुलकाद्सामानाधिकरण्येऽपि "आन्महतः" इति सूत्रेणाकरः । विश्वं संसारः कर्मरचना अथवा विश्वं जगत् कर्मक्षेत्रं यस्य स विश्वकर्मा देवः देदीप्यमानः अस्ति । स कथं ज्ञायते ? इत्यत आह हृदा चेतसायामनीष बुद्ध्या **बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः**" इत्यमरः। मनः ईष्टे इति मनीषा तया मनीषया इति वक्तव्ये "सुपांसुलुक्" इति सूत्रेण टाविभक्तेर्लुकि मनीषा इति अथवा मनीषया सहितं मनः इति मनीषा मनः तेन मनीषा मनसः मनसा मानसेन स्वान्तेन अभिक्लृप्तः विज्ञातो भवति । अत्र ब्रह्मज्ञाने चेतो बुद्धिमनसां समुपयोगेऽपि ब्रह्मबोधेनाहंकारोपयोगः एतत् रहस्यं ये विदुः ये ज्ञातवन्तः ते अमृताः त्यक्तमरणधर्मा-वच्छिन्नशरीराः भगवत् पदपद्मकिंकराः भवन्ति ।।श्रीः।।

इदानीं ब्रह्मप्राप्त्यवस्थां विवृणोति जीवः ब्रह्मणि प्राप्ते देशकालावस्थामतीत्य जागतिकधर्मबहिर्भूतो नित्यं परमात्मकैंकर्यानन्दं लभते ।

यदेति—

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ।।१८।।

यदा यस्मिन् काले अतमः न विद्यते तमः अज्ञानान्धकारः यस्मिन् तत् अतमः परब्रह्म ज्ञानं वा, अथवा अलमकारप्रश्लेषेण यदा यस्मिन् काले तमः कोटि-कोटि कन्दर्पदर्पदलनं नवजलधरनीलं पुञ्जीभूतं तम इव भगवतः श्रीरामस्य त्रिलोक-लावण्यलक्ष्मीमयं भुवनमोहनं श्यामलं अतिसीन्द्रनीलमणिनीलसरसीरुहघनतरुण तमाल-कालिन्दीसलिलसुभगं श्यामलं रूपं दृग् पथपान्थो भवति तदा न दिवा नैव दिवसानुकूल-जगत्प्रवृत्तिः न वा प्रेमसमाधिः सैयातौ व्युत्थानं न वा दिनस्थानज्ञानं न रात्रिः अत्र रात्रिः अविवेकरजनी न नवाममता रात्रिः न वा अविद्यानिशा प्राप्ते ब्रह्मणि न रात्रिः नैवरात्रिसमुचितस्वप्नसुषुप्ती । तत्र न सत् नैव जीवस्य स्वतन्त्रमस्तित्वं च तथा न असत् नैव मायोपलम्भः ब्रह्मणि प्राप्ते साधकस्य समक्षं कस्तावत् भवति ? इत्यत् आह केवलः एकलः शिवः सकलकल्याणमयो भगवान्, यद्वा शिवस्यापि शिवकरः परमेश्वरप्रेमा एवं सकलद्वन्द्वातीतं प्राप्तपरमेश्वरप्रेमप्रसादं भगवत् साक्षात्कारिणं तत् अक्षरमम् परमात्मानं क्षरति सत्संगेन सर्वत्र वितरति इत्यक्षरं, क्षरभावरहितं वा, अक्षाणि समस्तेन्द्रियाणि राति भगवते अर्पयति गोपिका इव तथाभूतं सवितुः परमात्मनः वरेण्यं कृपया वरणार्हम् एवंभूतं निजभक्तं भगवानपि वृणुते । तस्मात् कृतभगवत् साक्षात्कारात् महात्मनः पुराणी परमेश्वरतत्वविवेचनी प्रज्ञा भगवदीया मतिः प्रसृताः दिगन्तेषु प्रसारं नीता ।।श्रीः।।

इदानीं परमात्मानो महिमानं सर्वातिशयतया समभिधातुमुपक्रमते—

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।।१९।।

एनं दिक्देशकालाद्यनवच्छिन्नत्वात् आद्यन्तमध्यरहितत्वाच्च अखण्डमनंत-मनवयवमचिन्त्यमव्यपदेशमव्यवहार्यमलक्षणमव्यक्तमेकमजन्मानमूर्ध्वमुपरि साकेतादौ वर्तमानमपि स्वर्महस्तपोजनः सत्यनिवासः सकलोऽपि ब्रह्मर्षिसमूहः न परिजग्रभत् न परिष्कृत्य ग्रहीतुं शक्नोति । तिर्यञ्चं वक्रं चलन्तम् अपि न ग्रहीतुं शक्नोति, एवं मध्ये भूर्लोके मध्यतो वा न ग्रहीतुं शक्नोति ऊर्ध्वं हि साकेतलोकः तिर्यगन्तरीक्षं रविकिरणानां तिर्यगेव दृष्टिगोचरत्वात् अतएव माघकाव्ये—

''गतं तिरश्चीन मनूरुसारथेः'' (शिशुपालवध १/३)

एवं मध्ये भूर्लोकः अतिगहनत्वात् पातालस्य चर्चा न हि। अथ सर्वतोग्रहणानर्हत्वेपि सादृश्येन ग्रहीतुं शक्यत ? इत्यत आह नेत्यादि तस्य परमात्मनः प्रतिमा प्रतिमानं सादृश्यं न अस्ति न विद्यते यस्य भगवतः नाम श्रीरामाद्यभिधानं यशः कीर्तिश्च महत्

महनीयं "यस्य नाम महद्यशः" इति श्रुत्या भगवदवतारवादोऽपि सूचितः । यत्तु न तस्य प्रतिमाअस्ति इति मन्त्रेण भगवतो मूर्तिपूजानिषेधं परिकल्पयन्ति तत्तु संन्निपातग्रस्तानां प्रलपितमिव प्रकरणमत्रत्यमनालोचयताम् कुमनीषितं न श्रद्धेयम् अत्रत्य प्रतिमा पदं सादृश्यपरं, अथ प्रतिमाशब्दस्य सादृश्यार्थे किं मानम् ? यस्य नाम महद्यशः इति इहत्य श्रुतिसकलमेव परमं प्रमाणं न खलु शरीररहितस्य नामयशसी महती भवतः "**सर्वतः पाणिपादं तत्**"(श्वेताश्वतर ३/१७) ननु अपाणिपादोजवनो ग्रहीता इत्यादि श्रुतौ भगवतो रूपराहित्यमस्तीति ? चेन्मैवम् तत्र अनपेक्ष्य पाणिपादः इति व्याख्यानेनादोषात् । वस्तुतस्तु एनमूर्ध्वं साकेतादौ श्रीरामादिरूपं तिर्यञ्च तिर्यक्गमनं मत्स्याद्यवतारं मध्ये मानुषे लोके समागतं श्रीरामकृष्णान्यतरं न परिजग्रभत् न कोऽपि परिश्रान्तोऽपि ग्रहीतुं शक्नोति । यथोक्तं श्री मानसे—

कौसल्या जब बोलन जाई । ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई ।।

(मानस १/२०३/७)

यस्मिन् कृपां कुरुते तेनैव गृह्यत इति भावः। एवं न तस्य जानुपाणिविचरण-काले बाललीलायां विनतकन्धरस्य भगवतो रामलालस्य श्रीराघवस्य लड्डूगोपालस्य च प्रतिमा प्रतिकृतिः मूर्तिः अस्ति विद्यत एव, यस्य प्रतिमाभूतस्य भगवतः नाम महद्यशः इत्यनेन मूर्तिपूजाविरोधिनः परास्ताः।।श्रीः।।

अधुना भगवतः श्रीविग्रहस्य हृषीकागोचरत्वं साधयति नेत्यादिना—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनस्म् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।२०।।

अस्य परमात्मनः रूपं संदृशे दर्पणे न तिष्ठति न स्थातुं शक्नोति, सूर्यादेरिव तत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावाभावात् व्याप्यत्वाच्च दर्पणस्य तदपेक्षया परमात्मनश्च समधिक-निर्मलत्वात्। एवमेनं परमात्मानं कश्चन कोऽपि प्राकृतो जनः चक्षुषा प्राकृतनेत्रेण न पश्यति न विलोकयितुं शक्नोति । तस्य सर्वथैवाप्राकृतत्वात्।

यथोक्तं भगवता—

'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा' (गीता ११/८)

हृदिस्थमन्तर्यामिणं हृदा चेतसामनसा स्वान्तेन एनं य एवं विदुःजानन्ति ते अमृताः ते मरणरहिताः भवन्ति ।।श्रीः।।

इदानीं परमात्मानं रुद्ररूपं स्वं त्रातुं मन्त्रद्वयेन प्रार्थयते—

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ।।२१।।

हे रुद्र दुष्टरोदनशीलपरमात्मन् तथा च रोदयति रावणादीन् इति रुद्रः । यथोक्तं मानसे—

बहु विलाप दसकंधर करई । बंधुसीस पुनि-पुनि डरधरई ।।

(मानस ६/७१/)

अजातः भगवान् अजन्मा इदं व्याख्यानं प्राचीनानुरोधेन । वस्तुतस्तु अत्र वाक्यभेद-शब्दाध्याहारकल्पनरूपदूषणसंभावनया परिहर्तव्यमिदम्, अजात इतिः कश्चित् इत्यस्य विशेषणं हे रुद्र! कश्चित् कोपि निरीहः भीरुः बिभेति इति भीरुः कालभुजगात् त्रस्यन् अजातः अकारो वासुदेवः तस्मात् व्यूहरूपात् त्वदंशात् जातः एवमित्थं विचार्य तदंशिनं सर्वस्य शरणं त्वां भवन्तं श्रीरामाख्यं शरणागतवत्सलं प्रपद्यते प्रपन्नो भवामि प्रपद्यत इति "व्यत्त्ययात् तप्रत्ययः" प्रपद्ये इतिः शब्दार्थकः । मामिति अग्रे उत्तमपुरुषाभिधानात् । हे प्रभो! यत्ते दक्षिणं सौम्यं रुद्रपक्षे दक्षिणदिक्वर्ति श्रीरामपक्षे दक्षिणं लंकाभिमुखं दक्षिणं प्रणतानुकूलं मुखमाननं मुखं सुभटप्रमुखं श्रीहनुमद्रूपं तेन मां निजकिंकरं सौम्यमुखेन हनुमता च नित्यं निरन्तरं पाहि त्रायस्व । मन्त्रोऽयं रुद्रपक्षेत्वभिधया वेदानां भगवति परमतात्पर्यतस्तु व्यञ्जनया श्रीरामरूपे ब्रह्मणि ।।श्रीः।।

अथ सामान्य दृष्ट्या कामेन कोऽपि तम् प्रलयक्रुद्धं वा रुद्रं परमार्थतस्तु रावण-हननबेलायां सागरनिग्रहबेलायां वा परमक्रोधाविष्टं परमेश्वरं कोशलेश्वरं श्रीरामं समनुनिनीषुः भूतव्रातः प्रार्थयते —

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
वीरान्मा नो रुद्र भामितोवधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे ।।२२।।

हे रुद्र नः तोके तनये मारीरिषः नः आयुषि मारीरिषः नः गोषु मारीरिषः नः अश्वेषु मारीरिषः हे रुद्र भामितः नः वीरान्मावधीः (वयं) सदं त्वां हविष्मन्तः (सन्तः) हवामहे इत्यन्वयरीतिः ।

हे रुद्र ! अशुभ कर्मकृतां रोदयिता नः अस्माकं तोके अल्पवयसि बालके तनये पुत्रे मारीरिषः मा विनाशं समुपस्थापय । नः अस्माकं आयुषि जीवनावधौ मारीरिषः न्यूनतां मा कृथाः, नः अस्माकं गोषु धेनुषु अश्वेषु हयादिवाहनेषु मारीरिषः अल्पतां

मानैषीः, हे रुद्र ! भामितः भामः क्रोधः संजातः अस्य इति भामितः संजातरोषः त्वं नः अस्माकं वीरान् पराक्रमिणो योदधृन् मावदीः मानीनशः, वयं प्रार्थयितारः सदं सीदति तिष्ठति प्रलयकर्मणि इति सत् तं सदं तादृशं प्रलये कृतनिश्चयं त्वां भवन्तं हविष्मन्तः प्रशस्तं हविरस्ति येषु तथाभूताः इत् निश्चयेन हवामहे 'गणकार्यस्यानित्यत्वात् नैवस्लुकार्याणि' तथा च हूधातोरेव हवतीत्यादिरूपेषु उत्तमपुरुषबहुवचने हवामहे ''व्यत्त्ययादिदं लोके तु जुह्मः तर्पयाम इति भावः ॥श्रीः॥

इति श्रीचित्रकूटनिवासि जगद्गुरूरामानन्दाचार्यश्रीरामभद्राचार्यप्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रीराघवकृपाभाष्ये चतुर्थोध्यायः ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। श्री राघवोविजयते तराम् ।।

।। श्री रामानन्दाचार्याय नमः ।।

।। अथ पञ्चमोऽध्यायः ।।

तुर्ये तुर्यस्य माहात्म्यं यथा युक्त्युपवर्णितम् ।
वर्ण्यते ब्रह्म वैचित्र्यं पञ्चमे पञ्चमाप्तये ।।

अथ चतुर्थेऽध्याये '**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' इत्यादि मन्त्रैः ब्रह्ममहिमावर्णितः "**द्वा सुपर्णा**" इत्यादि मन्त्रैः जीवब्रह्ममणोरपि स्वरूपगतः स समारोहं भेदोऽपि निरूपितः। अथ विद्या विद्ययोः क आधारः ?

यदि चेद्ब्रह्म तर्हि तयोस्तेन कः सम्बन्धः न खल्वाधार आधेयस्य केवलं नियन्तैव भवति, प्रत्युत नियम्योऽपि यथास्मदादेर्वृष्यादिः अत एव आधेयरूपविद्या-विद्ययोराधारभूतब्रह्मणा सह किं सम्बन्धवैलक्षण्यम् ? सालक्ष्यण्यं वा वैलक्षण्यं सम्बन्धे स्वरूपे वा सकलमिदं जिज्ञासितं समाधातुं पञ्चमोऽध्याय आरभ्यते ।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।।१।।

अन्वयः :— द्वे अक्षरे अनन्ते ब्रह्मपरे यत्र विद्याविद्ये गूढे निहिते अविद्या क्षरम् विद्या अमृतम् यः तु विद्याविद्ये ईशते सः अन्यः ।

ब्रह्मणो हि द्वैरूप्यम् निर्गुणं सगुणं चेति निर्गुणं नाम निर्लीनगुणकं निष्क्रान्तगुणकं निःशेषगुणकं नीरूपगुणकं निराकृतदुर्गुणकं वा, सगुणं खलु प्रकटितस्वजनोपयोगि-कल्याणगुणकं, ते ब्रह्मणी किं धर्मके ? इत्यत आह द्वे अपि अक्षरे विनाशरहिते न क्षरतः इत्यक्षरे सर्वव्यापके इति भावः । निर्गुणेन सगुणेन ब्रह्मणा खलु चराचरं व्याप्तम्। अथवा अश्नुतः चराचरं व्याप्नुतः इत्यक्षरे सर्वव्यापके इति भावः । निर्गुणेन सगुणेन ब्रह्मणा खलु चराचरं व्याप्तम् । अथ समानतया चराचरव्यापकत्वे द्वयोः किं वैलक्षव्यम् ? इति चेत् श्रूयतां पावकपरिस्थितिके उभे यथा एकः दारुगतो न दृश्यते सर्वैः तथैवेदं निर्गुणं ब्रह्म यथापरः प्रकटितभीषणस्फुल्लिङ्गमालो विस्तीर्ण-विकरालज्वालाज्वालो भस्मसादशेषं करोति तथैवेदं सगुणं ब्रह्म । यथोक्तं मानसे—

एक दारूगत देखिय एकू । पावक सम जुगब्रह्मविवेकू ।।

(मानस १/२३/४)

द्वे अपि अनन्ते देशकालपरिस्थितिवस्तुपरिच्छेदरहिते, एवं किन्नामके ? अत आह ब्रह्मपरे निर्गुणं नाम ब्रह्मशब्दव्यवहार्यम्। सगुणं नाम परम अर्थात् परंब्रह्मेति कथ्यते । निर्गुणतः परत्वे सगुणब्रह्माणः किं मानमिति चेत् गीतैव गृह्यतां "**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**" (गीता १४/२७)। अत्र ब्रह्मणः निर्गुणब्रह्मणः प्रतिष्ठानिवासस्थानं प्रतिष्ठाप्राप्तिस्थानं वा अहं सगुणं ब्रह्म वसुदेवनन्दनः श्रीकृष्णः इत्यर्थः । ननु सगुणब्रह्मणः परब्रह्मव्यपदेशे किं मानम् ? इति चेत् तत्रैव श्रीगीतायां अर्जुनवाक्यम्, "**परंब्रह्म परंधाम पवित्रं परमं भवान्**" (गीता १०/१२)

एवं निर्गुणं ब्रह्म सगुणं परब्रह्मेति व्यवस्था द्वे अपि अनन्ते अन्तरहिते तयोरेव विद्यासगुणे ब्रह्मणि, अविद्या च निर्गुणे ब्रह्मणि गूढ़े भगवन् महिम्ना प्रच्छन्नस्वप्रभावे निहिते स्थिते स्तः । यत्तु अक्षरे इत्यादि पदत्रयं सप्तम्यन्ततया व्याचक्षते तत् चिन्त्यम्। यत्र इत्यस्य अनर्थकत्वात् सप्तम्यन्तानां विशेषणत्वेन प्रसिद्धेः । यच्छब्दस्य च तच्छब्दसापेक्षत्वात् तत्पदवाच्यब्राह्मणोऽध्याहारावश्यकत्वात् । ब्रह्मपरे इत्यत्र ब्रह्म शब्दस्य हिरण्यगर्भत्वेन व्याख्यानकल्पना पृथक्पदकल्पने च तत्र ब्रह्मशब्दस्य विशेषणतया व्याख्यानात् असमस्तकल्पने तत्र लुप्तविभक्तिकत्वसमवधानात् । इत्थं विपुलकल्पनागौरवग्रस्ततया सदोषत्वाच्च सप्तम्यन्तव्याख्यातो अक्षरादिपदत्रयस्य प्रथमाद्विवचनान्तव्याख्यनमेव ज्यायः । एवमविद्या नाम भगवद्ज्ञानशून्या भिन्ना भूम्यादिरष्टधाप्रकृतिः । तथा च नास्ति विद्या ब्रह्मविद्यात्मको भगवद्बोधः यस्यां सा-विद्या, न खलु भूम्यादिरष्टधा प्रकृतिः जडप्रायत्वात् भगवद्विमर्शे प्रभवा । एवं विद्या वेत्ति ब्रह्मतत्वं जानाति या तथाभूता, विद्यते वा ब्रह्म परमाराध्यत्वेन यस्यां हृद्देशे सा जीवनाम्नी विद्या, अथवा विद्या ब्रह्मविद्या अस्त्यस्यां सा विद्या परा प्रकृतिः जीवभूता। अत्रेदं विवेक्तव्यं यत्विद्या नाम नैवेषावास्योपनिषद्प्रोक्ता देवलोकाख्या, न वा अविद्या तत्प्रोक्ता पितृलोकपर्याया । अत्र तु विद्या नाम पराकृतिः जीवनाम्नी अविद्या च अपराप्रकृतिः भूम्यादिरष्टधा जीवभूता, विद्याभिधा पराप्रकृतिरक्षरा अपरा च अष्टधा-भूम्यादिजीवभोगोपकरणरूपा क्षरा । अथ किं मूलं व्याख्यानमिदम् ? अत्रत्यमेव तृतीयपादं क्षरं त्वविद्या इत्यादि इदमेव श्रीगीतायां ज्ञानविज्ञानयोगमाध्यमेन भगवान् व्यावृणोत्—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।

(गीता ७/४,५)

इत्थं पुराणेतिहासनयेऽपि अष्टधा प्रकृतिर्भूम्यादि रुक्मिणीप्रमुखा अष्टौ महिष्यः जीवानामनेकत्वात् । विविधयूथोगोपीसमूहः जीवभूतपरप्रकृतिरूपः भगवन्तं महारासे सममिलत् । यथाह श्रीभागवते भगवाञ्छुकाचार्यः—

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरूषः शक्तिभिर्यथा ।।

(श्रीमद्भागवत १०/३२/१०)

ताभ्यां परापरारूपाभ्यां रासगतगोपीद्वारकामहिषी संज्ञाभ्यां विलक्षणा श्रीराधा तु भगवदभिन्ना भगवद्रूपैवेति ध्येयम् । एवं विद्याविद्ययोर्वैलक्षण्यं किं तदेव द्योतयितुं तु शब्दः । तु, किन्तु ब्रह्मणि निहिता अपि अविद्याक्षरा अभिप्राय एषो यत् भवतु नाम सर्वाश्रयतया निर्गुणं ब्रह्म ह्यविद्याया आश्रयः परं तत् क्षरत्वं तेन न व्याहन्तुं शक्यं इदमेव तु शब्देन व्यनक्ति । अविद्या अष्टधा प्रकृतिः क्षरं हि निश्चयेन विद्या अमृतं क्षर-शब्दसन्निधानेन अमृतमक्षरपर्यायवाची विद्या अक्षरमिति भावः । अनयोः स्त्रीत्वेऽपि क्षरमक्षरमिति वस्तुविशेषणतया क्लीबे प्रयुक्तम् ईश्वरः आभ्यां विलक्षण इत्यत आह विद्याविद्ये परापरे क्षराक्षरे जीवतदुपभोगसाधनभूते ईशते नियच्छति गणकार्याणा-मनित्यत्वात् ईशधातोः भ्वादिकत्वात् न शपो लुक् । लोके तु ईष्टे इत्येव यः तयोर्नियमनंकरोति स एव प्रकृतिद्वयाधीशः । ततः ताभ्यां विद्याविद्याभ्यां अन्यः अतिरिक्तः परब्रह्म परमात्मा एतदुपबृंहणमेव श्रीगीतायाः पुरुषोत्तमयोगे,

द्वाविमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।

(गीता १५/१६,१७)

अनेन मन्त्रेण भगवत्या श्रुत्या सुस्पष्टं जीवब्रह्मणोर्भेदः ब्रह्मजीवप्रकृतिरिति तत्त्वत्रयं पृथिव्यादीनि जीवोपभोगसाधनानीति विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः प्ररोपितः ।।श्रीः।।

अथ कोऽसौ "**विद्याविद्ययोरीशानस्ततो विलक्षणः**" इत्यत आह—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ।।२।।

अन्वयः :—

यः एकः योनिम् योनिम् विश्वानि रूपाणि च सर्वाः योनिः अधितिष्ठति यः अग्रे प्रसूतम् कपिलम् ऋषिम् ज्ञानैः बिभर्ति तम् च जायमानम् पश्येत् सः इत्यन्वयः ।

यः एकः सकलविलक्षणः योनिं योनिं देवतिर्यङ्नरसंज्ञां विश्वाणि रूपाणि तद्गताननेकान् आकारान् च तथा सर्वाः योनीः सर्वभूतप्रभवस्थानानि अधितिष्ठति निजमहिम्नैवाधारीकरोति । स परमात्मा कियान् पुराणः? इत्यत आह, यः अग्रे स्वायंभुवे मन्वन्तरे प्रसूतं कर्दमेन देवहुत्यामुत्पादितं कपिलं भगवदंशम् ऋषिं कर्दमपुत्रं सांख्यशास्त्रप्रणेतारं ज्ञानैः सांख्यशास्त्रसम्बन्धिभिः प्रकृतिपुरुषतद्विकारतदधीशरूपषड्विंशति-तत्वभेदैः बिभर्ति अंशित्वेन धारयति पुष्णाति । च यस्तं जायमानं देवहूतिगर्भतः समाविर्भवन्तं निजांशं कपिलं अंशी सन् पश्येत् अपश्यत् "व्यत्ययात्" अपश्यत् इत्यर्थे पश्येदिति लङ्लकारप्रयोगः । यत्तु केचन ऋषिं प्रसूतं कपिलमित्यस्य त्रिकालद्रष्टारं स्वतोत्पादितं हिरण्यगर्भमिति व्याचक्षते, तत्तु दुराग्रहग्रस्तत्वात् हठप्रलपितमेव । श्रुतिर्हि सर्वेषामवताराणां मूलं यतो हि इतिहासपुराणानि "वेदार्थोपबृंहणानि" ऋषिं प्रसूतं कपिलम् इति श्रुतिः कापिलावतारं प्रमाणयति तमेवोपबृंहन्ति अष्टादशपुराणानि रामायणमहाभारतमितीतिहास द्वयं च । भागवते स्पष्टं कपिलावतारोपाख्याने तृतीयस्कन्धे त्रयोदशाध्यायावर्णितः कपिलश्च साक्षात् भगवान् उक्तः । यथा —

तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिवदारूणि ।।

(भागवत ३/२४/६)

प्रथमस्कन्धेऽपि अवतारगणनोपक्रमे पञ्चमाऽवताररूपेण कपिलो व्याख्यातः,

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
साख्यं चासुरये प्रादात् तत्वग्रामविनिर्णयम्।।

(भागवत १/३/१०)

श्रीगीतायामपि भगवान् कपिलः भगवद्विभूतित्वेनैव परिगणितः "**सिद्धानां कपिलो मुनिः**" (गीता १०/२६) यत्तु सांख्ये निरीश्वरवादमारोप्य तदाचार्येऽपि निरीश्वरत्वमर्वाचीनत्वमवैदिकत्वं च समुपस्थाप्य पुराणेतिहासकपिलशब्दं हठेन हिरण्यगर्भार्थतया व्याख्याय वैदिकीमर्यादैवातिकान्ता, तत् सर्वथैवानुचितम् । एकत्र वेदव्यासं भगवन्तं मन्यन्ते वेदान्तदर्शनकृतं तत्रोदाहरन्ति गीताया एव वाक्यं "**वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्**" (१५/१५) तत्रैवापरत्र "**सिद्धानां कपिलो मुनिः**" यदि गीतावाक्ये-

नैव प्रमाणितभगवद्विभूतिकपिलं निराकुर्वन्ति । इत्यसंगतो **अर्धजरतियन्यायः** यदि वेदान्तसूत्रकारो भगवान् तर्हि सांख्यसूत्रकारोऽपि द्वयोरपि स्वविभूतित्वेन भगवतैव प्रतिपादितत्वात् कपिलस्य कृते "**सिद्धानां कपिलोमुनिः**" (१०/२६) व्यासस्य कृते "**मुनीनामप्यहं व्यासः**" (१०/३७) वैदिकसिद्धान्तवर्णने सांख्यावेदान्तनिरूपणेषु कपिलवेदव्यासयोर्भगवतोर्विवादे जीवभूतैरस्माभिर्मूकैरेव भवितव्यम् । भगवदभिप्रायवर्णने के वयं क्षमामहे वराकाः । सांख्ये वस्तुतः सम्प्रदायद्वयं सेश्वरवादः कपिलस्य "**षाड्विंशो हि पुरूषः**" इति भारते भगवानेव षड्विंशः तत्वरूपेण स्वीकृतः । भागवतेऽपि सांख्याचार्यः सन्नपि देवहुत्युपदेशप्रकरणे भक्तियोगं ज्ञानयोगं चापि प्रणिजगौ इति। किञ्च मा भवतु पप्रच्छन्नबौद्धानुकूलं सांख्यशास्त्रं परन्तु भूयो वैष्णवसिद्धान्तानुकूलम् । तथा हि वयं विशिष्टाद्वैतवादिनो रामानन्दीयाः श्रीवैष्णवाः प्रत्यक्षमनुमानं शाब्दमिति सांख्यानुमतं प्रमाणत्रितयं स्वीकुर्मः, सांख्यसम्मतं सत्कार्यवादमपि समङ्गीकुर्मः । तथा च पुरुषबहुत्वं सांख्यानुमोदितमेवाङ्गीकुर्मः । किञ्च तत्तत् सर्वं श्रद्दध्महे यद्यन्न विरुणद्धि भगवान् बादरायणः । इत्यलमतिशयनास्तिकसिद्धान्तपिष्टपेषणेन ।।श्रीः।।

भूयस्तस्य परमात्मनः जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारलीलां समामनति ! एकैकमित्यादि,

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ।।३।।

अन्वयः — एषः देवः अस्मिन् क्षेत्रे एकैकम् जातम् बहुधा विकुर्वन् संहरति तथा भूयः पतयः सृष्ट्वा महात्मा सर्वाधिपत्यं कुरुते ।

एषः देवः यः स्वायंभुवे कपिलं बिभर्तिस्म स एव एकैकम् एकमेकं जालं संसारसम्बन्धनामकं जालमिवबन्धनात्मकं जीवं वा बहुधा अनेकधा तत् पुत्रपौत्रादि-सन्तानपरम्परारूपेण मोहपरम्परारूपेण वा विकुर्वन् विस्तारयन् अस्मिन्नेव क्षेत्रे संसारे क्षीयते विनष्टुं भवतीति । क्षेत्रं संसारो हि नाशवान् जीवपरम्परा वितत्य भगवान् किं करोति ? इत्यत आह संहरति । प्रलयकाले सम्पूर्णानि जीवजातानि संकलयति यथा कोऽपि जालवान् विस्तृतं जालं समूह्यति । पश्चात् किं कुरुते ? इत्यत आह , भूयः, पुनः प्रलयावसाने पतयः प्रजापतीन् पतय इति व्यत्ययेन प्रथमा सृष्ट्वा विरचय्य ईशः, सर्वसमर्थः महात्मा, महामनस्वी जगत्सृष्ट्वा परमेश्वरः सर्वेषां जीवानामाधिपत्यं अधिपतेः कर्म कुरुते रक्षणरूपं कर्मानुत्तिष्ठति इति भावः । आधिपत्यमित्यत्र कर्मणि शञ् कर्मत्वं चात्र क्रियारूपं न तु व्याकरणशास्त्रीयं प्रकृतिजन्यधातूपात्तकर्तृवृत्यव्यापार-प्रयोज्यफलाश्रयत्वप्रकारकेच्छानिरूपितोद्देशताश्रयत्वावच्छेदकत्वम् ।।श्रीः।।

अथ भगवान् प्रतियोनिस्वभावान् कथमधितिष्ठति इति आह —

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ।।४।।

यत् उ सर्वादिशः ऊर्ध्वं अधः तिर्यक्च प्रकाशयन् यद्वत् अनड्वान् भ्राजते एवं स देवः वरेण्यः भगवान् एकः सन् योनिस्वभावान् अधितिष्ठति । सर्वादिशः पूर्वाद्याः ऊर्ध्वमाकाशमधःपातालं तिर्यक् अग्न्यादिकोणान् प्रकाशयन् निजकिरणरोचिषा भाषयन् अनड्वान् सूर्यदेवः, यत् उ येन प्रकारेण भ्राजते निरस्तमायातिमिरेण तेजसा विराजते । एवं सः पूर्वोक्तः देवः द्योतमानः परमप्रकाशस्वरूपः वरेण्यः निखिलप्राणिनां आश्रयतया वरणीयः भगवान् षडैश्वर्यसम्पन्नः एकः केवलः सन् योनिस्वभावान् प्रकृतिस्वभावान् अधितिष्ठति साधिकारं नियमयति सूर्य इव निजतेजसैव समस्तप्राणिनोऽतिशेते ।।श्रीः।।

अधुना भगवत् ऐश्वर्यं विवृणुते यच्चेत्यादिना —

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ।।५।।

विश्वयोनिः यत्स्वभावं पचति च यः सर्वान्पाच्यान् परिणामयेत् एकः एतत् सर्वं विश्वम् अधितिष्ठति । च सर्वान् गुणान् यः विनियोजयेत् स भगवान् इति पूर्वान्वयः। तुर्यश्लोके स देवरो भगवान् इत्युक्तम् तत्र भगवतो भगवत्वप्रतिपादकं एश्वर्यमेवोपबृंहयति। विश्वस्य संसारस्य योनिः कारणमिति विश्वयोनि यत् येन सामर्थ्येन स्वभावं पदार्थानां वैशिष्ट्यानि पचति परिपाकं नयति पृथ्व्यां गन्धं जले शीतलत्वमाधुर्ये अग्नावौष्ण्यं वायौ स्पर्शमाकाशे शब्द एवंविधंभूतस्वभावं य पचति । च तथा सर्वान् पाच्यान् भूम्यादीन् परिणामयेत् अत्र "व्यत्ययेन"विधिर्लिङ् परिणामं प्रापयतीत्यर्थः । यः एकः अनपेक्षितसहायः एतत् सर्वं विश्वं स्थावरजंगममधितष्ठति निजमहिम्ना प्रशास्ति, यः परमात्मा सर्वान् गुणान् सत्वरजस्तमोरूपान् जीवस्य भिन्नभिन्नस्वभावगतान् वा विनियोजयेत् स्वस्वकार्येषु प्रवर्तयति एवं स्वभावपञ्चभूतनिखिलविश्वसमस्तगुणनियामकत्वं भगवत्वमिति फलितम् ।।श्रीः।।

तं परमात्मानं के विदुः तद्वेदने च किं फलमित्यत आह—

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च ततद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ।।६।।

सुगमोऽन्वयः ।

तद् परब्रह्म नैव सामान्यजनकल्पनाप्रसूतं, प्रत्युत् वेदानां श्रुतीनां भागभूताः गुह्याः गोपनीयाः याः उपनिषदः तासु गूढं तन्मन्त्रार्थे निहितं तादृशं ब्रह्मणः वेदस्य योनिं प्राक्स्थानं ब्रह्मा चतुर्मुखोविधाता वेदते । एवं पूर्वं देवाः पूर्वे देवाः शिव-पुरन्दरादयः ऋषयश्च सनकादयो चकारेण नारदादयः ये विदुः जज्ञुः ते तन्मयाः भगवद्भावप्रचुराः अमृताः भगवत्कैंकर्ययोग्यशरीराः बभूवुः जाताः भगवद्ज्ञानेन निरस्तमाया तत्कार्यतया प्रारब्धजनितशरीरविगमे अमृताः बभूवुः अभवन् अतिक्रान्तमरणमर्यादाजाता इति भावः ।।श्रीः।।

एवंगुणगणविशिष्टपरमात्मांशभूतस्तद्विलक्षणो जीवः किमरूपः ? इत्यत आह गुणान्वयेति यतो हि वेदे गुह्यब्रह्मबोधेन तद्वेतृणाममृतत्वमुक्तम् —

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ।।७।।

भगवन्तमजानन् जीवः किं दशो भवति इति विवृयते यःभगवन्तं न जानाति स जीवः गुणान्वयः गुणानां सत्वरजस्तमसामन्वयः अनुबेधो यस्मिन् तथाभूतः भगवन्तं ज्ञात्वैव जीवः गुणातीतो भवति। यतो हि माहात्म्ये विज्ञाते भगवदीये समुदितायाञ्च ततो भक्तौ साधको गुणानत्येति । यथाह भगवान् गीतायाम्—

मां च योऽव्यभिचारेण, भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्म भूयाय कल्पते ।।

(गीता १४/२६)

फलप्रदकर्मणां कर्त्ता सकामत्वात् भगवति ज्ञात एवं । कर्मबन्धानि क्षीयन्ते

''इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते''

(गीता ७/१४)

एवं कृतस्य तस्य सकामकर्मणः स उपभोक्ता नान्यः कश्चन् अतएव कर्मफलभोगानुसारं जन्ममरणादिचक्रम् । तस्मात्स विश्वरूपः अनेकरूपवान् त्रिगुणः सत्वरजस्तमोऽवच्छिन्नः त्रीणि मर्त्यलोकस्वर्गनरकाणि देवतिर्यङ्मनुष्याख्यानि वर्त्मानि मार्गाः यस्य तथा भूतःप्राणानां पञ्चश्वासवायूनामधिपः अधिष्ठाता, अयं जीवः भगवत्पदपद्मपरागपराङ्मुखः स्वकर्मभिः शुभाशुभैः लब्धानेकजन्मा संचरति संसारसागरे मायाझंझाविवर्तैर्भ्रम्यते तस्मात् संसारकान्तारसंचरणोपरतये भगवानेव भजनीयः इति तात्पर्यम् ।।श्रीः।।

अधुना जीवात्मनः स्वरूपं निर्धारयति—

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ।।८।।

जीवस्य खलु द्वैविध्यं भगवत् प्रपन्नजीवः भगवत् विमुखजीवश्चेति, सामान्यतः जीवः अङ्गुष्ठमात्रः अङ्गुष्ठाकारः रवितुल्यरूपः रविणा सूर्येण तुल्यं रूपं यस्य तथाभूतः सूर्यसमान तेजस्वी । ननु रवितुल्यरूपस्यापि कथमङ्गुष्ठाकारिता यतोहि यःजीवात्मा संकल्पेन क्रतुना मनुधर्मेण अहंकारेण कर्तृत्वाभिमानेन बुद्धेः गुणेन आत्मनः मनसश्च गुणेन समन्वितः सङ्कल्पो मनोगुणः अहंकारश्च बुद्धिगुण इति विवेकः । ताभ्यां समन्वितः छुद्राकारः अपि किन्तु अपरः संकल्पाहंकाररहितः अपरः अकारो रामचन्द्र तस्मिन्परः भगवत्प्रपन्नः आराग्रमात्रः आरं काष्ठछेदनयन्त्रं तस्य अग्रं प्रमाणम्, यस्य, कथं जानासि ? इत्यत् आह दृष्टः हि निश्चयेन हि विलोकितः ।।श्रीः।।

सूक्ष्मोऽपि जीवः भगवद्भजनमहिम्ना अनन्तो भवतीत्याह—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।।९।।

बालस्य केशस्य अग्रस्यापि यः शतभागः शतपूरको भागः सोऽपि शतधा कल्पितः सन् एकोभागः अर्थात् बालस्य दशसहस्रतमो यः भागः स एव तत् समानो जीवः विज्ञेयः स च जीवः एतावानपि सूक्ष्मः जीवः भगवद्भजनमहिम्ना आनन्त्याय निःसीमत्वाय कल्पते प्रभवति ।।श्रीः।।

अस्य जीवस्य किं लिङ्गमित्यत आह—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ।।१०।।

एषः जीवात्मा स्त्री नारी नैव पुमान् न पुरुषोऽपि न। अयं जीवः नपुंसकोऽपि क्लीबोऽपि न त्रिलिङ्गरहितः । वस्तुतस्तु यत् यत् यद्यल्लिङ्गात्मकं शरीरं देहमादत्ते तेन तेन शरीरेण सः जीवात्मा रक्ष्यते त्रायते । पुरुषशरीरं वहन् पुरुषेण स्त्रीदेहं प्राप्नुवन् स्त्रिया क्लीबत्वं व्रजन् क्लीबशरीरेण रक्ष्यते त्रायते ।।श्रीः।।

अधुना जीवस्य संसारसंसरणं निरूपयति —

संङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धि जन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ।।११।।

संकल्प: प्राक्तनजन्मवासनारूप: अथवा जीवस्य पित्रो: तज्जन्मनि मिथोरिरंसारूप: संस्पर्शनं गर्भाधानक्रिया दृष्टि: अन्योऽन्य दर्शनं मोह: स्वरूपविस्मरणं एभिरेव जीवस्य जन्मग्रास: भोजनं तेन सहिता अम्बुवृष्टि: जलवर्षणम् एभिरेव आत्मन: जन्मवृद्धिश्च भवति । एवमेव असौ देही भिन्नभिन्नस्थानेषु गर्भेषु कर्मानुगानि शुभाशुभकर्मपरिणामभूतानि रूपाणि शरीराणि प्रपद्यते प्राप्नोति ।।श्री:।।

अधुना जीवस्य रूपवर्णे गुणानां कारणत्वं स्पष्टयति —

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ।।१२।।

जीव: स्वकीयसंस्कारै: शरीरस्य च क्रियाविशेषै: वैयक्तिकैश्च अहंतादिभिर्गुणै: अनेकानि शरीराणि स्वीकुरुते । तदेवाह क्रियासंस्कारा: तासां गुणै: वैलक्षण्यद्योतकै: आत्माशरीरम् "**आत्मा शरीरे जीवेच**" इति कोषात् । तस्यापि गुणै: दर्शनश्रवणादिभि: हेतुभूतै: देहीदेहाभिमानी जीवात्मा स्वगुणै: बन्धनभूतै: अत्र गुणशब्द: रज्जुपर: । स्थूलानि हस्त्यादीनि सूक्ष्माणि पिपीलिकादीनि बहूनि अनेकानि रूपाणि देहान् वृणोति तेषां परस्परं संयोग: कथम् ? तस्य हेतु: अपर: जीवात्मविलक्षण: अथवा अकारात् वासुदेवादपि पर: उत्कृष्टो ब्रह्ममय: श्रीराम: अपि निश्चयेन दृष्ट: साक्षात्कृत: अस्माभिर्महर्षिभि: इति शेष: ।।श्री:।।

एवं षड्भिरश्लोकै: जीवस्वरूपं वर्णयित्वा परमकारुणिकश्रुति: तस्य मुक्त्युपायं अपि प्राह —

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्
।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।१३।।

अनाद्यनन्तम् आद्यन्तरहितं कलिलं नाम पङ्क तद्युक्तं स्थलं च, अत्र लक्षणया हृदयमेव कलिलम्, अर्थात् भगवत्प्रेमपङ्कपङ्किलहृदयरूपकलिलस्य मध्ये एव परमात्मा विराजते। अथवा कलिं संसारकलहं कलियुगं वा इति कलिलं तस्य मध्ये यस्मिन्नन्त:करणे जगत् कलहो न तत्रैव भगवान् विराजते एवंभूतं विश्वस्य स्त्रष्टारं जगत् कर्तारमनेकानिकच्छ-मत्स्यवराहादीनि रूपाणि अवतारा यस्य तथाभूतं विश्वस्य अद्वितीयं व्यापकं देवं श्रीरामं निजनाथत्वेन ज्ञात्वा जीव: सर्वपाशै: मुच्यते ।।श्री:।।

परमात्मज्ञानेन मायामयशरीरनिवृत्तिं स्तुवन्नध्यायम् उपसंहरति —

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ।।१४।।

भावा: भगवत्परितोषणानुकूलक्रियाविशेषा: शान्तदास्यसख्यवात्सल्यमधुराख्या: तै: गृह्यते इति भावाग्राह: तथाभूतम् अनीडाख्यं नास्ति नीडं पक्षिनिवासभूतं गृहं ते अनीडा: परमहंसा: मुनय: तै: अनीडै: परमहंसपरिव्राजकै: आदरेण ख्यायते वर्ण्यते इत्यनीडाख्य:, तं यत्तु अशरीरमिति व्याख्यातम् तच्छ्रुतिविरुद्धं '**सर्वत: पाणिपादंतत्**' (श्वे. उ. ३/१७) भावस्य संसाररूपस्य अभावकरं, यद्वा भक्तेषु भक्तिभावकरं दुष्देषु च बलाभावकरं तादृशं कलानां षोडशानां सर्गं निर्माणं करोति इति कलासर्गकर: तमेवं भूतं देवं दिव्यविग्रहं श्रीरामसंज्ञं देवं ये विदु: ये जानन्ति, ते तनुं मायां तनोति प्रपञ्चं या सा तनु: माया इति व्युत्पत्ते: जहु: त्यक्तवन्त: । अथवा ते तनुमजहु: न त्यक्तवन्तदिव्यशरीराणि प्राप्तवन्त इति भाव: । अथवा जहुरिति ओहाक्त्यागे इति धातो: लिटि प्रथमपुरुषबहुवचनरूपं त्यागश्च भगवत्समर्पणं तनुं जहु: भगवन्तं विज्ञाय शरीरं भगवते समर्पितवन्त:, तदुपलक्षणान् सकलानपि धर्मान् भगवदर्पणान् कृतवन्त:।

यथोक्तं मानसे—

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही । विद्यानिधि कहुँ विद्या दीन्ही ।।

इति श्रीचित्रकूटनिवासि जगद्गुरुरामानन्दाचार्यश्रीरामभद्राचार्यमहाराजै: प्रणीते श्रीराघवकृपाभाष्ये पञ्चमोऽध्याय:।।
श्रीराघव: शं तनोतु।।

॥ श्री राघवोविजयते तराम् ॥

॥ श्री रामानन्दाचार्याय नमः ॥

।। अथ षष्ठाऽध्यायः ।।

षष्ठाध्याये तमेवार्थं वर्णत्यखिलेश्वरम् ।
ऊनविंशतिमन्त्रैस्तु चतुर्भिश्चोपसंहृतिः ।।

षडध्यायीयमुपनिषद् परमेश्वरस्य भगवत्वनिरूपिका अस्यामेव द्विर्भगवान् शब्दत उपात्तः यथा "**सर्वव्यापी स भगवान्**" (श्वेताउ॰ ३/११) "**एवं स देवो भगवान् वरेण्यः**" (श्वेताउ॰ ५/४) तस्मात् भगवत्वप्रतिपादनं समुचितमेवात्र । भगवत्वं हि नित्यतया षडैश्वर्यसम्पन्नत्वं षडैश्वर्याणि च ऐश्वर्यधर्मयशश्रीज्ञानवैराग्यणि । यतोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।।

तस्मादत्र षट्स्वध्यायेषु यथाक्रममेकैकभगस्यैकस्यैकैकस्मिन्नध्याये वर्णनम् । अत्र हि षष्ठे वैराग्यस्य वर्णनम्, ग्रन्थोपसंहारे प्रथमाध्यायोक्तानां स्वभावादीनां हेतुत्वेनाभासितानां हेतुपदं साम्प्रतं स्पष्टं निरस्यति स्वभावमित्यादिना—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ।।१।।

अत्र मन्त्रे एके अकवयः इति पदच्छेदः कवयो हि नव्यलीकं वदन्ति, तस्मात् एके अकवयः स्वभावम् (हेतुम्) वदन्ति । तथा परिमुह्यमानाः अन्ये कालम् (हेतुम् वदन्ति), तु एषः देवस्य लोके महिमा येन इदम् ब्रह्मचक्रम् भ्राम्यते, इति निगूढोऽन्वयः।

अकवयः अविद्वांसः कामरागोपहतचित्ताः एके अन्ये "**एकोऽन्यार्थे** " इति कोषात्। स्वभावं निजनिजस्वाभाविकीं शक्तिमेव हेतुं वदन्ति प्रतिपादयन्ति । तथा समुच्चयार्थोऽयमव्ययः। परिमुह्यमानाः परितो मुह्यमानाः धर्मार्थकाममोक्षान् यथार्थतया न जानन्तो मोहग्रस्ताः तान् अयथार्थतया व्याचक्षाणा इति भावः ।

अथ पुरुषार्थचतुष्के किमिति याथार्थायथार्थविवेचनमिति चेन् सावधानं समाकर्णय। यथार्थो निष्प्रमादभगवद्भजनं अयथार्थस्ततोऽन्यो लोकधर्मः । अर्थो यथार्थो हि परमात्म पदपद्मपरागमकरन्दप्रेमरूपः समास्वादनविशेषः । ततोऽन्यो गजवाजिधेनुहिरण्यादिः

कामो यथार्थः कोटिकोटिशरदिन्दुनिन्दकलोकाभिरामश्रीराममुखेन्दुमाधुरीपीयूषपिपासा सांसारिकसौन्दर्यदिदृक्षा ततोऽन्यः, मोक्षो यथार्थो भगवद्भक्तसंगः ततोऽन्यो आवरणभङ्गादिः अयमेव विवेकः एतच्छून्यता परिमोहः एतेन ग्रस्ताः कालः उपलक्षणतया प्रथमाध्यायकथितान् आत्मपर्यन्तान् हेतुमिति वदन्ति । तेषां मतं निरस्य सिद्धान्तमाह, तु असन्तोषप्रदर्शनं पूर्वोक्तमतानि न सन्तोषावहानीति भावः । एषः, अयम् जगदुत्पत्तिः स्थितिभङ्गहेतुः लोके लोकविषयकः लोकप्रसिद्धो वा देवस्य भगवतः महिमा अघटितघटनापटीयान् ऐश्वर्यविशेषः येन भगवद्महिम्ना इदं पुरतो वर्तमानं ब्रह्मचक्रं प्रथमाध्याये वर्णितस्वरूपं ब्रह्मणः सृष्टिचक्रं भ्राम्यते भ्रमणमापाद्यते ।।श्रीः।।

यस्य महिम्ना ब्रह्मचक्रं भ्राम्यते तस्य भगवत्स्वरूपं कीर्तयति येनेत्यादिना ।

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारोगुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ।।२।।

अन्वयः — येन सर्वम् आवृतम् यः कालकारः गुणी सर्वविद्यः तेन ईशितम् कर्मविवर्तते तेन (ईशीतानि) पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि (तत्) इदम् नित्यचिन्त्यम् इति दुरूहोऽन्वयः ।

जिज्ञासुं सावधानं कुर्वन् समुपदिशति श्वेताश्वतरः । येन परमात्मना सर्वं चराचरं स्वमहिम्ना चराचरमावृतम् आच्छादितम् यः, परमात्मा कालकारः, कालं करोति उत्पादयति यस्तथाभूतः कालस्यापि निरवयवस्य जन्मदातेति भावः । गुणी , गुणाः प्रशस्ताः निरस्तसकलहेयगुणप्रत्यनीकाः सौन्दर्यमाधुर्यसौशील्यतारुण्यकारुण्य-दयादाक्षिण्यादयः सकलकल्यारुण्य-कारुण्यदयादाक्षिण्यादयः सकलकल्याणमयसद्गुणाः नित्यं सन्त्यस्मिन् इति गुणी, इत्यनेन निर्गुणवादप्रसादो भूमिसात्भूतः । यत्तु ब्रह्मणो निर्धर्मत्वं गुणराहित्यञ्चय प्रलपन्ति तदसङ्गतम् । निरपेक्षमपि परमात्मानं नहि कदापि गुणाःजहति । सर्वविद्यः, सर्वाःविद्या यस्मिन् स सर्वविद्यः तेन परमात्मना ईशितं प्रेरितं कर्म श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्रोपासनाख्यं विवर्तते, व्यवस्थितं वर्तते इति विवर्तते व्यवस्थया प्रवर्तते इति भावः । तेनैव पृथ्वी च आपश्च तेजश्च अनिलश्च खं च इति पृथ्वप्तेजोऽनिलखानि, भूमिजलतेजोवायुनभांसि तेनैव प्रेरितानि व्यवस्थया वर्तन्ते, परमात्मानुशासनं विना पृथिवी धारणां जह्यात् जलं माधुर्यं त्यजेत् अग्निरौष्ण्यं विसृजेत् वायुर्न वायात्, आकाशो नावकाशं दद्यात् । यथोक्तम् भागवते,

मद्भयात् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युं धावति पञ्चमः ।।

तत् इदं निखिलशासकं नित्यं सदैव परब्रह्मचिन्तामणिभूतं चिन्त्यं चिन्तनविषयतां नेयम् ।।श्रीः।।

सम्बन्धः :— चिन्त्यस्य परमात्मनः स्वरूपमाह—

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ।।३।।

सुगमोऽन्वयः—

इदानीं चिन्तनप्रकारं वर्णयति, परमात्मचिन्तने सति, तस्य परमात्मनः सम्बन्धिकर्म इति तत्कर्म कृत्वा सर्वं विहितं कर्म परमेश्वरप्रीतये विधायेति भावः । भूयः पुनः फलप्राप्तिवेलायां विनिवर्त्य फलाशातः मनः परावर्त्य सर्वस्य कर्मणः सफलस्य परमेश्वरचरणयोः समर्पितत्वात् पुनः किं कृत्वा ? इत्यत आह त्रिभिः पदैः तत्वेन निजस्वरूपेण विशदप्याह , एकेन अव्यक्तनाम्ना द्वाभ्यां लोकपरलोकाभ्यां त्रिभिः सत्वरजस्तमोभिः, यद्वा पुत्रैषणावित्तैषणालोकैषणारूपैः अष्टभिः मनोबुध्य्यंहकारसहितैः पञ्चभूतैः कालेन आत्मनः शरीरस्य गुणैः क्षुत्पिपासादिभिः सूक्ष्मैः पञ्च प्राणैः दशेन्द्रियवृत्तिभिर्चतुरन्तःकरणधर्मैः योगं सेव्यसेवकभावसम्बन्धं तस्य परमेश्वरस्य विधाय शरीरस्य समस्तैरपि बाह्यान्तरूपकरणैः सह भगवत एव सम्बन्धं तद्वत्तया विनिश्चित्य चिन्त्यमिति भावः ।।श्रीः।।

अथ भगवन्तं चिन्तयमानस्य साधनाप्रकारमुपदिशति, यतो हि वेदस्य काण्डत्रयी परमात्मनः प्राप्तये प्रभवति, कर्मण्यपि भगवत्समर्पणबुद्ध्या विहितानि परमेश्वरभजन-प्रत्यवायभूतकश्मलानि निरस्य स्वकृतं भगवन्तमेव प्रापयन्ति । उपासनापि विगतवासना भजनविक्षेपं निक्षिप्य दूरतः उपासकं भगवत्प्रेमपाशकमेव तनुते, एवं ज्ञानमपि विभज्या-वरणं भजनस्य निरावरणचरणारविन्दपरागमकरन्दस्वादाय जीवं विगतसङ्गं भृङ्गयति। तस्मात् वेदकाण्डत्रयी न केवलं मलविक्षेपावरणभङ्गाय प्रभवति, प्रत्युत्निष्कामेन सेव्यमाना भगवत्प्राप्तौ सहायिका भवतीति मन्त्रत्रितयेन श्रुतिकाण्डत्रयीं भगवदुपलब्धिसाधनत्वेन सूचयन् प्रघट्टमारभते । तत्र प्रथममन्त्रे श्रुतिविहितकर्मणामेव भगवद्भजनोपयोगितां वर्णयति । आरभ्य इत्यादिना—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि, भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्तवतोऽन्यः ।।४।।

अन्वयः सुगमः —

गुणैः प्रकाशप्रवृत्तिनिवृत्तिधर्मकैः सत्वरजस्तमोभिः अन्वितानि युक्तानि कर्माणि शास्त्रविहितानि आरभ्य प्रारम्भविषयान् विधाय तेषां कर्मणां सर्वान् भावान् सत्तारूपान् व्यापारान् परिणामरूपणि फलानि वा । यः साधकः विनियोजयेत् विशिष्टाद्वैतभक्त्या परमात्मने समर्पयेत् । एवं फलेषु परमेश्वराय समर्पितेषु तेषां फलानां व्यापाराणाञ्च

भावानां प्रारब्ध जनकत्वरूपे अभावे कृतकर्मनाशः, कृतः कर्मणां नाशः येन तथाभूतः साधकः, कर्मक्षये कर्मबन्धनानां क्षयः कर्मक्षयः तस्मिन् कर्मक्षये सति तत्त्वतः अन्यत् जीवतत्वतः विलक्षणम्। अन्यत् परमात्माख्यं शाश्वत् तत्वं याति, प्राप्नोति यतोहि फलवन्ति कर्माणि बन्धनाय कल्पन्ते तैश्च जननमरणरूपः संसारः सदैव संसरति भगवत्समर्पणे सति कर्मफलानि जनयितुं न शक्नुवन्ति। यथोक्तं भागवते—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता कृथिताधाना प्रायो बीजाय नेष्यते।।

(भागवत १०/२२/२६)

अतएव फलनाशे सति कर्मणां सुतरामभावः, तद्भावे प्रारब्धजनित-शरीरमूलकसंसारप्रवाहो परमे क्षीणकर्मबन्धनो जीवो भगवन्तमुपैति। तस्मात् कर्माणि कुर्वन् फलानि भागवते, श्रीनारदेन वसुदेवं प्रति —

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्याऽऽत्मनावानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायेति समर्पयेत्तत्।।

(भागवत १०/२/३६)

शुभाशुभकर्माणि नियततया कुर्वन् तत्फलानि च भगवते समर्पयन् मानवनिःशेषबन्धनयुक्तो भवतीति निष्कृष्टम्।।श्रीः।।

अथोपासनया भगवद्प्राप्तिं व्याचष्टे —

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्।।५।।

अन्वयः सुगमः —

स, परमात्मा आदिः, ब्रह्मणोऽपि पूर्ववर्ती, अथवा अत्ति चराचरं खादतीति आदिः **यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः** (कठ० १/२/२५) इति श्रुतेः। संयोगस्य वस्तूनां सृष्ट्युत्पादनाय अव्याकृतानामपि पञ्चानां महाभूतानां पञ्चीकरणरूपस्य वा संयोगस्य निमित्तं कारणं यो भगवत्सङ्कल्पः **एकोऽहं बहू स्यां प्रजायै** इत्याकारकः तस्यापि हेतुः कारणभूतः त्रयाणां कालानां समाहारः त्रिकालं तस्मात् त्रिकालात् त्रिभुवनपञ्चपात्रादिवत् द्विगावपि ङीबभावः, तस्मात् त्रिकालात् भूतवर्तमानभविष्यदात्मकात् परःपरीभूतः त्रिकालाबाध्यसत्ताक इति यावत् अकलः न विद्यन्ते प्राणादयः कलाः यस्मिन् तथाभूतः अपि निश्चयार्थः, एतादृक्परमात्मा अस्माभिर्दृष्टः साक्षात्कृतः तमीड्यम्,

स्तोतुं योग्यं भवभूतं भवः शंकरोऽपि भूतः उत्पन्नः यस्मात् स भवभूतः तं भवभूतम्। एतादृशं देवं परमप्रकाशम् विश्वानि रूपाणि यस्य स विश्वरूपः तथाभूतं स्वचित्रस्थम्, स्वस्य चित्रे तिष्ठति इति स्वचित्रस्थः तं पूर्वं प्रथमम् उपास्य शास्त्रीयोपासनाविधानेन सेवित्वा परमात्मानमेतेति मन्त्रार्थः। एवमुपासनापि परमप्रेमप्रवणचेतसा विहिता परमेश्वरं प्रापयत्येव । अथ ज्ञानेनापि भगवदुपलब्धिर्भवतीति निरूपयति —

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ।।६।।

पूर्वार्धे ज्ञानविषयं निरूपयति– सः, परमात्मा वृक्षः, शरीरम् कालः, भूतादिः आकृतयः, प्राणिनां विविधाकाराः वृक्षश्च कालश्च आकृतयश्च इति वृक्षकालाकृतयः ताभिः वृक्षकालाकृतिभिः, अत्र "व्यत्ययेन" पञ्चम्यर्थे द्वितीया परः विलक्षणः परमेश्वरः खलु शरीरतदनुगुणसमयदेहाकारेभ्यः परीभूतः तथा मानवदेहः क्षणभङ्गुरः, किन्तु परमात्मनो दिव्यः पञ्चभूतरहितश्च । मानवस्य कालः सामान्यतः शतवर्षं, किन्तु परमात्मनः कालोऽनन्तः । यथोक्तं वाल्मीकीये रामायणे —

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ।।

(वा. रा. १/१/९७)

अत्र शतसहस्रयोरानन्त्यवाचकत्वात् अनन्तवर्षं भगवत्स्थितिकालः

"न च कालवशानुगः" (वा.रा. २/१/२९) इत्यपि तत्रैव आकृतयोऽपि मनुष्याणां नैव भगवदाकारतुल्याः । अहो! को नाम नरो नीलतमालनीलकमलनीलमणियामुनजलदूर्वादलकेकिगलसदृशो नीलो भविष्यति। अतएव अन्यः सर्वतो विलक्षणः। यस्मात्, भगवतः सकाशात् अयम् दृश्यमानः प्रपञ्चसंसारः परिवर्तते प्रादुर्भवति परिणम्यते वा । एवभूतं धर्मावहं, सनातनं धर्मधुरन्धरं धर्मम् आदरेण वहतीति धर्मावहः तथाविधं पापम्, नामस्मरणमात्रेण नुदति विनाशयतीति पापनुद् तं पापनुदं सकलपापहारिणमिति भावः । भगानमैश्वर्यादीनामीशं शासकम् । आत्मनि हृद्देशे तिष्ठति आत्मस्थः तम्, अथवा आत्मा हि दारा सर्वेषामिति वचनेन आत्मना दारभूतेन सीताभिधेन सह तिष्ठति, तथाभूतममृतम् , नास्ति मृतं मरणं यस्य तं विश्वधाम, विश्वे धाम प्रकाशः यस्य तथाभूतं भगवन्तं ज्ञात्वा अयं मे स्वामी अहमेतस्य सेवकः इति निश्चित्य परमात्मानं प्राप्नोति ।।श्रीः।।

अथ साधकः भगवन्तं वेदितुं प्रार्थयते,

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ।।७।।

ईश्वराणाम् , इन्द्रादीनाम् परमम् उत्कृष्टं महेश्वरं महेशानं देवतानां ब्रह्मादीनामपि परमं भजनीयदैवतं महाविष्णुरूपं पतीनामपि दक्षादिप्रजापतीनां परममुत्कृष्टं पति स्वामिनं पालकं परस्तात् सर्वेषामुपरिवर्तमानम् ईड्यं चराचराणां स्तुतियोग्यं भुवनानां चतुर्दशानां लोकानामीशं स्वामिनं भुवनेशं देवं निजरोचिषा सततं दीप्यमानं महाविष्णुं श्रीरामं विदाम ज्ञातुं प्रभवाम । अत्र 'प्रार्थनायां लोट्' यद्वा विदाम जानीमः अत्र 'बाहुलकात्' मसः सलोपः ।।श्रीः।।

पुनः परमात्मनो महिमानं स्तौति —

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।८।।

तस्य परमात्मनः कार्यं विनाशवत्सकर्तृशरीरं न विद्यते । यत्तु कार्यमित्यस्य केचन शरीरमित्येव व्याचक्षते तद्रभसा विधानम् **आकाश शरीरं ब्रह्म** इति श्रुतिविरोधात्। तस्मात् कार्यं कर्तृजन्यमित्येव व्याख्येयम् । भगवतः श्रीविग्रहो कर्तृजन्यो न भवति तस्य नित्यत्वात् । कर्तृजन्यत्वाभावे तत्र करणं भगवद्विग्रहोत्पादककारणभूतं मातृपितृसंयोगरजःशुक्रादि न विद्यते । यथोक्तं भागवते—

अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
(भागवत १०/१४/२)

श्रीमानसेऽपि—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी । बिगत विकार जान अधिकारी ।।
(मानस २/१२७/५)

कार्यकारणयोर्निषेधस्याशयोऽयं यत् भगवतः श्रीविग्रहस्तस्मात् पृथक् नास्ति, तत्र देहदेहिभावाभावात् । च तथा तेन भगवता समः तुल्यः न तस्मादधिकोऽपि न दृश्यते न विलोकयते । अत्र श्रुतिः भगवन्तं विलोक्य विश्वस्य ब्रवीति । यत्, अस्य भगवतः शक्तिः विविधा एकैवानेकप्रकाराः । ते के प्रकाराः? इत्यत आह— स्वाभाविकीत्यादि । केचन ज्ञानबलक्रियाशब्दस्य स्वाभाविकीतिशब्दे विशेषणं प्राहुः, तन्मते परमात्मनः द्वे शक्तितेजस्वाभाविक्यौ ज्ञानक्रिया बलक्रिया चेति तन्नोचितम् । पुराणेषु शक्तित्रयश्रवणात् तथा च विष्णुपुराणे —

शक्तयश्च हरेः प्रोक्ता तिस्रस्ताः शास्त्रसम्मताः।
आह्लादिनी सन्धिनी च संविच्चेति विशांपते ।।

(विष्णुपुराण ४/६/२५)

तदनुरोदेन अत्रापि तिसृणां परिकल्पनं न खलु पुराणं श्रुतिविरुद्धम् , तस्य परतः प्रमाणत्वात् । अतः स्वाभाविकीति स्वतन्त्रः शब्दः "**द्वद्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते**" इति वैय्याकरणनियमात् । क्रियायाः ज्ञानबलाभ्यां सहान्वयः । तथा च ज्ञानं च बलं चेति ज्ञानबले तयोः क्रिया इति ज्ञानबलक्रिया। इत्थं स्वाभाविकीशक्तिः सैवाह्लादिनी भगवतस्स्वभावः आह्लादः ज्ञानक्रियासंवित् बलक्रियासन्धिनी इदमेव शक्तित्रयं सच्चिदानन्दरूपम् । तथा च सत् सन्धिनी, चित् समवित्, आनन्दः आह्लादिनी इत्यनेन ब्रह्मणो धर्मशून्यवादिनो निरस्ताः इयं हि शक्तिः श्रूयते आकर्ण्यते श्रुत्यभिन्नत्वात्।।श्रीः।।

पुनरपि भगवतः निरतिशयमैश्वर्यं वर्णयति नेत्यादिना—

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।।९।।

तस्य, परमात्मनः लोके, लोक्यते इति लोकः तस्मिन् दृश्यमाने जगतीति भावः। कश्चित्, कोऽपि पतिः स्वामी न स एव सकललोकपतिः तस्य परमात्मनः ईशिता प्रेरयिता शासको वा, न कोऽपि स एक सर्वेषां प्रेरकः शासकश्च । तस्य परमेश्वरस्य किमपि लिङ्गं विशिष्टं चिह्नं नास्ति तस्य सर्वरूपत्वात् । अतएव मानसे,

धरइ जो विविध देह सुरत्राता । तुमसे शठन्ह सिखावन दाता ।।

(मानस ५/२१/८)

सैव सर्वेषां कारणं, करणम् उपादनकारणं करणानां चक्षुरादि चतुर्दशानाम्, अधिपः स्वामी प्रत्यगात्मा । तस्यपि अधिपः इति कर्णाधिपाधिप तस्य भगवतः कश्चिद् कोऽपि प्राणी जनिता जननी जनकरूपो जन्मदाता न । नन्ववतारकाले दशरथकौसल्ययोः वसुदेवदेवक्यो पुत्रत्वं भगवतोवर्णितमिति चेत् न, तत्र पुत्रत्वाभिनयस्वीकारेणादोषात् । अत एव वाल्मीकीयरामायणे प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली यद्यपि दशरथापत्यत्वस्वीकारे 'अत इञ्' इत्यनेन स्त्रीप्रत्यय दाशरथीरिति स्यात्। परन्तु अत्र दशरथस्य अयं दाशरथः इति विग्रहे दशरथप्रतियोगिकश्रीरामानुयोगिकसम्बन्धसामान्यविवक्षायां "तस्येदम्" इति

सूत्रेण विहिताण् प्रत्ययात् दाशरथशब्दात् चतुर्थ्येकवचने दाशरथाय इति कथयित्वा स्वयमेवादिकविः "**न तस्य कश्चिद् जनिता**" इति श्रुतिमेव समर्थयमानः श्रीरामस्य पारमार्थिकं दशरथापत्यत्वं निराकरोति तस्य कश्चन अधिपः ईश्वरः न, स एव सर्वेषां ईश्वरः ।।श्रीः।।

एवं त्रिभिमन्त्रैः परमात्मनः स्वरूपं निरूप्य प्रार्थयते । यस्त्विति—

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वामावृणोत्।
स नो दधाद् ब्रह्माप्ययम् ।।१०।।

यः एकः देवः तन्तुभिः तन्तुनाभ इव स्वभावतः प्रधानजैः स्वम् आवृणोत्, सः नः ब्रह्माप्ययम् दधात् , यः परमात्मा एकः निरूपमः देवः परमप्रकाशरूपः तन्तुभिः निजशरीरोत्पन्नसूत्रैः तन्तुनाभः ऊर्णनाभिः इव स्वभावतः स्वस्य भावः सत्ता ऐश्वर्यात्मिका, तस्मात् सकाशात् प्रधाने प्रकृतौ जातानि इति प्रधानजानि प्राकृतानि तैः प्रधानजैः, भगवतः सकाशादेव बीजमादधाना प्रकृतिः चराचरं सूयते । तद्यथा "मयाध्यक्षेणप्रकृतिः सूमते सचराचरं" (गीता ९/१०)

स्वं निजस्वरूपं आवृणोति आच्छादितवान् प्राकृतपदार्थैर्हि भगवानावृतः तस्मिश्चाकचिक्ये जीवः परमेश्वरं विस्मरति। यथोक्तं भागवते —

किं किं न विस्मरन्तीह माया मोहितचेतसः ।

(भागवत १०/१४/४३)

स परमात्मा नः अस्माकं सम्बन्धिनं ब्रह्माप्ययम्। ब्रह्मणि स्वस्मिन् परमात्मनि अप्ययं सर्ववृत्तिलयः इति ब्रह्माप्ययः तं दधातु पोषयतु धारयतु च। अत्र 'व्यत्यपादुकार'-लोपे दधादिति ।।श्रीः।।

भूयोऽपि भगवदैश्वर्यं स्मरति एकेत्यादिना—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।११।।

अत्र विशेषण दशकेन भगवत् तत्वनिरूपयति । भगवान् खलु एकः न खलु द्वित्राः त्रिचतुराः पञ्चषा वा भगवन्तः देवः दीव्यति क्रीडति इति देवः। दीव्यति द्योतते वा यः स देव नैव दूरे वर्तते, प्रत्युत सर्वभूतेषु चराचरेषु गूढः योगमायासंवृतः सर्वव्यापी सर्वव्यापकः, सर्वभूतानाम् अन्तरात्मा अन्तः अततीति अन्तरात्मा सर्वेषां कर्मणाम् अध्यक्षः फलदाननियामकत्वात् । सर्वभूतानि अधिवसति इति सर्वभूताधिवासः

साक्षी साक्षात् पश्यति जीवानां शुभाऽशुभानि यः स साक्षी **साक्षाद्द्रष्टरिसंज्ञायाम्** (पा. सू. ५/२/१९१) चेता चेतयते इति चेता अखण्डचित्स्वरूपः केवलः न्यूनाधिक्यरहितः । निर्गुणः निर्गताः सत्वादयः यस्मात् स निर्गुणः। यद्वा निराकृताः भक्तदुर्गुणाः येन स निर्गुणः, यद्वा निरस्ताः हेयगुणाः येन स निर्गुणः, यद्वा निर्लीनाः सकलकल्यागुणाः यस्मिन् स निर्गुणः यद्वा निःशेषाः गुणाः यस्य स निर्गुणः, अथवा निरुपमाः गुणाः यस्य स निर्गुणः, अथवा निरन्तरं विद्यमानाः गुणाः यस्मिन् स निर्गुणः, केवलोनिर्गुणश्च इत्यत्र केवलः अनिर्गुणः इति पदच्छेदः तथा च अनिर्गुणः निर्गुणभिन्नः सगुण इति भावः।।श्रीः।।

अथ भगवद्दर्शनाधीनमेव शाश्वतम् सुखं इति निश्चाययति—

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।१२।।

एकैव परमात्मा वशी, वशयति महाकालम् अपि नियमयति यस्तयाभूतः। निष्क्रियाणां स्वतन्त्रतया कार्येष्वक्षमाणां बहूनामपि प्रपन्नजीवानाम् एकं बीजम् अल्पं मनोरथं यः बहुधा करोति, यथा बिभीषणः, सामान्यतो राज्यमनोरथः, परन्तु भगवता आकल्पमविनाशिराज्यं साचिव्यं सख्यं नयनानन्दं सर्वं दत्तं यथा मानसे—

जो सम्पति सिव रावनहि, दीन्ह दिये दसमाथ ।
सोइ संम्पदा विभीषनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ ।।

(मानस ५.४९.ख)

तं निजमनोमंदिरे प्रतिष्ठितं ये धीराः सुखःदुखेषु एकरसाः अनुपश्यन्ति, अनुक्षणं स्मरन्तो निहारयन्ति, तेषां शाश्वतं सुखं नेतरेषाम् भगवद्विमुखानां नहि ।।श्रीः।।

भूय एवानन्दमयत्वात् तमेवार्थं स्पष्टयति—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेकोब हूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।१३।।

नित्यानां जीवानां मध्ये एषो नित्यो नाथः, चेतनानाम् अपि चेतनः, तस्मात् लब्धचेतनत्वात् । एकः असहायः सन् बहूनाम् आर्त्तजिज्ञास्वर्थार्थिज्ञानिनां कामान् धर्मार्थकाममोक्षाभिलाषान् प्रेमैकतानाम् तु निजदिदृक्षारूपं कामं यः विदधाति विविच्य पुष्णाति इष्टं ददाति अनिष्टं च द्यति इति विवेकः । तादृशं सर्वेषां कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं

सांख्ययोगगम्यो सांख्ययोगशब्दो नैव कापिलपातञ्जलदर्शनतात्पर्यग्राही, सांख्याः ज्ञानयोगिनः योगिनः कर्मयोगिनः । यथोक्तम्—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते (गीता ५/५/) एवं सांख्या योगाश्च इति सांख्ययोगाः, तैः अधिगम्यं देवं परमात्मानं ज्ञात्वा सेव्यत्वेन परिचित्य सर्वपाशैः सर्वबन्धनैः मुच्यते ।।श्रीः।।

साम्प्रतं ज्ञेयस्य परमात्मनः सर्वातिशयप्रकाशत्वं निरूपयति । नेत्यादिना—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।१४।।

मन्त्रोऽयं कठोपनिषदि व्याख्यातचरः। अथापि व्याख्यायते—तत्र परमेश्वरे प्रकाशमाने सूर्यः न भाति न प्रकाशते न वा शोभते। न चन्द्र तारकं चन्द्रसहितं तारकं सर्वनक्षत्र-मण्डलं न भाति, इमाः विद्युतः शंपाः न भान्ति, अयं प्रत्यक्षं वर्तमानः अग्निः पावकः कुतः कथं प्रकाशयेत् । यद्वा सूर्यः भगवतः श्रीरामस्य पीताम्बरप्रभया तिरोभूतो न भाति चन्द्रो मुखेन्दुना हृतज्योत्स्नः तारकाणि आभूषणैः चोरितरोचींषि विद्युतोदन्तपंक्त्या तिरोभूताः तर्हि अयं अग्निः सामान्यदीपकः तं दिनकरकुलदीपकं कथं दीपयेत् । तमेव भान्तं प्रकाशमानमनु अनुलक्ष्य अनुगम्य वा सर्वं भाति चराचरं प्रकाशते। यतो हि स सर्वेषां प्रकाशकः तस्य परमेश्वरस्य भाषा इदं सर्वं विभाति विशेषतया प्रकाशते । वस्तुतस्तु सर्वोऽपि प्रकाशः तस्य प्रकाशनिधेः । यथोक्तं—**ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः** (गीता - १३/१७) श्रीमानसेऽपि :

विषयकरन सुर जीव समेता । सकल एक ते एक सचेता ।।
सब कर परम प्रकाशक जोई ।राम अनादि अवधपति सोई ।।

(मा. बा. ११७/५/६) ।।श्रीः।।

अधुना मुक्तये परमेश्वरज्ञानातिरिक्तमार्गं निराकरोति—

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।१५।।

एक: भगवानेव अस्य भुवनस्य अनंतकोटिब्रह्मांडस्य मध्ये हंस: हंसवन्निर्मल: हंस इव भक्तदोषनीरं त्यक्त्वा गुणक्षीरं गृह्णाति हन्ति स्मर्यमाण: सर्वत्र गच्छति इति हंस: प्रह्लादस्मरणे स्तंभेऽपि समाविष्ट: । तद्यथा—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं, व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मन: ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे समायां न मृगं न मानुषम् ।।

(भा. ७/८/१६)

अथवा हन्ति भक्तपापानि हन्ति वा दुष्टान् य: स हंस: । ननु अनयोरर्थयो: किं मानम्? "हन्हिंसागत्यो:" इतिपाणिनीयवचनमेव । स एवं सलिले सलिलाशये समुद्रे अग्नि: वाडवानल: और्व: संनिविष्ट: प्रतिष्ठित: । तमेव परमात्मानं निजस्वामिरूपेण विदित्वा अतिमृत्युम् अतिक्रान्तमरणं साकेतं साकेतपतिं वा एति गच्छति। अयनाय भगवदीयलोकाय अन्य: भगवत्तत्वज्ञानातिरिक्त: पन्था: मार्गो न विद्यते न वर्तते तस्मात् भगवानेव ज्ञेय: स एव ध्येय: ।।श्री:।।

भूय एव स्वभावत: आलस्याभावात् मन्त्रोऽयं मननीयं परमात्मानमेव समामनति। स इत्यादि,

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञ: कालकारो गुणी सर्वविद्य: ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश: सꣳसारमोक्षस्थितिबन्धहेतु: ।।१६।।

स, परमात्मा विश्वं, संसारं करोति, उत्पादयति स्वशरीरात् इति विश्वकृत् । परमात्मनैव हि प्रलयावसाने स्वदेहादेव पूर्वं प्रलीनं विश्वमुत्पाद्यते, न केवलं विश्वकर्त्ता अपितु विश्वं जानात्यपि । अत आह , विश्ववित् विश्वं वेत्तीति विश्ववित् आत्मनां बद्धमुक्तनित्यानां प्रत्यगात्मनां योनि: आविर्भावयिता । ज्ञ: त्रिकालमपि जानातीति ज्ञ: कालकार:, कालं कृतान्तमपि करोति योगमायया उत्पादयति, अत्र कर्मण्यण् इत्यनेन अण् प्रत्यये षष्ठ्यां तत्पुरुषसमासे कुम्भकारादिवत् सिद्धि:। गुणी नित्यसकलसद्गुणनिलय: सर्वविद्य: सकलविद्यानिधि: प्रधानं प्रकृति:, क्षेत्रं शरीरं जानाति स्वाधिष्ठानेन वेत्ति इति क्षेत्रज्ञो जीवात्मा । प्रधानं च क्षेत्रज्ञश्च इति प्रधानक्षेत्रज्ञौ तयो: पति: पालयिता स्वामी वा इति प्रधानक्षेत्रज्ञपति:, श्रुत्यानया प्रकृतिजीवात्मपरमात्मनां स्पष्टमन्तरं कथयन्त्या "**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**" (गीता १३/२)

इत्यत्र क्षेत्रज्ञाभिन्नं मां विद्धि इति वदन्त: परास्ता: । यदि क्षेत्रज्ञ भगवतोरन्तरं न स्यात् तदा भगवान् "**क्षेत्रज्ञमेव मां विद्ध**" इति ब्रूयात् । किन्तु "**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**" इत्यत्र चकारं समुच्चयार्थं कथयित्वा क्षेत्रज्ञज्ञानस्य स्वज्ञानेन समुच्चयं विधाति यथा सर्वक्षेत्रेषु निवासिनं क्षेत्रज्ञं विद्धि, तथैव तेषु तेन सह निवासिनमन्तर्यामिनं मामपि विद्धीति भगवतस्तात्पर्यम् । विशेषस्तु तत्रैव निरूपयिष्याम: । गुणानां सत्वरजस्तमसां

ईश: नियामक: स एव संसारस्य तद्बन्धस्य स्थिते: मोक्षस्य च हेतु:। अथवा संसारबन्धे स्थिति: एषां ते संसारबन्धेस्थितय: मुमुक्षो जीवा: तेषां मोक्षस्य हेतु: ।।श्री:।।

अधुना सर्वशरण्यस्य परमात्मन: सामर्थ्यं समुदीरयनुपसंहरति, शण्य-निरूपणप्रकरणम्। वस्तुतस्तु अस्यामुपनिषदि आ प्रथमाध्यायात् षष्ठस्य सप्तदशं यावत् शरण्यस्य निरूपणम् अष्टादशे शरणागतिप्रार्थनम्, ऊनविंशे मुक्तये तदितरप्रकारनिषेध: । एकेन च भूय: परमात्मस्मरणं, तत: सम्प्रदायपरम्परानिर्देश: चरमे ब्रह्मज्ञानस्य भक्तिहीनत्वमिति भक्तिपर्यवशानेयमुपनिषद् षड्ध्यायेषु, यथाक्रमं प्रथमे आनुकूल्यसङ्कल्प: द्वितीये प्रातिकूल्यस्य वर्जनं, तृतीये रक्षीष्यतीति विश्वास:, चतुर्थे गोप्तृत्ववरणं, पञ्चमे कार्पण्यं, षष्ठे चात्मनिक्षेप इति प्रादेशमात्रं दर्शितम्, विशेषस्तु तत्र तत्र स्वयमूह्य: शरण्यस्वरूपनिर्धारणे चरमोऽयं मन्त्र: स इत्यादि —

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव
नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ।।१७।।

स, परमात्मा तन्मय:, तदेव वेदवेदान्तवेद्यं ब्रह्म निर्गुणं तन्मयं तदस्त्यस्य इति तन्मय: **ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्** इति स्मृते: (गीता १४/२७) सगुणोऽपि मानवाकारोपि न मानव: । कस्तर्हि ? ततो विलक्षण: मानवो मृत: मरणधर्मा, किन्तु परमेश्वर: अमृत: जननमरणरहित: । किं विशेष? अत आह — ईशसंस्थ:, ईशा: ब्रह्मादयोऽपि संस्थिता यस्मिम् स ईशसंस्थ:, यद्वा ईशे शंकरहृदयकमले संस्था यस्य स ईशसंस्थ: श्रीराघवो महाविष्णु: ज्ञ: सर्वज्ञ:, सर्वग: सर्वत्रगामी अस्य भुवनस्य गोप्ता रक्षक:, य: नित्यमेव अस्य जगत: संसारस्य ईशे ईष्टे बाहुलकेन प्रथमपुरुषार्थे उत्तमपुत्तष: । एतद् जगदिति वक्तव्ये अस्य जगत: इत्युक्तिस्तु कर्मण: शेषत्वविवक्षायां मातु: स्मरति इत्यादिवत् । ईशनाय जगत: शासनाय अन्य: परमेश्वरतो व्यतिरिक्त: कोऽपि हेतु: नास्ति इति प्रश्नोपसंहार: ।।श्री:।।

अथ सर्वेषां प्रश्नानामुत्तरं दत्वा महर्षि: श्वेताश्वतर: सर्वैरपि जिज्ञासुभि: ऋषिवर्यै: सह समवेत्य परमेश्वरं शरणागतये प्रार्थयते —

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् , यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
त१ँह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।१८।।

पूर्वार्धेन विशेषणद्वयविशिष्टं जगच्छरण्यं श्रीरामाभिधं ब्रह्म स्मृत्वा उत्तरार्धेन तं शरणं प्रपत्तुं प्रतिजानिते ।

यः भगवान् पूर्वं, प्रतिकल्पं सृष्टेः पूर्वं ब्रह्माणं, हिरण्यगर्भं चतुर्मुखं विदधाति स्वनाभिकमलादाविर्भवयति । च तथा यः परमात्मा जीवानां कर्मबोधाय तस्मै आविर्भूताय ब्रह्मणे वेदान् ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् प्रहिणोति समर्पयति ब्रूतेति भावः। ह, निश्चयेन आत्मबुद्धिः प्रकाशं आत्मा प्रत्यगात्मा बुद्धिः मनीषा ते आत्मबुद्धी प्रकाशयतीति आत्मबुद्धिप्रकाशः, तं देवम्, श्रीसीतारामं परमेश्वरं तं तमालनीलं भगवन्तं वै निश्चयेन मुमुक्षुः भवबन्धनतः मोक्तुमिच्छुः अहं साधको जीवः शरणं रक्षकं प्रपद्ये, प्रपन्नो भवामि ॥

अत्र पूर्वार्धे शरण्यस्वरूपनिर्धारणम्, उत्तरार्धेन षड्विधशरणागतिप्रतिज्ञा, "**मुमुक्षुर्वै**" इत्यनेन स्वामिनि महाविश्वासः। अहमित्यनेन अहंकारमुक्तकार्पण्यवान् जीवः ब्रह्माणं विदधाति वेदं प्रहिणोति आभ्यां तदेकोपायता याञ्च्या । अयमेव वेदमन्त्रः शरणागतिबीजभूतः। अनेन प्रपत्तियोगोऽपि व्याख्यायते ॥श्रीः॥

अथ कथं भगवन्तमेव शरणं प्रपद्यसे । यदि च शरणागतिरिष्टा तर्हि अलमियता प्रबन्धेन ? इति शङ्काद्वयसमादधान प्राह —

कीदृशं भगवन्तं शरणं प्रपद्यसे ? इत्यत आह—

निष्कलं निष्क्रियꣳशान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परꣳसेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ।।१९।।

निष्कलं प्राणादिकलाहीनमथवा निःशेषाः कला यस्मिन् तादृशं निष्क्रियं क्रियाकर्मबन्धनं ततो निष्क्रान्तं, यत्तु निष्क्रान्ताक्रिया यस्मात् तन् निष्क्रियं तन्न त्रातारं हि शरणं प्रपद्यते क्रियाहीनः । कथं कं त्रायेत् ? शान्तम् , शान्तिनिकेतनं निरवद्यम् अवद्यानि पापानि तेभ्यो निष्क्रान्तम् इति निरवद्यम्, निर्गतमञ्जनं कर्मलेपः यस्मात् तममृतस्य आनन्दस्य परं सेतुं श्रेष्ठमर्यादारूपं दग्धानि इन्धनानि, परात्मपक्षे पापवनानि येन तथाभूतमनलं विधूमं पावकमिव तं देव "मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" इति पूर्वान्वयी ।।**श्रीः**।।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।२०।।

यदा कादाचित्कवाचकोऽयं शब्दः, यस्मिन् काले कदाचित् मानवाः प्रयतमाना मनुष्याः चर्मवत् स्वहस्तधृतत्वगवत् आकाशम् अगणितयो जनव्याप्तम् अमूर्तं नभः वेष्टयिष्यन्ति वेष्टनमिव वेष्टयित्वा स्वहस्ते धारयिष्यन्ति, इदं सर्वतो महदसंभवं संभवमिव, यदा सम्पादयिष्यन्ति । चेत् तदैव देवं, परमात्मानमविज्ञाय निजनाथत्वेन न निश्चित्य तेषां दुःखस्य त्रिविधतापस्य अन्तः आत्यन्तिकविनाशः भविष्यति सम्पत्स्यते । यदि

चेत् आकाशवेष्टनसमम्भवं तदा भगवद्विज्ञानमन्तरेण दुःखनाशोऽप्यसम्भवः । तथा च प्राहुः असम्भवनवकेन सिद्धान्तनौकाभूतं प्रकरणमिदम् अस्मत्पूज्यचरणाः गोस्वामितुलसीदासमहाराजाः,

कमठपीठ जामहिं बरू बारा । बंध्या सुत बरु काहुहि मारा ।
फूलहिं नभ बरु बहुविधि फूला । जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला ।
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना । बरु जामहिं सस सीस बिषाना ।
अन्धकारु बरु रबिहि नसावै । राम विमुख न जीव सुख पावै ।
हिम ते अनल प्रगट बरु होई । बिमुख रामसुख पाव न कोई ।
बारि मथैं घृत होई बरु सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धान्त अपेल ।।

(मानस ७/१२२/१५, से १९ १२ तक) ।।श्रीः।।

अथ सम्प्रदायपरम्परां विवृणुते—

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषि संघजुष्टम् ।।२१।।

अथानन्तरं तपसः प्रभावात् देवस्य परमात्मनः प्रसादात् अनुग्रहरूपात् वस्तुतः उभयत्र "ल्यब्लोपपञ्चमी" तथा च तपः प्रभावमधिगम्य इति भावः श्वेताश्वतरः यस्याश्वत्तरभूताः इन्द्रियविशेषाः श्वेताः तादृग् विद्वान् ब्रह्मवेत्ता अत्याश्रमिभ्यः आश्रमत अति क्रान्ताः अत्याश्रमिणो वैष्णवाः अच्युतगोत्रत्वात् । यत्तु संन्यासिनः अत्याश्रमिण इति प्रलपन्ति तच्छास्त्रविरुद्धम्, संन्यासस्यापि तुरीयाश्रमत्वात् । वैष्णवाः खलु भगवत्प्रियत्वात् आश्रमानतिक्रम्य तिष्ठन्ति । यथोक्तं अस्मद् पूर्वाचार्येण हुलसीहर्षवर्धनेन तुलसीदासमहाराजेन—

चले नगर तजि हरष नृप, तापस बनिक भिखारि ।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहि आश्रमी चारि ।।

(मानस ४/१६)

वैष्णवाः खलु शरणागत्यधिकारिणः तत्समाख्या तस्माद् वैष्णवीयमुपनिषद् परमं पवित्रं परम्पावनम् ऋषिसंघैः मुनिवृन्दैः जुष्टं, प्रीतिपूर्वकमेतद्ब्रह्मवेदात्मकं वाङ्मयं प्रोवाच प्रत्यभाषत ह इति प्रसिद्धम् ।।श्रीः।।

साम्प्रतमधिकारनिर्णयं कथयति—

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ।।२२।।

वेदान्ते वेदस्य अन्तिमे भागे उपनिषद्वृन्दे वदान्तदर्शने वा पुराकल्पे एतस्मात् पूर्वस्मिन् कल्पे प्रचोदितम् श्वेताश्वतरनिगदितं परमं, परस्य परमात्मनः मा भक्तिः शरणागतिश्च यस्मिन् तादृशं गुह्यं गोपनीयमिदम् अप्रशान्ताय विषयचटुलचित्राय अपुत्राय पुत्र-प्रेमभाजनत्वभिन्नाय अशिष्याय त्यक्तशिष्यमर्यादाय । पुनः भगवच्चरणकमलविमुखाय न दातव्यम् । तस्मै एव दातव्यं यः पुत्रः पुतः नरकात् त्रातुं क्षमः पितरमेव गुरुं सेवते। यश्च शिष्यः अनुशासनं पात्रतां गतः । अनुशासनहीनस्य भगवत्पदपद्मपरागविमुखस्य दुरात्मनो हृदये कथिताअपि इमे औपनिषदार्थाः न प्रकाशन्ते ।।श्रीः।। अत आह—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः
प्रकाशन्ते महात्मनः ।।२३।।

यस्य, भगवच्छरणागतिं समभिलषतः महात्मनः महान् आत्मा यस्य तथा भूतस्य देवे, भगवति परमात्मने परा, चतुःपुरुषार्थनिरपेक्षा अविरलाभक्तिः प्रेमलक्षणा अस्ति। सा च यथा देवे येन प्रकारेण परमेश्वरविषया तथा गुरौ तेनैव प्रकारेण स्वार्थपरमार्थवर्जिता यदि गुरौ आचार्यविषया स्यात् तस्यैव महात्मनः हृदये कथिताः श्वेताश्वतरोक्ताः अर्थाः भगवच्छरणागत्यनुकूलाभावाः प्रकाशन्ते । प्रकाशिता भवन्ति निजकथनद्रढीकरणाय पुनराह प्रकाशन्ते महात्मनः । महात्मनः हृदये प्रकाशन्ते द्विर्वचनं समादरार्थं ग्रन्थ-समाप्त्यर्थं महात्मशब्दस्मरणेन ग्रन्थविश्राममङ्गलार्थश्च—

अयोध्या सौभाग्यं प्रथयितुमलं कज्जलकलम् ।
वृतं बालैर्लोलत्कुटिलचिकुरैर्मण्डितमुखम् ।
हसन्तं खेलन्तं जननिहृदयानन्दजननम् ।
प्रपद्ये ब्रह्माहं शरणमहितं राघवशिशुम् ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् सिद्धान्तं शास्त्रसम्मितम् ।
श्रीराघवकृपाभाष्यं भूयात् वैष्णवतुष्टये ।

इति श्रीचित्रकूटनिवासि सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यप्रणीतं श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम् ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

श्रीराघवकृपाभाष्य

श्री श्वेताश्वतरोपनिषद् का
पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-
कवितार्किकचूडामणि वाचस्पति-
श्री जगद्गुरूरामानन्दाचार्य स्वामि रामभद्राचार्य-
प्रणीत श्रीमज्जगद्गुरूरामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि
विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त-प्रतिपादक श्रीराघवकृपाभाष्य ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

श्रीराघवकृपाभाष्य

।। मंगलाचरणम् ।।

नवघनसुभगो गिरीशपूज्यो जनकसुतानयनाब्जरश्मिमाली ।
नरपतिमणिराश्रितधिवासो विजयत ईड्यचरित्रराघवो मे ।।१।।

जय जनकसुतानवेन्दुलेखामधुरमयूखचकोरकोशलेन्द्र ।
जनजलरुहचित्रभानुरूप रघुवरबर्हकिरीटरामभद्र ।।२।।

जयति जनमनोमिलाषपूर्तिसुरतरुचारुलता गुणैर्विनीता ।
रघुपतिपदपद्मचञ्चरीका जनकसुता गुरुदैवतञ्च सीता ।।३।।

सौशीलेयपदाम्भोजं शीलये शीलवृद्धये ।
ध्यायामि च पुनर्नैजं गुरुं हुलसीनन्दनम् ।।४।।

राघवरामकृपालो प्रणतदयालो गुणैकवारीश ।
श्वेताश्वतरोपनिषद् व्याचिख्यासौ प्रसीद त्वम् ।।५।।

।। अथ प्रथमअध्याय ।।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः !!

इसकी व्याख्या बहुत बार कर दी गयी है।

प्रास्ताविक भाष्य :

लोकाभिराम अकाम सीताराम पदजल जात को,
उर ध्याय बहुरि मनाई शंकर गौरि वैष्णवव्रात को।
अब रामभद्राचार्य राघवकृपाभाष्य सुभाषिये,
श्वेताश्वतरउपनिषद् पर रघुपतिकृपा अभिलाषिये।।१।।
शाश्वत विशिष्टाद्वैतवाद रहस्य की गंगा बहा,
निज युक्तिपवि से ध्वस्त कर प्रतिपक्षमतपर्वत महा।
व्याख्या विसद श्रीरामभद्राचार्य कौतुक देखिए,
राघव कृपा संलसित राघवकृपाभाष्य ही लेखिए।।२।।

अब मैं श्वेताश्वतरोपनिषद् को जगद्गुरु श्री मदाद्यरामानन्दाचार्य जी के चरणकमल की सेवा से सहज सम्प्राप्त समस्तसंशयसागरवाडवाग्नि रूप भग्नभवकूप लोकोत्तरसद्ग्रन्थप्रतिपादन के अपूर्व कौशल से वैदिक सिद्धान्तों के अलंकार से सजी रहने पर भी अपने श्रौतभावों से समलंकृत करने की चेष्टा कर रहा हूँ। जिनका हृदय तपःपूत तथा जिनके मन में परमेश्वर की शरणागति का सिद्धान्तसागर लहरा रहा था ऐसे श्वेताश्तरनाम से एक विशिष्ट महर्षि हुए। उनका नाम ही उनके विशिष्टचरित्र को इंगित करता है। श्वेताः अश्वतराः यस्य स श्वेताश्वतराः। जिनके अश्व अर्थात् घोड़े श्वेत हो वही श्वेताश्वतर हैं। तरप् प्रत्यय स्वार्थ में हुआ है। कठोपनिषद् में वशीकृत इन्द्रियों को श्रेष्ठ घोड़ा कहा जाता है। उन महर्षि की इन्द्रियाँ भागवद् भक्तिवारिधारा में स्नान करके श्वेत हो चुकी थीं। इसलिए उन्हें श्वेताश्वतर कहा गया। जैसे— गीता- १/१४ में अर्जुन के रथ के घोड़ों को श्वेत कहा गया 'ततः श्वतैर्हयैर्युक्तेः' अथवा संस्कृत में 'श्वा' कुत्ते को कहते हैं। अतिश्येन

श्वा श्वतरः। श्वतरभिन्नः अश्वतरः श्वेतः अश्वतरः यस्य स श्वेताश्वतरः। अर्थात् इनके मनोव्यापार ग्राम्य सूकरकूकरों से भिन्न हैं, और भगवद्भक्तिगंगा में स्नान करके श्वेत हो चुके हैं। ऐसे महर्षि को श्वेताश्वतरा कहा गया है। इनका परिचय श्रुति स्वयं देती हैं॥ श्री॥

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्तरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्॥१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तपस्या के प्रभाव और परमात्मा की कृपासे महर्षि श्वेताश्तर ने ब्रह्म को जान कर, पुनः अत्याश्रमी अर्थात् चारों आश्रमों की मर्यादाओं से अतीत, परमेश्वर के परमभक्त श्री वैष्णवों के लिए महर्षि संघों द्वारा सेवित, परम पवित्र ब्रह्मतत्व का उपदेश दिया॥ श्री॥

यह उपनिषद् छह अध्यायों में हैं, एवं गति, विशरण, अवसाद अर्थ वाली उप् नि पूर्वक षद्लृ धातु से निष्पन्न है। अतः अपने अनुशीलकों के हृदय में यह परब्रह्म का प्रवेश कराती है और अध्येताओं की चिदचिद्ग्रन्थियों को नष्ट कर देती हैं तथा साधकों के मन में छिपी हुई अविद्या को नष्ट कर देती है। यह श्वेताश्तरोपनिषद् श्रीसीताराम की पीयूषवर्षिणी है और कौमुदी के समान श्रीवैष्णवमनकैरवों को प्रसन्न करने वाली है। इसलिए मैं भी इसकी व्याख्या में प्रवृत्त हो रहा हूँ। यद्यपि आद्यशंकराचार्य ने इस ग्रन्थ पर कोई भाष्य नहीं लिखा, क्योंकि उपनिषद् में सैकड़ों ऐसे भयंकर वाक्य हैं जिन्हें वे किसी भी प्रकार अद्वैत सिद्धान्त में संगत नहीं कर पा रहे थे। परन्तु अपने भाष्यों में श्वेताश्वतरोपनिषद् के बहुत से प्रमाण उन्होंने उपस्थित किये हैं। ईशावास्योपनिषद् में ही श्वेताश्तरोपनिषद् के प्रथमाध्याय के मन्त्र उद्धृत हैं। इस से यह भी निश्चित हो जाता है कि— आद्यशंकराचार्य श्वेताश्वतरोपनिषद् को प्रामाणिक तो मानते हैं पर व्याख्या करने में डरते हैं। परन्तु मुझे इस बात की अत्यन्त प्रसन्नता है कि— इस उपनिषद् में बहुत से भगवत्सम्बन्धी ऐसे उपयोगी विषय आये हैं, जिन्हें जान कर साधक बहुत शीघ्र भगवदीय हो सकता है। जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य जी का जो सार्वभौमसिद्धान्त है, जिस श्रौतसिद्धान्तगंगा में स्नान करा कर आद्यरामानन्दाचार्य जी ने कबीर और रैदास जैसे चतुर्थवर्णियों को भी श्रीवैष्णवशिखामणि बना दिया और जिस सिद्धान्त से मनुष्यमात्र को हिन्दू धर्म में दीक्षित होने का अधिकार दिया। यथा— 'सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः' अर्थात् भगवान् की शरणागति के सभी अधिकारी हैं। वह वैदिकसिद्धान्तसारसर्वस्व भगवत् शरणागति साक्षात्

रूप में वैदिकवाङ्मय में श्वेताश्वतरोपनिषद् के छठें अध्याय में ही कही गयी 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१८) इसी सूत्र का सर्वप्रथम भाष्य किया महर्षि वाल्मीकि ने रामायण ६/१८ में। मानों महर्षि स्पष्ट संकेत कर रहे थे कि— श्वेतश्वतरोपनिषद् के छठें अध्याय के अठारहवें श्लोक में महर्षि श्वेताश्वतर ने शरणागति का जो बीज बोया उसी का वे रामायण के छठे काण्ड के अठारहवें अध्याय में पल्लवन और वृक्षण कर रहे हैं। इसलिए मेरी दृष्टि से भगवच्छरणागतों के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् जितनी उपयोगी है उतनी उपयोगी कोई उपनिषद् नहीं है। इस उपनिषद् में भगवान् शब्द का बहुत बार प्रयोग किया गया है। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वेराग्य ये छहों भग जिनमें सतत् समग्रता से विराजते हैं उन्हें भगवान् कहा जाता है। लगता है इन्हीं छहों ऐश्वर्यों के प्रतिपादन हेतु इस उपनिषद् में छः अध्याय कहे गये हैं।

अब आइये मूलग्रन्थ की भावमाधुरी से आप को अह्लादित करें। ग्रन्थ में अध्येता की प्रवृत्ति के लिए विषय अधिकारी, प्रयोजन और सम्बन्ध इन चार अनुबन्धों की आवश्यकता होती है। इसलिए ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति का प्रयोजन होना ही अनुबन्ध का लक्षण कहा गया है। 'ग्रन्थाध्ययन-प्रवृत्तिप्रयोजकत्वम् अनुबन्धत्वम्'। अत एव श्वेताश्तरोपनिषद् में अनुबन्ध की मीमांसा की जाती हैं। यहाँ विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादन ही विषय है। उसके जिज्ञासु श्रीसीतारामब्रह्म के उपासक ही अधिकारी हैं। ब्रह्मविद्या के माध्यम से सेवकसेव्यभावसम्बन्धज्ञानपूर्वक श्रीसीतारामपरमेश्वर की निर्भराभक्ति ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। बोध-बोधकभाव सम्बन्ध है॥ श्री॥

यदि कहें कि— इस उपनिषद् का भगवद्भक्ति ही प्रयोजन हैं, इसमें क्या प्रमाण हैं? इस उपनिषद् का अन्तिम मंत्र ही प्रमाण है। जिसमें यह कहा गया है कि— "जिसके हृदय में परमात्मा और गुरु के प्रति समान भक्ति होती है उसी महात्मा की बुद्धि में उपनिषद् में कहे हुए सिद्धान्त प्रकाशित होते हैं।" इस उपनिषद् में बहुशः भगवान् की चर्चा की गयी है और "भगवान् भक्ति के अधीन हैं" इन सब प्रसंगों की हम यथा अवसर चर्चा करेंगे। इसलिए यह उपनिषद् सकलकल्याणगुणगणनिलय, सगुणसाकार परमात्मा के प्रतिपादन में ही पर्यवसन्न होती है। यह सब मेरी विवृति में स्पष्ट होता रहेगा। इस व्याख्यान से यह स्पष्ट हुआ कि— जो लोग यह कहते हैं कि— "ब्रह्मज्ञान के बिना जीव का कलयाण नहीं" वे वंचन ही कर रहे हैं। क्योंकि

यह भगवदीयश्रुति बहुत स्पष्ट कह रही हैं— 'भक्तिरेवैनं गमयति' अर्थात् भक्ति ही परमात्मा को जीव के पास ले जाती है। श्रीमद्भगवद्गीतास्मृति में भी भगवान् कहते हैं कि— हे अर्जुन! जो व्यभिचाररहित भक्तियोग से मेरी सेवा करता है, वह तीनों गुणों को पार करके ब्रह्मभाव के योग्य हो जाता है (गीता- १४/२६)। इस प्रकार ''भगवद्भक्ति नौका से ही साधक त्रिगुणसागर को पार करता है।'' यह सिद्ध हुआ। श्रीमद्भागवत में भी 'भक्त्या विमुच्येन्नरः' कहा गया। अर्थात् मनुष्य भक्ति से ही विमुक्त होता है। विनय पत्रिका– १२४ में गोस्वामी तुलसीदास बहुत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निशि गृहमध्य दीप के बातिन्ह तम निवृत्ति नहिं होई।।
रघुपति भगतिवारिछालित चित्त बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसीदास यह चिद्विलास जग बूझत-बूझत बूझै।।

अर्थात् जैसे रात्रि के समय घर में रखे हुए दीपक की बत्ती से अन्धकार नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार महावाक्यों के ज्ञान से अत्यन्त निपुण कोई भी निरुपास्तिक वेदान्ती भवसागर को पार नहीं कर पाता। जब चित्त प्रभु श्रीराम की भक्ति रूप जल धारा से धुल जाता है, तब प्रयास के बिना ही सब कुछ समझ में आ जाता है। तुलसीदास जी कहते हैं कि— ''यह जगत् सच्चिदानन्द परमात्मा का विलास है इसलिए धीरे-धीरे समझ में आता है'' ।। श्री ।।

प्रश्न– 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इस श्रुति की संगति आप के पक्ष में कैसे लगेगी ? क्योंकि आपने तो भक्ति को ही मुक्ति का साधन स्वीकारा है ।। श्री ।।

उत्तर– इस प्रश्न के चार समाधान दिये जाते हैं। प्रथम तो यह श्रुति अर्थवादपरक हैं। अर्थात् यहाँ ज्ञान की प्रसंशा की गयी हें। दूसरा उत्तर यह है कि— यहाँ ज्ञान का अर्थ है सेवकसेव्यभाव का ज्ञान। जब तक सेवकसेव्यभाव का ज्ञान नहीं होता तब तक मुक्ति नहीं होती। कारण यह है कि अन्यथा रूप को छोड़कर अपने स्वरूप की विशिष्ट स्थित को मुक्ति कहते हैं। 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' (भागवत- ३/१)। भगवान् का भजन ही जीव का स्वरूप है। जीव जब रामभजन छोड़ कर कामभजन करने लगता है, तब वह बन्धन में पड़ जाता है। यही उसका अन्यथा रूप है। सद्गुरुदेव की कृपा और भगवत्प्रसाद से जब वह श्रुतियों का रहस्य समझ

लेता है और जब अपने को सेवक और प्रभु को स्वामी मान लेता है, तब उसकी मुक्ति हो जाती हैं। तीसरा उत्तर यह है कि— ज्ञान से क्रमिक मुक्ति होती है और भक्ति से सद्योमुक्ति होती है। जैसा कि गजेन्द्र आदि के प्रकरण में देखा गया है। चौथा उत्तर यह है कि— ज्ञान से मुक्ति होती है तथा भक्ति से विभुक्ति। मुक्ति और विमुक्ति में अन्तर इतना है कि— मुक्तव्यक्ति प्रमादवशात् कभी न कभी माया के चक्कर में पड़ जाता है क्योंकि ज्ञान को माया ढक लेती है। जीव और ब्रह्म के ज्ञान में यही तो अन्तर है। जीव का ज्ञान ससीम होने के कारण अज्ञान से ढकता है। स्वयं गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्' किं बहुना (गीता- ३/३८) में भगवान् श्रीकृष्ण ने बहुत स्पष्ट कहा है कि— जैसे धूम अग्नि को ढक लेता और जैसे मल के द्वारा दर्पण ढक जाता है और जैसे झिल्ली के द्वारा गर्भ ढका रहता है उसी प्रकार अज्ञान की काम, क्रोध, लोभ इन तीन अवस्थाओं से जीव का ज्ञान ढक जाता है। इसलिए पुराणइतिहासों में बड़े-बड़े ज्ञानियों को पतित होते देखा सुना गया है, परन्तु भक्त कभी पतित नहीं होता। क्योंकि वह प्रपन्न होता है। जो प्रभु के चरणों में गिर जाता है वह जगत् में नहीं गिरता। इसलिए ज्ञान को माया मोहित कर लेती है पर भक्ति को मोहित नहीं कर पाती। क्योंकि ज्ञान पुरुष है और माया स्त्री। पुरुष नारी पर मोहित हो सकता है परन्तु माया और भक्ति ये दोनों ही नारी वर्ग के हैं। नारी का नारी पर मोहित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

मोह न नारि नारि के रूपा, पन्नगारि यह रीति अनूपा।
माया भगति सुनहु तुम दोऊ, नारि वर्ग जानइ सब कोऊ।।

—(मा० ७/११६/२/३)

इसलिए भक्ति से प्राप्त मुक्ति में पतन का कभी भय नहीं रहता। (गीता- ९/३१) में जब भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि ''क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत्च्छान्तिं निगच्छति' अर्थात् मेरा भक्त शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शीघ्र परमशान्ति को प्राप्त करता है। तब अर्जुन को जिज्ञासा होती है कि— मैं कैसे विश्वास करूँ। तब भगवान् कहते हैं— 'कौन्तेय प्रतिजानीहि' प्रति पूर्वक ज्ञा धातु का प्रतिज्ञा अर्थ सर्वविदित है। यहाँ भगवान् कहते हैं— हे कुन्तीपुत्र! तुम प्रतिज्ञा कर लो। अर्जुन पूँछते हैं— आपके भक्त के सम्बन्ध में मैं प्रतिज्ञा क्यों करूं? भगवान् कहते हैं— क्योंकि कृष्णावतार में मेरी प्रतिज्ञा का प्रमाण्य नहीं हैं अर्थात्

मेरी प्रतिज्ञा टूट सकती हैं परन्तु तुम्हारी प्रतिज्ञा नहीं टूटेगी। जैसा कि भीष्मप्रतिज्ञा के सन्दर्भ में तुमने देखा ही होगा। क्या प्रतिज्ञा करूँ? तब कहते हैं— 'न मे भक्तः प्रणष्यति'। तुम प्रतिज्ञा करके कह दो कि मेरा अर्थात् भगवान् का भक्त नष्ट नहीं होता। अत एव ज्ञान से मुक्ति और भक्ति से विमुक्ति होती है। इसलिए हमारे यहाँ भी 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' श्रुति का कोई विरोध नहीं है॥ श्री॥

इस प्रकार विशिष्टमुक्ति प्रदान करने वाली प्रेमलक्षणा भगवद्भक्ति सगुण साकार ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं। लोक में भी लोकोत्तर गुणवान् को ही कोई नारी वरण करती हैं गुणहीन को नहीं। निर्गुण ब्रह्म हृदय में रह कर भी भक्ति की समस्याओं का समाधान नहीं कर पाता उसकी भूमिका तो क्लीब जैसी होती है। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी भी रामचरित मानस में कहते हैं कि—

व्यापक ब्रह्म एक अविनासी। सत चेतन धन आनंदरासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

—(मानस– १/२३/६,७)

अर्थात् जो व्यापक, सबसे बड़े अद्वितीय, सबसे प्रधान, विनाशरहित सदैव अस्तित्ववान्, चेतना के धन, आनन्द की राशि, जन्मादि छहों विकारों से रहित और सर्वसमर्थ हैं, ऐसे परमेश्वर के हृदय में रहते हुए भी जगत् में सम्पूर्ण जीव दीन और दुःखी हैं। जबकि सगुण ब्रह्म अपने सेवक की इतनी उपेक्षा नहीं कर सकता। बालिवध प्रसंग में मानसकार स्पष्ट कहते हैं कि— अभी सुग्रीव ने प्रभु की कोई सेवा नहीं कि है, कवेल प्रभु की सब प्रकार से सेवा करने की प्रतिज्ञा भर की है परन्तु सेवा की प्रतिज्ञा मात्र से प्रभु श्रीराम ने सुग्रीव को अपना सेवक मान लिया और अपने सम्भावनिक सेवक के दुःख को सुनते ही दीनदयालु श्री राम की विशाल दोनों भुजायें फड़क उठीं॥ श्री॥

सुनि सेवक दुःख दीन दयाला। फड़क उठी दोऊ भुजा विशाला॥

—(मानस- ४/६/१५)

इन षडैश्वर्यसम्पन्न प्रभु के षडैश्वर्यप्रतिपादन हेतु श्वेताश्वतरोपनिषद् में छः अध्याय कहे गये हैं। 'सह नाववतु' इत्यादि इसका शान्तिपाठ है। इसकी व्याख्या कठोपनिषद् और तैत्तिरीयोपनिषद् में की जा चुकी है। अब

जगत् की कारणता की जिासा करते हुए महर्षि गण पाँच प्रश्नों के साथ महर्षि श्वेताश्वतर के सम्मुख उपस्थित हो रहे हें॥ श्री॥

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति।
किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब ऋषिगण महर्षि श्वेताश्तर से पाँच प्रश्न करते हैं। हरि और ॐ इन दो शब्दों से सगुण निर्गुण रूप परमात्मा का स्मरण करके, स्वभाव से ब्रह्म की चर्चा करने वाले एवं सहजता से अपने हृदय में परब्रह्म परमात्मा को स्थिर किये हुए ब्रह्मवादी महर्षियों ने ब्रह्मर्षि श्वेताश्वतर से पाँच प्रश्न किये— हे ब्रह्मनिष्ठ! और हे ब्रह्मविद्वरिष्ठ! ब्रह्मसाक्षात्कर्त्ता! श्रेष्ठ ब्रह्मविचारक! श्रोत्रियमहर्षि! परब्रह्म परमात्मा इस सृष्टि के कौन से कारण हैं? हम लोग कहाँ से उत्पन्न हुए हैं? हम किससे प्रेरित होकर जी रहे हैं? हम कहाँ प्रतिष्ठित हैं? अर्थात् हमारा आधार क्या है? हम सुख और दुःखों में किसके द्वारा प्रेरित होकर अनुवर्तन करते हैं? अर्थात् कोई भी दुःख भोगना नहीं चाहता। समाान्यतः कोई भी पाप का फल नहीं चाहता जबकि प्रयत्न से पाप करता है। जबकि इसके विपरीत सामान्यतः पुण्य कर्मों में सबकी प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु पुण्य का फल सभी को इष्ट होता है॥ श्री॥

व्याख्या– इस उपनिषद् में ॐ के पहले हरिः का उच्चारण हुआ है। हरिः ॐ। यहाँ हरि शब्द से सगुण और ॐ शब्द से निर्गुण ब्रह्म का स्मरण किया गया है। वैदिकसंहिता में भी 'योजान् विन्द्रते हरिः' 'हरि रेति' 'सुपर्णो धावते हरिः' इत्यादि मन्त्रों में हरिशब्द का उच्चारण हुआ है। वेदपाठी महानुभाव भी प्रत्येक मन्त्र के उच्चारण के पूर्व हरिः ॐ कहते हैं। यद्यपि कोष में हरि शब्द के लगभग पन्द्रहों अर्थ कहे गये हैं तथापि यहाँ मुख्य 'हरि' शब्द के अभिधेय श्रीरामहरि पर ही विचार किया जा रहा है। (रघुवंशमहाकाव्य- १३/१) महाकवि कालिदास भी श्रीराम को हरि ही कहते हैं— 'रामाभिधानो हरिरित्युवाच'। गोस्वामी तुलसीदास मानस के मंगलाचरण में 'रामाख्यमीशं हरिम्' कहकर श्रीराम को ही हरिशब्द का मुख्यवाच्य मानते हैं। 'हरि' शब्द में 'हृ' धातु और कर्त्ता के अर्थ में औणादिक इच् प्रतयय हुआ है। 'हरति पापानि यः सः हरिः' भगवान् भक्तों के पाप हर लेते हैं इसलिए वे हरि हैं—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः।।

अर्थात् दुष्ट चित्तवाले लोगों द्वारा स्मरण किये जाने पर भी श्रीहरि जीव के समस्त पाप हर लेते हैं, क्योंकि अनिच्छा से ही स्पर्श करने पर अग्नि वस्तु को जला देता है। क्योंकि अपने से छुई हुई वस्तु को जलाना अग्नि का स्वभाव है, चाहे उसे कोई इच्छा से छुये अथवा बिना इच्छा के। उसी प्रकार स्मरणमात्र से पाप का हरण करना भगवान् का स्वभाव है। वह स्मरण इच्छा से हो या अनिच्छा से। 'हरति भक्तक्लेशान् यः सः हरिः' श्री हरि भक्तों का क्लेश दूर कर देते हैं। श्रीमद्भागवत जी के षष्ठस्कन्ध में अजामिल के उद्धार में यमदूतों से वैष्णवदूत कहते हैं— चाहे कोई पर्वत के ऊँचे शिखर से गिर पड़ा हो अथवा किसी बहुमंजिले मकान से लुढ़क गया हो या कहीं से पराजित हुआ हो अथवा किसी के प्रहार से उसका कोई अंग टूट गया हो अथवा सांप, विच्छू आदि किसी भयंकर जानवर से डंसा गया हो अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक तापों से तप्त हो अथवा किसी के द्वारा पीटा गया हो अथवा किसी के शस्त्र प्रहार से घायल हुआ हो, इन अवस्थाओं में यदि कोई विवशता में भी 'हरिः' इस प्रकार भगवन्नाम उच्चारण कर ले तो वह पुरुष, यमपुर की यातना भोगने का अधिकारी नहीं है। जैसे—

पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान् नार्हति यातनाम्।।

—*(भागवत ६/२/१५)*

अथवा हरति आत्मारामाणां मनांसि अपि चोरयति यः सः हरिः। श्री हरि अपने सौन्दर्य से आत्माराम पूर्णकाम महात्माओं के भी मनों को चुरा लेते हैं। (भागवत्– १/७/१०) में श्री सूत जी शौनक जी से कहते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।।

आत्मा ही जिनका आराम अर्थात् उद्यान है। आशय यह है कि जो संसार की वाटिकाओं में भ्रमण न कर अपनी आत्मा में भ्रमण करते रहते हैं अथवा जो परमात्मा के नाम, रूप, लीला, धाममय आराम में रमते रहते हैं, जिन्होंने अपने हृदय से जडचेतनात्मक ग्रन्थि को समाप्त कर दिया है,

जिन्होंने साथ ही अन्यों की अविद्या ग्रन्थि को भेद दिया है और जो भगवदीय ग्रन्थों से अतिरिक्त अपराविद्या का अभ्यास छोड़ चुके हैं ऐसे मुनिजन भी, जिन्होंने अपने अनेक निरावरण श्रीचरणकमलों के विन्यासों से अयोध्या, मिथिला, सिद्धाश्रम, दण्डकारण्य, श्री चित्रकूट तथा किष्किन्धा भूमि को पावन किया है, ऐसे कोटि-कोटि कन्दर्पदर्पदलन कमलीयकिशोरमूर्ति नीलनीरधरस्याम, लोकलोचनाभिराम भगवान् श्रीराम में अहैतुकी भक्ति करते ही हैं। क्योंकि अब उनको कुछ नहीं चाहिए। उनका अज्ञान निवृत्त हो चुका है और ज्ञान से मुक्ति भी करतलगत है। वे तो यही कहते हैं— ''अर्थ चाहिए न धर्म काम चाहिए, कौशल्या कुमार मुझे राम चाहिए।'' वे भगवान् में अहैतुकी भक्ति क्यों करते हैं ? इस पर उत्तर दिया 'इत्थंभूतगुणो हरि:' क्योंकि श्रीहरि के गुण ही इसी प्रकार के हैं। गुण का अर्थ रस्सी होता है। जो संसार के बंधनों को काट देते हैं ऐसे महानुभावों को भी श्री हरि के गुण बांध लेते हैं। किं बहुना दाक्षिणात्य आचार्य श्रीयुत श्रीवत्सांक मिश्र तो यहाँ तक कहते हैं कि— हे हरे ! श्री रामावतार में आपके ऐसे लोकोत्तर गुणगण प्रकट हुए कि जिनका आस्वादन करके श्री अञ्जनानन्दवर्धन श्री हनुमान जी महाराज उनमें इतने अधिक अनुरक्त हुए कि वे देवदुर्लभ वैकुण्ठ को छोड़कर आज भी इस भारतभूमि में विराजते हुए आपके गुणगण महासागर में निमज्जन करते रहते हैं।

ईदृग्गुणो ननु बभूविव राघवत्वे,
यस्तावकं सुचरितं सकृदन्वभुङ्क्ता।
सोऽत्रैव हन्त हनुमान् परमां विमुक्तिं,
बुद्ध्याविधूय चरितं तव सेवतेऽसौ।।

—*(अथ मानुषस्तोत्र)*

प्रभु चरित्र सुनवे को रसिया, राम लखन सीता मँन बसिया (हनुमान चालीसा-८) क्योंकि साधन की दृष्टि से सगुणब्रह्म की वरीयता है। इसलिए यहाँ सगुणब्रह्म बाचक 'हरि' शब्द का प्रयोग पहले किया गया। यद्यपि ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भिक व्याख्यान में हम 'ॐ' शब्द की भी उन्नीस व्युत्पत्तियाँ सगुणब्रह्म के पक्ष में कह चुके हैं, परन्तु यहाँ 'ॐ' शब्द निर्गुण ब्रह्म का ही वाचक है। इस उपनिषद् के प्रारम्भ में 'हरि: ॐ' इन सगुण निर्गुण वाचक दोनों शब्दों को एक ही साथ पढ़ने में श्रुति का यही अभिप्राय रहा है कि— वह सगुण और निर्गुण इन दोनों का समन्वय करना चाहती

है। वास्तव में जब परमात्मा अपने गुणों को छिपा लेते हैं तो उन्हें निर्गुण कहा जाता है और जब वे भक्तों की आवश्यकतानुसार अपने गुणों को प्रकट करते हैं तब सगुण होते हैं। ब्रह्म के ऐश्वर्य ज्ञान के लिए निर्गुण की आवश्यकता है और माधुर्य के लिए सगुण की। प्रभु निर्गुणरूप से हृदय में निवास करते हैं और भक्तों को नयनानन्द दान करने के लिए सगुणरूप से नेत्रों में निवास करते हैं। यथा—

हिय निर्गुण नैनन सगुण रसना राम सुनाम।।
मनहु पुरट संपट लसत तुलसी ललित ललाम।।

कोई-कोई हनुमान्, सरभंग जैसे परमभक्त सगुण साकार परब्रह्म को ही हृदय में विराजमान करा लेते हैं।। श्री ।।

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु श्याम।
मम ऊर बसहु निरन्तर सगुन रूप श्री राम।।

—(मानस- ३/८)

प्रनवऊँ पवन कुमार खल बल पावक ग्यानधन।
जासु हृदय आगार बसहु हृदय सरचापधर।।

—(मानस- १/१७)

'ब्रह्म वदन्ति तच्छीलाः' ब्रह्मवादी स्वभाव से ब्रह्म के सम्बन्ध में ही चर्चा करते हैं। यहाँ 'तच्छील' अर्थ में णिनि प्रत्यय हुआ। वे पूँछते हैं- 'किं कारणं ब्रह्म' भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने ईश्वर को भिन्न-भिन्न कारण के रूप में स्वीकारा है। नैयायिकों ने भगवान् को जगत् का कर्त्ता मानकर निमित्तकारण माना है। 'तस्मै कृष्णाय नमः संसार महीरुहस्य बीजाय' (कारिकावली-१)। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में विश्वनाथतर्कपंचानन ने बीज का अर्थ निमित्तकारण किया हैं। 'बीजाय निमित्तकरणाय इत्यर्थः'। नैयायिकों के मत में जैसे घट के प्रति कुम्भकार निमित्तकारण है, उसी प्रकार संसार के प्रति भगवान् भी निमित्तकारण हैं। इसके लिए उन्होंने अनुमान किया 'कार्य कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्' कार्य कर्त्ता से उत्पन्न होता है जैसे घड़ा। अद्वैतवादी कहते हैं कि भगवान् अपने को ही जगत् रूप में बदलते हैं इसलिए उपादन है और अपनी माया से जगत् को रचते हैं इसलिए निमित्तकारण भी हैं। जबकि अद्वैतवादियों का विवर्तवाद प्रामाणिक नहीं है। जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य के चरणकमल के मधुकर हम श्रीवैष्णव अविकृतपरिणामवाद मानते हैं। जैसे

एक दीपक से हजारो दीपक जलाने पर भी दीपक के स्वरूप में कोई क्षति नहीं होती, उसी प्रकार परमात्मा के शरीर से अनन्त जीवों के उत्पन्न होने पर भी परमात्मा के स्वरूप में कोई क्षति नहीं होती। इसी प्रकार संसार भगवान् का विकार भी नहीं है। भगवान् सदैव निर्विकार रहते हैं ॥ श्री ॥

चिदानन्दमय देह तुम्हारी, विगत विकार जान अधिकारी।

अर्थात् जगत् परमात्मा का न तो विवर्त है न ही विकार। वह परमात्मा का परिणाम है। (ब्रह्म सूत्र- १/४/२६) में भी जगत् को परमात्मा का परिणाम ही कहा गया है ''परिणामात्'। किन्तु वह अविकृत परिणामवाद है। यह बात बहुत बार कही जा चुकी है कि परमात्मा चिद् और अचिद् दोनों से विशिष्ट है। इन दोनों के साथ उनका शरीरशरीरिभावसम्बन्ध है। जीव और जगत् दोनों ही जगदीश के शरीर हैं। इसलिए परिणाम अचित् प्रकृति में होता है। अत: परिणामिनी प्रकृति है, परमात्मा नहीं। जो अद्वैतवादी मुण्डकोपनिषद् में मकड़ी और जाले का उदाहरण देख कर जगत् को परमात्मा का विवर्त मानने की भूल करते हैं वास्तव में पूर्ण असंगत है। क्योंकि जाला मकड़ी का विवर्त नहीं है वह उसका परिणाम है। उस उदाहरण से तो हमारा ही पक्ष पुष्ट होता है। उस उदाहरण का इतना ही तात्पर्य है— जैसे मकड़ी जाला बना कर विकृत नहीं होती उसी प्रकार जगत् बना कर परमात्मा भी विकृत नहीं होते। जैसे मकड़ी जाल बना कर स्वयं निगल जाती है उसी प्रकार परमात्मा भी जगत् का निर्माण करके उसका संहार कर लेते हैं। जैसे मकड़ी जाल बना कर औरों को फँसाती हैं पर स्वयं उसमें रह कर नहीं फँसती उसी प्रकार भगवान् संसार का निर्माण करके अज्ञानियों को उसमें फँसाते हुए स्वयं उसमें नहीं फँसते। वस्तुत: भगवान् जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हें। यह भी मकड़ी के जाले के उदाहरण से ही सिद्ध होता है। चूँकि मकड़ी अपने चेतनांश से जाल बुनती है और मुख से लार को माध्यम बनाती है, उसी प्रकार भगवान् भी अपने चेतनांश से ही जगत् का निर्माण करते हैं इसलिए उपादान है और उनके अचित् शरीर में जगत् का परिणाम करते हैं इसलिए निमित्त हैं। वह श्लोक इस प्रकार का हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥

—(मुण्डक- १/१/७)

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती हैं और निगल भी लेती हैं और जैसे पृथ्वी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे पुरुष के शरीर से केश, रोम, नख आदि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर परमात्मा से यह संसार उत्पन्न होता है। इस मन्त्र में मकड़ी से परमात्मा की उपमा देकर उन्हें जगत् का कर्त्ता, पृथ्वी से उपमा देकर जगत् का अधिकरण अर्थात् आधार और पुरुष से उपमा देकर उन्हें जगत् का निमित्तकारण भी कहा गया। परन्तु इन तीनों उपमानों से श्रुति ने यही स्पष्ट किया कि— जैसे जाल के रचने पर मकड़ी विकृत नहीं होती, ओषधियों के उत्पन्न होने पर भी पृथ्वी में विकार नहीं आता, केश, रोम, नख के उत्पन्न होने पर भी पुरुष में कोई परिवर्तन नहीं आता, उसी प्रकार देव तिर्यक् नरात्मक जगत् का निर्माण करके भगवान् विकृत नहीं होते। ऊर्णनाभि अर्थात् मकड़ी का लार ही जाल बनता है और मकड़ी बनाती है उसी प्रकार भगवान् अपने से जगत् बनाते हैं, अतः बनाने से निमित्त और अपने उपकरणों से बनाने से उपादान कारण भी है। इसलिए हम उन्हें जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण कहते हैं। पृथ्वी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार भगवान् की अचित् मूर्तिरूपा प्रकृति में जगत् का परिणाम होता है। तृतीय चरण में उदाहृत पुरुष से केशलोम उत्पत्ति का अभिप्राय यह है कि— जैसे पुरुष से उत्पन्न हुए केश, रोम, नख को काट देने पर भी पुरुष ज्यों का त्यों बना रहता है उसी प्रकार संसार के न रहने पर भी परमात्मा की सत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है। श्रीमद्भागवत की चतुश्लोकी के अन्तिम श्लोक में यह स्पष्ट कहा गया है कि— आत्मतत्व जिज्ञासुओं को इतना तो जान ही लेना चाहिए कि अन्वय और व्यतिरेक से जो सर्वत्र सर्वदा सिद्ध है वही परमात्मा है। यहाँ अन्वय का अर्थ है सत्ता और व्यतिरेक का अर्थ है अभाव। अर्थात् संसार के रहने पर भी ईश्वर हैं और संसार के न रहने पर भी ईश्वर रहेंगे। कुछ लोग (मुण्डक उ० १/१/७) के आधार पर जगत् को परमात्मा का विवर्त मानने की चेष्टा करते हैं। और वेदान्तसार के रचियता ने तो बहुत ही समारोह से जगत् को परमात्मा का विवर्तवाद सिद्ध किया है। पर वह सब असंगत है। क्योंकि यहाँ तीनों उपमानों में कहीं भी अतत्व से अन्यथा पृथा का व्याख्यान नहीं है। जाला मकड़ी का विवर्त नहीं परिणाम है। ओषधियाँ पृथ्वी से उत्पन्न हैं उनमें भी पर्थिवतत्व है। उसी प्रकार केश और रोम ये पुरुष के परिणाम हैं, इसीलिए मनुष्य के युवक रहने पर केश

और रोम काले रहते हैं और उसके बुड्ढ़े हो जाने पर यह भी श्वेत हो जाते हैं। उपमा का पूर्णांश उपमेय में नहीं आता। जैसे– 'चन्द्र इव मुखम्' वाक्य है। चन्द्र उपमान है और मुख उपमेय, यहाँ उपमेय रूप मुख में उपमान चन्द्रमा की केवल आह्लादकता का आरोप किया गया है। यदि चन्द्रमा की धवलिमा का आरोप होगा तब तो मुख में दर्शक को कुष्ठरोग की प्रतीति होने लगेगी। उसी प्रकार यहाँ भी यथा तथा के प्रयोग से केवल उत्पत्ति का प्रकार कहा गया है। अन्यथा प्रथा नहीं। यदि कहें कि उपमान और उपमेय के साजात्म्य से ब्रह्म में विकार की सम्भावना हो जायेगी क्योंकि जाला मकड़ी का विकार है इसी प्रकार ओषधियां पृथ्वी का और केश रोम पुरुष के विकार है तो यह कहना ठीक नहीं है। हम कह चुके हैं कि थाल् प्रत्यय प्रकार अर्थ में हुआ है। 'प्रकारवचने थाल्'। और उस प्रकारता का अन्वय क्रिया में होगा। तात्पर्य यह है कि जैसे मकड़ी तटस्थ रह कर जाले को उत्पन्न करके निगल लेती है उसी प्रकार परमेश्वर अपनी अचित् नामक मायाशक्ति से जगत् उत्पन्न करके फिर अपने में विलीन कर लेते हैं। उसी प्रकार जैसे पृथ्वी में ओषधियाँ उत्पन्न होतीं हैं उसी प्रकार भगवान् के अचिद्विग्रह प्रकृति में जगत् का परिणाम होता है। जैसे पुरुष से उत्पन्न हुए केश और रोमों के नष्ट हो जाने पर भी पुरुष नष्ट नहीं होता क्योंकि ये उसके बाहरी अवयव ही नष्ट हुए हैं। उसी प्रकार यह जगत् परमात्मा के अचित् प्रकृतिशरीर में उत्पन्न होने के कारण स्वयं नष्ट होकर भी परमात्मा को विकृत नहीं कर पाता। वस्तुत: और गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह बात बहुत स्पष्ट हो जायेगी कि (मुण्डक- १/१/७) श्रुति में ब्रह्म का न तो विवर्तवाद है और न ही विकारवाद, क्यों कि तीनों उदाहरणों की पर्यावलोचना से जगत् का ब्रह्म से जन्म ही सिद्ध होता है विकृत विकार नहीं। यहाँ विकार का अर्थ है स्वरूप परिवर्तन। जाला के उत्पन्न होने पर भी मकड़ी के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। ओषधियों को प्रकट करके भी पृथ्वी अपने स्वरूप में ही रहती है, और केश, लोमों के उत्पन्न होने पर भी पुरुष जैसा का तैसा बना रहता है। इससे ब्रह्म में अविकृतपरिणामवाद सिद्ध हुआ। दही दूध का विकार है क्योंकि दही के उत्पन्न होते ही दूध विकृत हो जाता है परन्तु जगत् परमात्मा का विकार नहीं है। वह परमात्मा का परिणाम होकर भी उन्हें विकृत नहीं कर पाता। इसलिए (मुण्डक- १/१/७) के चतुर्थ चरण में अक्षरात् शब्द

का प्रयोग किया गया है। 'तथा अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' जैसे दीपक से सहस्त्रों दीपक जलाये जाते हें पर वह ज्यों का त्यों बना रहता है उसी प्रकार अनन्तकोटिब्रह्माण्डों को उत्पन्न करके भी परमात्मा अचित् ही रहते हैं। श्रीरामचरित मानस में तुलसीदास जी कहते हैं—

चिदानन्द मय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी।।

—(मानस- २/१२७/५)

परमात्मा के जगत् परिणामवाद के समर्थन में श्रीरामभक्तशिरोमणि श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी विनयपत्रिका में कहते हैं—

प्रकृति महत्तत्वशब्दादि गुणदेवता व्योममरुदग्निअमलांबु उर्बी।
बुद्धि मन इन्द्रिय प्राण चित्तात्माकाल-परमाणु चिच्छक्ति गुर्बी।।
सर्वमेवात्र त्वद्रूप् भूपालमणि व्यक्तमव्यक्तगतभेद विष्णो।
भुवनभवदंश कामारि-बंदित-पदद्वन्द्व मंदाकिनी-जनक जिष्णो।।
आदिमध्यांत भगवंत त्वां सर्वगतमीश पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी।
यथा पटतन्तु घट मृत्तिका सर्पस्त्रक्, दारुकरकनककटकांगदादि।।

—(विनय पत्रिका ५४)

वास्तव में शंकराचार्य द्वारा स्वीकृत विवर्तवाद शास्त्रीय नहीं है। कयोंकि अतत्व से अन्यथा प्रतीत को विवर्त कहते हैं यही लक्षण शंकराचार्य और उनके अनुयायियों ने किया है जैसे—

सतत्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदाहृतः।
अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः।।

अर्थात् जहाँ पदार्थ के साथ अन्य परिवर्तन होता है, उसे विकार कहते हैं और जहाँ पदार्थ के बिना अन्य परिवर्तन होता है उसे विवर्त कहते हैं। जैसे दूध का दही विकार है क्योंकि उसमें दूध का अंश मक्खन है, परन्तु रस्सी में सर्प की भ्रान्ति विवर्त है। इस प्रकार लक्षण करने पर उन्हीं के पक्ष में दोष आयेगा, क्योंकि इस से एकविज्ञानप्रतिज्ञा बाधित होगी। छान्दोग्य-उपनिषद् में जब श्वेतकेतु ने अपने पिता से पूँछा कि— वह कौन सा तत्व है जिसके जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है? तब उन्होंने तीन उदाहरण दिये— जैसे मिट्टी के जान लेने से घट का ज्ञान हो जाता है, जैसे लोहे के जान लेने से उससे निर्मित् नखनिकृन्तन आदि

सभी लौहपदार्थों का ज्ञान हो जाता है और जैसे तन्तु के जान लेने से वस्त्र का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म के जान लेने से उसके परिणामभूत का ज्ञान हो जाता है। यहाँ यदि जगत् ब्रह्म का विवर्त होगा तो ब्रह्मज्ञान से उसका ज्ञान कैसे हो सकेगा? क्योंकि रस्सी की सत्ता अलग है और सर्प की अलग। क्यों कि घड़े में मिट्टी की प्रतीत सत्य है इससे उसके जानने से घड़े का ज्ञान हो जाता है परन्तु रस्सी में सर्प की प्रतीत असत्य है। इसलिए रस्सी के ज्ञान से सर्प का ज्ञान सम्भव नहीं। इसी प्रकार जगत् को ब्रह्म का विवर्त मान लेने पर ब्रह्म के ज्ञान से जगत् का ज्ञान सम्भव नहीं होगा और एकविज्ञान से सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा स्वयं वाधित हो जायेगी। जबकि श्रुति ने बारम्बार 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' कह कर विकार की ही चर्चा की है विवर्त की नहीं। यदि विवर्तवाद शास्त्रीय होता तो ब्रह्मसूत्र के रचयिता महर्षि वेदव्यास ब्रह्मसूत्र में 'विवर्तात्' ही कहते। परन्तु सौभाग्य से उन्होंने परिणामात् (१/४/२७) कहकर स्वयं ही विवर्तवाद के आडम्बर को नष्ट कर दिया। परिणामशब्द को विवर्तवाद का पर्याय मानना न तो शंकर को इष्ट है और न ही हमें। परन्तु हमने आस्तिकबुद्धि से सूत्रकार का निर्णय स्वीकारा है। और जगत् को हम परमात्मा का परिणाम मानते हैं। परन्तु आचार्य शंकर ने किस दृष्टि से विवर्तवाद का स्थापन किया? हो सकता है कि भगवान् वेदव्यास से भी उनकी प्रतिभा अतिरिक्त रही हो। जबकि भाष्य सूत्र पर होता है, 'सूत्रानुसारि व्याख्यनम् भाष्यम्' हाँ महाभाष्य में कहीं-कहीं इष्टि और श्लोकवार्तिक द्वारा आचार्य सूत्रकार से अतिरिक्त अपना मत कह सकता है, परन्तु वह भी आमूलचूल सूत्र को नहीं बदल सकता। जबकि इष्टि व्याख्यान आदि का अधिकार केवल महर्षि पतंजलि को प्राप्त है। क्योंकि आज तक के सम्पूर्णभाष्यसाहित्य में महाभाष्य रचना का गौरव केवल महर्षि पतञ्जलि को ही प्राप्त है। इसीलिए महाभाष्य की व्याख्या करते हुए आचार्य कैय्यट ने लिखा 'महत्वं चेष्ट्यादीनां' (पातं० महा०-प्रथमाह्निक प्रदीप-१)। अर्थात् इष्टि आदि लिखने से ही महाभाष्य का महत्त्व है। परन्तु शंकराचार्य महाभाष्यकार नहीं हैं तो फिर वेदव्यासविरचित 'परणामात्' (ब्रह्मसूत्र– १/१/२७) के स्थान पर उन्हें विवर्तपरक व्याख्या करने का क्या आधिकार है। महाभाष्य रचना का गौरव प्राप्त करने पर भी भगवान् पतञ्जलि ने तो यहाँ तक कहा है कि— "मैं अपने योगबल से देख रहा हूँ कि पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रों में एक अक्षर

भी निर्थक नहीं है।'' अरे! महाभाष्यकार सूत्र का एक अक्षर भी निरर्थक नहीं कहता जबकि साधारण भाष्यकार सम्पूर्ण सूत्र को बदलने का दुस्साहस कर रहा है। यह विडम्बना ही है।। श्री।।

इस प्रकार ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध हुआ अथवा 'किं कारणं' का अर्थ है कि— ब्रह्म जगत् का साधारण कारण है या असाधारण। ब्रह्मा, विष्णु, शंकर जगत् के साधारणकारण हैं। और भगवान् श्रीराम जगत् के असाधारणकारण। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी ने उन्हें अशेषकारणपर कहा। ''वन्देहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्'' 'अशेषेभ्य: कारणेभ्य: परम्' अर्थात् प्रभु समस्त करणों से परे हैं। अथवा यहाँ ब्रह्मशब्द अजन्त है, क्योंकि श्रीधराचार्य के मत से सभी नान्त और सभी सान्त अजन्त भी होते हैं। और श्रुति ने भी श्वेतश्वतर (१/११) में त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' कह कर ब्रह्मं, ब्रह्मे, ब्रह्माणि इस प्रकार नपुंसक लिंग में तथा ब्राह्मण के अर्थ में ब्रह्मौ, ब्रह्मा: पुलिंगरूप का भी संकेत किया है। उसी का यहाँ व्यत्यय में एकवचन है। अथवा ब्रह्मण: बहुवचन के अर्थ में व्यत्यय से एकवचन तथा सम्बुद्धि में नकार लोप विकल्प के पक्ष में ब्रह्मशब्द का प्रयोग हुआ है। इस पक्ष में अर्थ होगा— हे ब्रह्मवेत्ताओं! आप ब्रह्मज्ञ के साथ-साथ ब्राह्मण भी हैं, इसलिए आप स्पष्ट कहें कि जगत् का कौन कारण है? उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही ऋषियों ने चार प्रश्न किये— हे महाशय! हमने कहाँ से जन्म लिया? 'कुत: जाता:।' अथवा यहाँ हेतु में पंचमी है। अर्थात् हमने यहाँ किस हेतु से जन्म लिया है। हम परमात्मा से अलग क्यों हुए? यहाँ 'स्म' शब्द आश्चर्यवाचक है और महर्षि अपने उस परमपिता की जिज्ञासा कर रहे हैं। तीसरा प्रश्न है— 'जीवाम केन' अर्थात् हम किसकी प्रेरणा से यहाँ जी रहे हैं? क्योंकि कोई भी बिना किसी पालक के नहीं जी सकता। अत: हमारा पालक कौन है। यहाँ जीवाम: के स्थान पर 'जीवाम' शब्द इसलिए प्रयोग हुआ क्योंकि बहुलक के बल पर लट् के अर्थ में लोटलकार है। अथवा यहां बाहुलकात् अङित् होने पर भी सकार का लोप हुआ है। अथवा यहाँ सम्प्रश्न के अर्थ में लोट् लकार हुआ है। इस पक्ष में अर्थ होगा कि— हे ब्रह्मवेत्ता! अब हम किसके आश्रय से जीवन धारण करें? 'सम्प्रतिष्ठा'। शरीरत्याग के पश्चात् हमारी स्थिति कहाँ होगी? इन तीन प्रश्नों में जीव के जन्म, स्थिति और प्रलय के हेतु की जिज्ञासा की गयी। यद्यपि सुख और दुःख ये दो ही द्वन्द्व हैं, इनके लिए द्विवचन का ही प्रयोग उचित था परन्त इनके

अवान्तर भेदों की दृष्टि से यहाँ बहुवचनांत का प्रयोग करके 'सुखेतरेषु' शब्द पढ़ा गया। 'सुखानि च इतराणि च सुखेतराणि तेषु सुखेतरेषु' यहाँ इतरशब्द दुःख का बोधक है। सात्विक राजस् तामस् भेद से सुख तीन प्रकार का होता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक भेद से दुःख भी तीन प्रकार का होता है। सुख के तीनों भेदों का वर्णन गीता अध्याय १८ के ३६ से ३९ श्लोक तक द्रष्टव्य है। और दुःख का वर्णन भी सांख्यकारिका की प्रथम आर्या में बहुत स्पष्टता से वर्णित है। यहाँ प्रश्न का तात्पर्य यह है कि— किससे प्रेरित होकर हम सुख तथा दुख में उनकी व्यवस्थाओं का अनुवर्तन करते हैं अर्थात् इन्हें भोगने के लिए हमें कौन विवश करता है। यहाँ 'व्यवस्थां' द्वितीयान्त के अनुरोध से अनुशब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए। इस प्रकार अपने पांच प्रश्नों के माध्यम से महर्षियों ने श्वेताश्वतर से अर्थपंचक की जिज्ञासा की। 'किं कारणं' से ब्रह्म का स्वरूप, 'कुतः जातः' से जीव का स्वरूप 'केन जीवाम' से उपमा का स्वरूप 'क्व सम्प्रतिष्ठा' शब्द से फल का स्वरूप तथा 'येन अधिष्ठता' शब्द से विरोधी स्वरूप की जिज्ञासा की गयी। यदि कहें कि यहाँ ऋषियों का दूसरा प्रश्न ठीक नहीं है। क्योंकि (कठोपनिषद- १/२/१८) (गीता- २/२०) में यह स्पष्ट कहा गया है कि जीवात्मा न तो जन्म लेता है और न ही मरता है, तो फिर 'हमने कहाँ से जन्म लिया' यह प्रश्न ऋषियों ने कैसे किया ॥ श्री ॥

उत्तर– आपका प्रश्न उचित है, पर यहाँ ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था में शरीर में ही आत्मबुद्धि करके ऋषियों ने प्रश्न किया है, क्योंकि शरीरावच्छिन्न जीवात्मा का जन्म होता है और जिज्ञासा अज्ञान दशा में की जाती है। इसलिए ऋषियों का प्रश्न उचित ही है ॥ श्री ॥

संगति– इस प्रकार ब्रह्मवादी महर्षियों के पाँच प्रश्न सुन कर सभी प्रश्नों के उत्तरस्वरूप उत्तरमीमांसा के प्रतिपाद्य सर्वसर्वेश्वर निरतिशयनिरुपद्रव निखिलकल्याणगुणगणनिलय परब्रह्म परमात्मा श्रीराम के जगज्जन्मादिकारणत्व एवं लोकोत्तरमहिमा का वर्णन करने के लिए महर्षि श्वेताश्वतर अब छह अध्यायों में उपनिषद् व्याख्यान का प्रारम्भ करते हैं। सबसे पहले पूर्वपक्ष में लाये जाने वाले काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, महाभूत, प्रकृति, पुरुष, संयोग तथा आत्मा इन नौवों के कारणत्व का निराकरण करके इन सब से परे दशमशब्द के वाच्य परब्रह्म परमात्मा के कारणत्व की स्थापना करते हैं ॥ श्री ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्याः।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, महाभूत, प्रकृति एवं (देहाभिमानी) पुरुष ये सभी कारणकोटि में चिन्त्य हैं अर्थात् इनकी कारणता विर्विवाद नहीं हैं। इन सातों का संयोग भी जगत् का कारण नहीं बन सकता क्योंकि इन सबकी पृथक्-पृथक् और उनके संयोग की सत्ता भी जीवात्मा के आधीन है। और सुख दुख के कारण इस जगत् का जीवात्मा भी कारण नहीं है क्योंकि वह सुख दुःख रूप जगत् को समाप्त करने में असमर्थ हैं।। श्री ।।

व्याख्या– क्षण से लेकर सम्वत्सर पर्यन्त भूत-भविष्य-वर्तमान समय को ही काल कहते हैं। प्रत्येक जीव की प्रकृति को ही स्वभाव कहते हैं। सुख दुःख की जन्म देने वाली भाग्य व्यवस्था ही नियति है। आकस्मिकी घटना को यदृच्छा कहा जाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ही महाभूत हैं। यहाँ भगवान् की योगमाया ही योनि कही गयी हैं। जिसे सांख्यवादी प्रकृति भी कहते हैं। देहाभिमानी जीव ही यहाँ 'पुरुष' शब्द से संकेतित हुआ है। ये सातों मिल कर अथवा एक-एक इसलिए कारण नहीं बन सकते क्योंकि इनकी आत्मा में सत्ता है। कारण समर्थ होता है। इसलिए श्रुति ने आत्मभावात् हेतु दिया। काल से लेकर पुरुष पर्यन्त सात हेत्वाभास और इनका संयोग ये सब जीवात्मा के आधीन हैं। यदि कहें आत्मा को ही कारण मान लिया जाय, तब श्रुति कहती हैं— 'आत्म अपि अनीशः' आत्मा असमर्थ है। क्यों ? इस पर श्रुति कहती हैं 'सुख दुःख हेतोः' क्योंकि इसको सुख और दुःख का आभास होता रहता है। केवल नित्य जीवात्मा ही इन द्वन्द्वों से रहित होता है, इसलिए छान्दोग्यश्रुति में कहा भी गया है कि 'अपहतपाप्मत्वादि' आठों गुण जीवात्मा में पश्चात् आविर्भूत होते हैं। परमात्मा में ये नित्य रहते हैं। जीवात्मा अणु होता है और उसका ज्ञान भी सखण्ड होता है। इसलिए माया के द्वारा वह या तो ढक जाता है या तो चुरा लिया जाता है। 'माययापहृतज्ञानाः (गीता- ७/१५) गोस्वामी जी भी कहते हैं—

ज्ञान अखण्ड एक सीतावर। माया वस्य जीव सचराचर ।।

—(मानस- ७/७८/४)

अब पूर्वपक्ष में उपस्थापित नवों कारणों में से कोई भी, युक्ति और शास्त्र की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। अत: श्रुति ने 'चिन्त्या' शब्द का प्रयोग किया। अर्थात् नवों कारणकोटि में आने वाले पक्ष चिन्ता की कोटि में है। काल से लेकर संयोगपर्यन्त तत्व इसलिए कारण नहीं बन पाते क्योंकि वे परतन्त्र हैं। और आत्मा इसलिए कारण नहीं बन पाता क्योंकि वह असमर्थ हैं ।। श्री ।।

संगति– ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि वहाँ इन्द्रियों की गति नहीं है। और जब तक इन्द्रियों का विषय से सन्निकर्ष नहीं होता तब तक प्रत्यक्ष प्रमा नहीं होती। यदि प्रत्यक्ष ही नहीं तो फिर तन्मूलक अनुमान कैसे ? क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान में कार्यकारणभाव है। अर्थात् अनुमानत्वावचिछन्न कार्य के प्रति प्रत्यक्षावच्छिन्न प्रत्यक्ष कारण होता है। विना कारण के कार्य हो ही नहीं सकता। क्योंकि व्याप्तिज्ञान में व्याप्य और व्यापक का प्रथमसाहचर्यज्ञान आवश्यक है। जैसे रसोई में धूम के साथ अग्नि का साहचर्य देखने से ही 'यत्र-यत्र धूमस् तत्र-तत्र वहिन:' इस व्यप्ति ज्ञान का निश्चय हुआ। और फिर पर्वत में धूम को देख कर उसमें लगी हुई अग्नि का अनुमान किया जाता है ।। श्री ।।

इसलिए यहाँ अनुमान की कोई सम्भावना ही नहीं है। चूँकि कोई भी ब्रह्म के समान नहीं हो सकता। इसी श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि "न तस्य प्रतिमा अस्ति' अर्थात् ब्रह्म की कही भी समानता नहीं है, अत एव यहाँ सादृश्यमूलक उपमान भी प्रमाण नहीं बन सकता। अन्ततोगत्वा शब्द ही शरण रह जाता है। परन्तु वाणी जड़ और परमात्मा हैं विशुद्ध चेतनघन। अत: जड वागिन्द्रिय चिद्घन परमात्मा का कैसे बोध करा सकेगी। और व्यक्ति को परमात्मा का श्रावणप्रत्यक्ष कैसे सम्भव होगा। इसलिए प्रश्नकर्त्ता ऋषियों के साथ महर्षि श्वेताश्वतर ने स्वयं ध्यानयोग से परमात्मा और उनसे अभिन्न अह्लादिनी शक्ति महामाया का साक्षात्कार किया। ध्यानयोग भक्ति की ही एक प्रक्रिया है। क्योंकि भगवान् का भक्ति से ही पूर्ण साक्षात्कार सम्भव है। (गीता– १८/५५) में योगेश्वर श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं कि— "साधक भक्ति से ही मुझे पूर्ण रूप से जान लेता है। मैं जितना हूँ, जिस स्वरूप का हूँ, वह सब कुछ तत्वत: भक्ति से ही जानने में आ जाता हूँ। ध्यान सगुण साकार का होता है। (भागवत– ३/२८/२२) में भगवान् कपिलदेव माँ देवहूति से कहते हैं— हे माँ! साधक को मुझसे अभिन्न परमेश्वर के उस दाहिने

श्रीचरणकमल का बहुत देर तक ध्यान करना चाहिए, जिसके धोये हुए जल से निकली हुई भगवती गंगा को सिर पर धारण करने के कारण भगवान् शिव, शिव बन गये। और जो ध्यान करने वाले के मलरूप पर्वत को नष्ट करने के लिए वज्र के समान है। अब ऋषियों ने ध्यानयोग से मन को एकाग्र करके सम्पूर्ण वेदों के महातात्पर्य परब्रह्म परमात्मा और उनसे अभिन्न महामाया को देखा। इसी तथ्य को अगले मन्त्र में स्पष्ट करते हैं।। श्री ।।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उन महर्षियों ने महर्षि श्वेताश्वतर के साथ भगवान् के नाम, रुप, लीला, धामात्मक ध्यानयोग के बल से तथा अष्टांगयोग द्वारा एकाग्र किये हुए मन में, अपने सत्व, रज, तमस् रूप गुणों के अंचल से मुख ढकी हुई तथा अपने प्रभु के ही वात्सल्य आदि गुणों से युक्त परमेश्वर की अचिन्त्य आत्मशक्ति का दर्शन किया। जो परमेश्वर अद्वितीय होकर भी काल से लेकर आत्मा पर्यन्त सृष्टि के सभी सहकारी कारणों को अधिकृतरूप से प्रेरित करते हैं।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ ध्यान योग शब्द के अनेक अर्थ हैं।। श्री ।।

१. भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम का बार-बार चिन्तन करना ही ध्यान है। उसी को योग कहा गया है।। श्री ।।

२. अष्टांग योग के समाधि से पूर्व यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारण, ध्यान इन सातों का उपलक्षण ध्यान है। यहाँ योग का अर्थ है समाधि।। श्री ।।

३. यहाँ ध्यानशब्द से अनपायिनी भक्ति ही अभिप्रेत है। और उससे मन को एकाग्र करना ही योग है।। श्री ।।

४. ध्यानशब्द से यहाँ समाधि से तात्पर्य है ओर उसके द्वारा चित्त को परमात्मा में लगाना ही योग है।। श्री ।।

५. ध्यानयोग शब्द में बहुब्रीहि समास है। अर्थात् ध्यान से जिसका योग यानि सम्बन्ध होता है ऐसे परमात्मा को ही ध्यानयोग कहते हें। उन परमात्मा का अनुगमन करके महर्षियों ने उनसे अभिन्न योगमाया के दर्शन किये। यहाँ देवात्मशक्ति पद एक गम्भीर अभिप्राय रखता है। वास्तव में

यह वाक्य सीता जी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ देव शब्द का अर्थ है भगवान् राम और उनकी आत्मा अर्थात् पत्नी और वही शक्ति यानि आदिशक्ति भगवती सीता हैं। संस्कृत में पत्नी को आत्मा कहा जाता है। वाल्मीकि रामायण (अयो०- ३८/२०) में महर्षि वशिष्ठ ने स्पष्ट कहा है कि— पत्नी गृहस्थ की आत्मा होती है। अत एव भगवती सीता देवाधिदेव भगवान् श्रीराम की आत्मा हैं। सीता जी में वात्सल्य आदि अनन्तगुण हैं इसलिए वाल्मीकि रामायण (युद्ध काण्ड- ११४/१७) में खलनायक रावण की पत्नी मन्दोदरी भी कहती है कि— सीता पृथ्वी की भी पृथ्वी; लक्ष्मी की भी लक्ष्मी भर्तृवत्सला हैं। भगवान् राम देवाधिदेव हैं। (कठ- १/३/११) में भगवती श्रुति भी कहती हैं— 'एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:' और वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड में स्वयं भगवती शबरी कहती हैं 'अद्य मे सफलं जन्म स्वर्गश्चापि भविष्यति त्वयि देववरे पूज्ये पूजिते परुषोत्तमे' अर्थात् हे प्रभो! आप मर्यादा पुरुषोत्तम हमारे लिए पूजनीय हैं। आप देवताओं में श्रेष्ठ हैं अत: आपकी पूजा कर लेने पर आज मेरा जन्म सफल हो गया और मुझे स्वर्ग की भी प्राप्ति हो जायेगी। उन्हीं देवाधिदेव श्रीराम की सीता जी आत्मशक्ति अर्थात अह्लादिनी शक्ति हैं। और भगवान् से अभिन्न होने के कारण उनका कार्य भगवान् का ही कार्य माना जाता है। इसलिए (गीता- ९/१०) में भगवान् कहते हैं— हे अर्जुन! इस जगत् का अध्यक्ष मैं ही हूँ मुझसे अभिन्न माया (प्रकृति) ही सारे संसार को जन्म देती है और इसी हेतु से सम्पूर्ण जगत् विस्तृत अर्थात् उत्पत्ति-पालन-प्रलय में परिवर्तित हो रहा है। यदि कहें यह उपनिषद् प्रकरण है इसमें इतिहास पुराण प्रसिद्ध सीता जी का तात्पर्य कैसे संगत होगा? तो यह कहना अनुचित है। क्योंकि इतिहास पुराण को पांचवा वेद कहा गया है। 'इतिहासं पुराणञ्च पंचमो वेद उच्यते'। महाभारत के आदिपर्व में बहुत स्पष्ट कहा है कि— इतिहास तथा पुराणों के आख्यानों से ही वेदार्थ का विस्तार करना चाहिए। जिसने अल्पश्रुत अर्थात् वैदिकसिद्धान्त बहुत कम सुना है और वेद के दो-चार मन्त्र रट लिए हैं उससे वेद भगवान् बहुत डरते हैं कि कहीं वह 'अल्पविद्या भयंकरी' से वेद पर ही न प्रहार कर बैठे। महर्षि वाल्मीकि ने तो अपने रामायण को वेद के समान ही बताया है। 'पुण्यं वेदैश्च सम्मितं' (वा०रा०- १/१/९८) इसलिए रामायण में वर्णन होने से श्रीसीताराम उनका नाम तथा चरित्र पूर्ण वैदिक हैं। वेद के उपनिषद् भाग में श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्

श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद्, श्रीरामरहस्योपनिषद्, श्रीसीतोपनिषद् इत्यादि उपनिषदों में भी श्रीसीतारामरूप परब्रह्म की पूर्ण चर्चा हुई हैं। इसी प्रकार वेद के मन्त्र भाग में भी 'इन्द्रः सीतां निगृह्णातु सीतां' वन्दामहे त्वा, अर्वाची सुभगे भव सीते, इत्यादि सहस्रों प्रमाण उपलब्ध हैं। उन्हीं सीता जी की त्रिगुणात्मिका माया जगत् व्यापार में तत्पर रहती हैं। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी ने (मानस बा० मङ्गलाचरण में) कहा है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।।

अर्थात् जो ब्रह्माजी से जगत् की उत्पत्ति कराती हैं, नारायण से पालन, शंकर से संहार एवं श्रीराम से सम्पूर्ण जीवों का क्लेशहरण कराती हैं, ऐसी सम्पूर्णजगत् का श्रेय करने वाली, श्रीराम की प्राणप्रिया श्रीसीता जी को मैं नमन करता हूँ। यहाँ यह ध्यान रहे कि इस श्लोक में प्रयुक्त कारिणीम्, हारिणीम् शब्द शुद्ध कृ, हृ धातु से णिनन्त नहीं है। प्रत्युत् णिजन्त से णिनन्त हैं। अर्थात् 'उद्भवस्थितिसंहारान् कारयति तच्छीला ताम्' सीता जी अपनी स्वाभाविक शक्ति से ब्रह्मा को रजोगुणावच्छिन्न करके उनसे जगत् की उत्पत्ति कराती हैं, अपनी सत्वगुणी माया से युक्त कर भगवान् विष्णु द्वारा जगत् का पालन कराती हैं और अपनी तमोगुणाविच्छन्न माया से शिव का निर्माण कर उन्हीं को संसार के प्रलय में कर्त्ता बनाती है। सीता जी सम्पूर्ण मायाओं की माँ हैं। माया सब सिय माया माहू। (मानस- २/२५२/३) यद्यपि आगम के वेत्ता परमेश्वर की एक ही शक्ति को व्यवहार में चार प्रकार से विभक्त हुई मान कर भोग में भवानी, पुरुष में वैष्णवी, क्रोध में काली और युद्ध में दुर्गा नाम से पुकारते हैं।

एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य, भिन्ना चतुर्धा व्यवहारकाले।
भोगे भवानी पुरुषे च विष्णुः, क्रोधे च काली समरेषु दुर्गा।।

पुराण वेत्ता ब्रह्मा, विष्णु, शंकर को परमात्मा की प्रकृति भूत प्रधान की ही शक्ति मानते हैं। किन्तु हम औपनिषत् मतावलम्बी श्री वैष्णवाचार्य देवात्मशक्ति शब्द का श्री सीतारूप अर्थ ही स्वीकारते हैं और यही मंत्र का परमतात्पर्य निश्चित करते हैं। यद्यपि इस मंत्र के द्वितीय चरण में देव शब्द समास में बंधा है— 'देवात्मशक्तिम्' तथापि नित्य साकांक्ष होने के कारण

तृतीयचरण में प्रयुक्त यह शब्द देवशब्द का ही परामर्शक होगा। अर्थात् ध्यानयोग के बल से महर्षियों ने अपने और अपने स्वामी के गुणों से समन्वित उस देवाधिदेव परमात्मा की आत्मशक्ति के दर्शन किये जो परमात्मा कालादि आत्मपर्यन्त सभी कारणों में सूक्ष्मरूप से विराजमान रह कर सबका नियन्त्रण करते रहते हैं।। श्री।।

संगति– इस प्रकार इस जगत् के प्रति परमेश्वर की अन्तरंग शक्ति भगवती सीता जी की साक्षात् कारणता एवं प्रेरक होने से परमात्मा की निमित्तकारणता का वर्णन करके अग्रिम मन्त्र में परमेश्वर के कार्यरूप जगत् का वर्णन करते हैं।। श्री।।

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार अघटितघटनापटीयसी सीता रूपिणी योगमाया को देखने के पश्चात् महर्षियों ने योगमाया के अधिष्ठाता और इस संसारचक्र को धारण करने वाले उन तमालनील परब्रह्म भगवान् राम को भी ऋषियों ने देखा। इसी संसारचक्र का अगले मन्त्र में वर्णन है। यद्यपि इस मन्त्र में न तो संसारचक्र का और न ही उसके वहन करने वाले का कोई नाम श्रुति में संकेत है। तथापि रूपक के अनुरोध से विषय को स्पष्टता से समझाने के लिए हमने इन दोनों का आक्षेप किया हैं।। श्री।।

महर्षियों ने उस संसारचक्र को वहन करते हुए परमात्मा के दर्शन किये जिसमें एक ही पहिया है, जो तीन बन्धनों से आवृत्त है, जिसमें सोलह विश्राम स्थान हैं और जिसमें पचास अरायें हैं। जो बीस सहायक अराओं से युक्त हैं, तथा जिसमें छह अष्टक के समूह व्रिमान हैं। समस्त संसार ही जिसका रूप है, जो एक ही रस्सी से बंधा हुआ है। जिसमें तीन मार्गभेद अर्थात् जो तीन दिशाओं में जाता है और जिसमें दो कारणों वाला एकमात्र मोह ही सारसर्वस्व है।। श्री।।

व्याख्या– यह मन्त्र दार्शनिक दृष्टि से जितना गम्भीर है उतना ही बौद्धिक दृष्टि से भी। यद्यपि संसारचक्र स्वयं में बहुत दुरूह है, सम्भवतः इसीलिए इसका मन्त्र भी। एकमात्र प्रकृति ही इसका मूलचक्र है। सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से यह तीन फेरा लपेट कर बांधा गया है। प्रतिपद्, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी,

एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या यही सोलह इस संसारचक्र के विश्राम स्थान हैं। कुछ लोग यहाँ प्रश्नोपनिषद् में कही हुई सोलह कलाओं को ही षोडशान्त शब्द का व्याख्यान्त मानते हैं। वह असंगत है, क्योंकि उसका इस प्रसंग में कोई उपयोग नहीं है। यहाँ पचास अरायें हैं। चार वेद, चार उपवेद, अठारह पुराण, अठारह स्मृतियाँ और शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्यौतिष, छन्द, व्याकरण ये वेद के छह अंग, कुल मिलकर पचास होते हैं। इन्हीं पचासों की तुलसीदास जी ने मानस जी के अयोध्याकाण्ड में चर्चा की है। भगवान् श्रीराम महर्षि भरद्वाज से चित्रकूट जाने के लिए मार्ग पूँछते हैं। उस समय भरद्वाज उनका मार्ग निर्देश करने के लिए पचास शिष्यों को उनके साथ भेजते हैं। सभी को भगवान् के चरणों के अपार प्रेम हैं और सभी कह रहे हैं कि उनका मार्ग देखा हुआ है ॥ श्री ॥

राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं। नाथ कहहु हम केहि मग जाहीं ॥
मुनि मन मुदित राम सन कहही। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं ॥
साथ लागि मुनि शिष्य बुलाये। सुनि मन मुदित पचासक आये ॥
सबहि रामपद प्रेम अपारा। सकल कहहिं मग दीख हमारा ॥

इस प्रसंग में पचास शिष्य वे ही है जिनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। जो 'शतार्धारं' शब्द की व्याख्या करते हुए कुछ लोग कहते हैं कि विपर्यय के पाँच भेद अशक्ति के, अट्ठाइस भेद नव तुष्टि के, और आठ भेद सिद्धि के, यही पचास इसकी अरायें हैं। तो यह पक्ष शास्त्रविरुद्ध है और प्रमत्तप्रलाप भी क्योंकि आशक्ति और तुष्टि की कहीं शास्त्रों में चर्चा नहीं देखी जाती, यदि हो भी तो यह गुण दुष्टों में हो सकते हैं सन्तों में नहीं। क्योंकि भगवद्भक्तों में पञ्चपर्वा अविद्या आ ही नहीं सकती क्योंकि वे दैन्यप्रधान होते हैं। भला जिसका पालन सीतापति भगवान् श्रीराम करते हों वे संसार में कैसे आशक्त हो सकते हैं। महापुरुषों को कभी सिद्धियाँ लोभित नहीं करतीं। जैसा कि भागवत में वृत्रासुर कहता है— हे सकलसौभाग्यनिधे परमात्मा! मैं आपको छोड़ कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य, पाताल का स्वामित्व, योग की सिद्धियाँ और मोक्ष भी नहीं चाहता। इसलिए हमारा पक्ष ही शास्त्र संगत है। दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, और पाँच महाभूत ही यहाँ बीस सहायक अरायें हैं। 'अष्टकैः षड्भिः' आठ अवयवों के समुदाय को अष्टक कहते हैं। यहाँ शारीराष्टक, प्राकृताष्टक, प्रहराष्टक यौगिकाष्टक, सिद्धिअष्टक और वाराष्टक ये छह अष्टक कहे गये हैं। रस, रक्त, मांस मज्जा, मेदा,

अस्थि, शुक्र, ओज ये आठ अंग शारीराष्टक के हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार इनसे प्राकृताष्टक बनता है। एक प्रहर में तीन घन्टे होते हैं और चौबीस घन्टों में आठ प्रहर होते हैं तथा चौबीस घण्टों का एक दिन, इस प्रकार एक दिन में प्रातः से लेकर दूसरे दिन के पौ फटने तक कुल आठ प्रहर हुए। इनके समूह को प्रहराष्टक कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि यही यौगिकाष्टक है। अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व यही सिद्धि अष्टक हैं। रवि, सोम मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, दो संध्यायें ये वाराष्टक है॥ श्री॥

सारा संसार ही इस कालचक्र का रूप हैं। एक अर्थात् दुर्निवार्य लोभ ही इसका पास है। सारा संसार इसी से बंधा हुआ है। प्रवृत्ति, निवृत्ति, और प्रपत्ति यही तीन इसके मार्ग हैं। अर्थात् विषयी जीव प्रवृत्तिमार्ग में जाता है। साधक निवृत्तिमार्ग में और सिद्ध प्रपत्तिमार्ग में। दो अर्थात् पाप और पुण्य को निमित्त बना कर, एक अर्थात् परमात्मा के विषय में इसे सतत् मोह बना रहता है। ऐसे संसार चक्र का वहन करने वाले परमात्मा का दर्शन करके ऋषिगण धन्य-धन्य हो गये॥ श्री॥

संगति– अब अगले मन्त्र में इस संसार को एक नदी के रूपक से रुपित करते हैं। अशुभ होने पर भी भगवद्भक्तों की दृष्टि में यह सृष्टि भगवान् की रचना होने से शुभ ही दिखती है। इसलिए ऋषिगण आलंकारिक भाषा में ही कह रहे हैं॥ श्री॥

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ऋषिगण कहते हैं— यह सांसारिकसृष्टि एक नदी है। जिसमें चक्षु, श्रवण, रसना, घ्राण और त्वक् इन पाँच ज्ञानेद्रियरूप स्रोतों से ज्ञान का प्रवाहरूप जल निरन्तर आता रहता है। इसी प्रकार पाँच महाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इसके उद्गम स्थान हैं। इसलिए यह भयंकर और टेढ़ी है। क्योंकि गंगा आदि नदियाँ तो एक ही स्थान से निकलती हैं परन्तु इसके तो पाँच-पाँच उद्गम स्थान हैं। प्रत्येक महाभूत का अलग-अलग स्वभाव है। इसलिए इस संसार नदी में उग्रता और वक्रता ये दोनों हैं। प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान ये पाँच प्राणवायु ही इस

नदी की पाँच लहरें हैं। चक्षुरादि पाँचों इन्द्रियों की शब्दादि पाँचों बुद्धियों का आदि कारण मन ही इस नदी का मूल है। क्योंकि मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का मन ही कारण है और मन के संकल्प से ही इस संसार की रचना होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी विनय पत्रिका में कहते हैं कि शत्रु, मित्र, मध्यस्थ ये तीनों मन के द्वारा ही किये हुए हैं॥ श्री॥

शत्रु, मित्र, मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हें वरियायीं।
त्यागब, ग्रहण, उपेक्षणीय, अहिहाटक तृण की नाईं॥

—(विनयपत्रिका १२४)

इसीलिए भाषा में एक कहावत है—

मन के हारे हार है मन के जीते जीत।
परब्रह्म को जानिये मन ही की परतीति॥

यही रूप, शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध बुद्धियों का हेतु है। क्योंकि यही इनकी प्रतिकूलता और अनुकूलता का संकल्प करता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय ही इस नदी के पाँच आवर्त अर्थात् पाँच भँवरे हैं। जैसे नदी में पड़े हुए व्यक्ति को भँवरे बाहर निकलने नहीं देतीं, बारम्बार उसी के अन्दर ही ढकेलती रहती हैं उसी प्रकार ये पाँचो विषय जीव को बारम्बार संसारसरिता में ढकेलते रहते हैं बाहर निकलने ही नहीं देते। (भागवत– ७/९/४०) में इन विषयों से क्षुब्ध होकर पाँच वर्ष की अल्पवय में ही आतुर हुए प्रह्लाद नृसिंह से कहते हैं— हे प्रभो! जिस प्रकार एक ही गृहस्वामी की बहुत सी स्त्रियाँ परस्पर सौतिया डाह करके उसे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न दिशाओं में ले जाने के लिए नोचती रहती हैं, उसी प्रकार मुझे पाँचों इन्द्रियां भिन्नस्वभाव वाले पाँचों विषयों की ओर एक साथ खींचतीं हैं। आध्यात्मिक आधिदैविक, आधिभौतिक, जन्म और मृत्यु इन पाँचों दुःखों का प्रवाह ही इसका वेग है। पाँच ज्ञानेद्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच तन्मात्रायें, पाँच महाभूत और इनके पचीस प्रतिकूल अनुभव यही इस नदी के पचास भेद हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश अथवा तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र यही इसके पाँच पर्व हैं। ऐसी सोलह पंचकों से युक्त अस्सी तत्वों वाली इस संसार सरिता का हम मनन कर रहे हैं। अर्थात् इसकी अगम्यता को देख कर इस से पार होने के लिए परमात्मा से हम प्रार्थना करते हैं॥ श्री॥

इयं हि संसारनदी गभीरा रागादिनक्रा कुटिला कुवेगा।
सीतेशपादाम्बुजनौकयैव तीर्त्वा सुखी स्यादितिमन्त्रतत्वम् ।।श्री।।

सम्बन्ध भाष्य– इस प्रकार विगत पाँच मन्त्रों में श्रुति ने चक्र और नदी के रूपक से संसार का निरूपण किया, अब जगद्द्रवत्सला श्रुति इस संसारचक्र से मुक्ति का उपाय भी कह रही हैं। भगवान् के भजन के बिना करोड़ों यत्न करने पर भी करोड़ों कल्पों तक जीव की मुक्ति नहीं हो सकती ।। श्री ।।

रघुपति विमुख जतन कर कोरी। कौन सके भव बन्धन छोरी ।।

भगवद्भजन बिना जीव को सुख भी नहीं मिलता ।। श्री ।।

श्रुति पुरान सद् ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भजन बिना सुख नाहीं ।।

—(मानस- ७/११२/१४)

भगवान् का भजन प्रभु के महात्म्यज्ञान के बिना सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए देवर्षि नारद अपने भक्तिदर्शन में कहते हैं कि— श्री ब्रजाङ्गनाओं मे लौकिकदृष्टि से भले ही मिथ्या अपवाद का आरोप रहा हो, परन्तु आध्यात्मिकदृष्टि से उन में भगवान् के महात्मज्ञान का विस्मरणरूप अपवाद नहीं है। क्योंकि यदि भगवत्प्रेम उनके महात्म्यज्ञान के बिना होगा तो वह जार अर्थात् उपपति प्रेम की भाँति क्षणभङ्गुर और अवसरवादी हो जायेगा ।। श्री ।।

न तत्र महात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः। तद्विहीनं जाराणामिव ।।

—(ना०भ०सू०- १/२२-२३)

गोस्वामी तुलसीदास जी भी उत्तरकाण्ड में भुसुण्डि जी के माध्यम से कहते हैं कि— भगवान् की कृपा के बिना श्रीराम की प्रभुता का ज्ञान नहीं होता और भगवान् की महिमा के ज्ञान के बिना उनके प्रति विश्वास स्थिर नहीं होता और विश्वास के बिना प्रभु के चरणों में प्रेम नहीं बढ़ता और भगवत्प्रेम के बिना भक्ति में दृढ़ता नहीं आती ।। श्री ।।

रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई ।।
जाने बिनु न होई परतीती। बिनु परतीति होई नहि प्रीति ।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई ।।

—(मानस- ७/९०/६,७,८)

उस ज्ञान में जीव का सेवकसेव्यभाव सम्बन्ध अनिवार्य है और उस सेवकसेव्यभाव सम्बन्ध में जीव और परमात्मा के बीच स्वरूपत: भेद भी अनिवार्य है। क्योंकि शास्त्रों में भेद में भक्ति और अभेद में बुद्धि की अनिवार्यता कही गयी हैं ।। श्री ।।

प्रश्न– जब ज्ञान के द्वारा जीव की अविद्याग्रन्थि समाप्त हो जाती हैं और उसके साथ ही साथ जब जीव की विपर्यय बुद्धि भी समाप्त हो जाती है, तब तो जीव ब्रह्म ही हो जाता है। श्रुति भी कहती हैं 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, तो फिर यह सेवकसेव्यभाव सम्बन्ध कैसा ?

उत्तर– आपने श्रुति का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझा। 'ब्रह्मैव भवति' शब्द में 'ब्रह्म आ इव भवति' समझना चाहिए तथा ब्रह्मशब्द में षष्ठी का छान्दस् लोप मानना चाहिए। इस दृष्टि से अर्थ होगा कि ब्रह्मवेत्ता थोड़ा-थोड़ा ब्रह्म के समान हो जाता है। अर्थात् उसे भोगमात्र में ईश्वर की समानता मिल जाती हैं। यही श्रुति सारूप्यमुक्ति का बीज भी है। यदि कहें कि— इस व्याख्या में क्या प्रमाण हैं ? इसमें स्वत:प्रमाण तथा परत:प्रमाण दोनों हैं। तैत्तरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली के प्रथममन्त्र में श्रुति ने स्पष्ट कहा है कि— ब्रह्मवेत्ता परमेश्वर के साथ-साथ सभी कामनाओं का भोग करता है— 'मम साधर्म्यमागता:' यहाँ साधर्म्य का अर्थ है समानधर्मता। इस प्रकार श्रुति और स्मृति से सिद्धान्तित सेवकसेव्यभाव सम्बन्ध की व्याख्या में श्रुति कहती हैं—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजिय रामपद पंकज अस सिद्धान्त विचारि ।।

—(मानस- ७/११९ क)

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सभी जीवों के आधार एवं सर्वेश्वर, परमात्मा के द्वारा संजीवित एवं सर्वस्वरूपिणी भगवान् की योगमाया से अनुप्राणित सबके निवास स्थान, भगवद्विमुखों को अलौकिक सुख से बार-बार छिन्न करने वाले, सबसे बड़े इस ब्रह्मचक्र में यह जीवात्मारूपी पक्षी सतत् भ्रमण कराया

जा रहा है। परन्तु जो जीवात्मा इस संसार से पृथक अथवा शरीर, इन्द्रिय मन और बुद्धि से भी अपने को पृथक मान कर स्वयं को भगवान् का सेवक मानता है और परमात्मा को अपने से भिन्न अर्थात् अपना स्वामी और प्रेरक मानता है, परमेश्वर द्वारा अपना प्रेमपात्र बनाया हुआ वह साधक अमृतत्व अर्थात् जन्म-मरण से विमुख भगवत्परिकरभाव को प्राप्त कर लेता है॥ श्री॥

व्याख्या– यह संसार चक्र के समान है। 'पुनः पुनः अतिशयेन क्रियते कृन्तति वा'। क्षण भङ्गुर होने के कारण इसकी बार-बार रचना की जाती है और यह भगवद्विमुखों को ब्रह्मसुख से वंचित करता रहता है। इसलिए इसे चक्र कहते हैं। जीव को हंस कहते हैं क्योंकि वह हंस पक्षी की भाँति ही उड्डयनशील है। अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर में चला जाता है। अथवा 'हन्ति सुखदुःखे प्राप्नोति इति हंसः' यह सुख दुःख को भोगता है इसलिए इसे हंस कहते हैं। अथवा 'हस्यते परमात्मना इति हंसः' भगवत् भजन न करने के कारण स्वयं परमात्मा के द्वारा इसकी हंसी उड़ायी जाती है। ''हंसति परमात्मानं दृष्ट्वा इति हंसः' यह परमात्मा को देखकर स्वयं हंसता अर्थात् प्रसन्न होता है इसलिए इसे हंस कहते हैं। **प्रश्न–** इस चक्र में जीव कब तक भ्रमण करता रहेगा? **उत्तर–** जब तक इस पर ईश्वर की कृपा नहीं होगी। परमात्मा की कृपा जीव पर कब होगी? इसपर श्रुति कहती हैं— 'पृथगात्मानम्' अर्थात् जब साधक अपने को संसार से पृथक् मान लेता है, अथवा जब साधक स्वयं को देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्म तत्वों से पृथक् मान लेता है, अथवा जब यह साधक अपने को और अपने सेव्य भगवान् को पृथक् सत्ता के रूप में स्वीकारता है तब 'तेन' अर्थात् परमात्मा के द्वारा ही अपना प्रेमपात्र बना लिया जाता है। 'जुष्टः' 'जुस्' धातु के प्रीति और सेवन ये दो अर्थ होते हैं, अर्थात् जब जीवात्मा अपने को सेवक और परमात्मा को सेव्य मानने लगता है तब भगवान् उसे अपना प्रेमपात्र मान लेते हैं और असमर्थ होने पर उस साधक की सेवा भी करते हैं, जैसे जटायु की। फिर वही जीव परमात्मा की कृपा से अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि जब तक जीवात्मा अपने को और अपने प्रेरक परमात्मा को पृथक् सत्ता के रूप में नहीं स्वीकारता तब तक भगवान् भी जीव पर कृपा नहीं करते। तात्पर्य यही है कि— अपने को परमात्मा से पृथक मान कर ही जटायु जैसे अधम पक्षी ने भी मोक्ष प्राप्त किया, तो

सामान्य जीव की क्या बात। यह कालचक्र अत्यन्त वर्धनशील है। अत; इस चक्र से भजन के बिना बचना सम्भव नहीं है ॥ श्री ॥

संगति– अब ब्रह्म तथा उनकी अन्तरंग योगमाया और जीवों की महिमा का वर्णन करते हैं ॥ श्री ॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ये परब्रह्म परमात्मा श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणों में उत्कर्षपूर्वक गाये गये हैं। इन्हीं में अविनाशी तीनों वेद, तीनों लोक एवं 'त्रयम् अक्षरम्' अर्थात् बद्ध, मुक्त, नित्य इन तीन भेदों से युक्त जीवात्मा पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जो ब्रह्मवेत्ता जीवात्मा और परमात्मा में स्वरूप से अन्तर अर्थात् भेद मान कर, अपने को प्रभु का दास समझ कर, विशिष्टाद्वैतरीति से प्रभु की सेवा में तत्पर हो जाते हैं, वे योनि अर्थात् माता के गर्भवास से और प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ॥ श्री ॥

संगति– श्रुति परमात्मा की परमभक्त हैं इसलिए फिर इसी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रही हैं ॥ श्री ॥

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वमाशैः ॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– शरीर की दृष्टि से नाशवान् और चैतन्य की दृष्टि से अविनाशी, अचिद्रूप से क्षर तथा चिद्रूप से अक्षर, स्थूल रूप से व्यक्त और सूक्ष्म रूप से अव्यक्त, ऐसे इस जड़चेतन विश्व का परमात्मा पालन-पोषण करते रहते हैं। किन्तु अनीश अर्थात् ईश्वर से विलक्षण असमर्थ आश्रयरहित यह जीवात्मा अपने को संसार का भोक्ता मानने के कारण संसार के बंधनों से बंध जाता है और सद्गुरु, संत, शास्त्रों की कृपा से जब वह परमात्मा को अपने स्वामी के रूप में पहचान लेता है उसी समय देवाधिदेव को समझ कर सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता हैं ॥ श्री ॥

संगति– फिर भगवती श्रुति 'ज्ञाज्ञौ' इस श्लोक से जीव और ब्रह्म के स्वरूपगतभेद का वर्णन करके भगवत्प्राप्तिफलक मुक्ति का उपाय कहती हैं। इस श्लोक में प्रकृति, पुरुष और परमेश्वर इन तीनों का स्पष्ट वर्णन है।

इस प्रसंग में जो अद्वैतवादियों ने यह कहा कि— माया के सन्निधान से ब्रह्म में भेद कल्पित हुआ है, तो यह पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि उन्होंने अद्वैत की रक्षा करने के लिए माया की कल्पना की, तो क्या ब्रह्म के अतिरिक्त वस्तु की कल्पना करने से द्वैत नहीं आ गया। यदि कहें कि माया तो मिथ्या है, तो भी एक सत्य और एक मिथ्या दो पदार्थ तो हो गये। यदि कहें कि वह तो अकिंचित्कर है फिर तो उसका आरम्भ ही व्यर्थ है। यदि कहें कि भेदसिद्धि के लिए उसका आरम्भ आवश्यक है। तब तो उसे द्वितीय पदार्थ मानना ही होगा और उसे पदार्थरूप में मान लेने पर अद्वैतवाद का भंग हो ही जायेगा। यदि कहें कि माया झूठ है, तब तो झूठ बोलने का पाप भी लगेगा। 'सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।' यदि कहें कि झूठ हम नहीं बोल रहे हैं श्रुति ही झूठ बोल रही है, तब तो स्वयं अपौरुषेय माता श्रुति को असत्यभाषण का पाप लग जायेगा। यदि कहें कि माया मिथ्या और ब्रह्म सत्य है, तो यदि मिथ्या और अकिंचित्करी माया में इतना सामर्थ्य है कि, वह विशुद्धब्रह्म के जीव और ईश्वर का विभाग कर रही है तो यदि वह किंचित्करी होती तो क्या करती ॥ श्री ॥

जो अद्वैतवाद के समर्थन में (बृहदारण्यक- २/५/१८) मंत्र उद्घृत किया जाता है, उस मन्त्र से भी जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं होता। पाठकों की सुविधा के लिए वह मन्त्र अर्थ सहित नीचे दिया जा रहा है ॥ श्री ॥

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुषय आविशत् ॥

—(बृ०उ०- २/५/१८)

इस मंत्र का अर्थ है— उस परमात्मा परम पुरुष श्रीराम ने पहले दो चरण वाले मनुष्य एवं चारचरण वाले पशुओं का निर्माण करके पक्षी बन कर इन शरीरों में प्रवेश किया। इस मन्त्र से अद्वैतवाद की नहीं प्रत्युत् भगवान् के अन्तर्यामित्व की सिद्ध हुई जो हम को भी इष्ट है। अद्वैतवादियों को इतना तो पता है ही कि मुण्डक (३/१/१) में जीवात्मा और परमात्मा दोनों पक्षी रूप में कहे गये हैं। वस्तुत; श्रुति का अक्षरार्थ ही उचित होगा। भोले-भाले शब्दों पर बलात्कार से कोई लाभ नहीं होने वाला। वास्तव में

परमात्मा एवं उनकी अन्तरंग शक्ति ये दोनों स्वरूपत: अभिन्न हैं और उनका उपासक जीव उपास्य परमात्मा से सर्वथा अलग है। यही इस मन्त्र का सैद्धान्तिक अर्थ है। माया भगवान् की धर्मपत्नी है। कोई भी सती अपने पति को उसके स्वरूप से च्युत नहीं करती। नित्य ज्ञानवत्व ही ब्रह्म का लक्षण है। (तै०उ० २/१) में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यहाँ ज्ञानशब्द ब्रह्मशब्द का समानाधिकरण है अर्थात् नीलोघट: की भाँति ज्ञानं ब्रह्म दोनों ही नपुंसक लिङ्ग प्रथमा के एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए इन दोनों में विशेषणविशेष्यभाव है। यदि ज्ञानशब्द में भावव्युत्पत्ति मानी जायेगी तो ब्रह्म के साथ उसका समानाधिकरण नहीं हो सकेगा। इसलिए यहाँ भाव ल्युडन्त होने पर भी ज्ञानशब्द में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ है। अर्थात् यहाँ 'ज्ञानवत्' के अर्थ में 'ज्ञानम्' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ नित्ययोग में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय है। इसका अर्थ है कि— ब्रह्म सत्यस्वरूप नित्यज्ञानवान् और अनन्त है। यदि ब्रह्म नित्य ज्ञानवान् है तो उसमें अज्ञान आयेगा कहाँ से और माया जैसी अन्तरंग शक्ति भगवान् में अज्ञान लायेगी ही क्यों ? यदि अज्ञान माया का कार्य है तो माया से भगवान् की पटती कैसे है ? क्योंकि किसी भी सज्जन का किसी कुलटा से समन्वय नहीं हो सकता। धर्मपत्नी पति को धर्मच्युत नहीं करती। नित्यज्ञानवत्व ब्रह्म का धर्म है। यदि माया ब्रह्म में अज्ञान लायेगी तो उसका धर्मपत्नीत्व ही नष्ट हो जायेगा। यदि माया मिथ्या है तो उसका लाया हुआ अज्ञान भी मिथ्या होना चाहिए। यदि अज्ञान मिथ्या होगा तो उसके द्वारा किये हुए भेद को मिथ्या होना चाहिए। यदि भेद मिथ्या है तो भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने से अलग मान कर सम्पूर्ण गीता का झूठा उपदेश क्यों कर रहे हैं। यदि भेद सत्य नहीं तो फिर भगवान् ने ही अंश शब्द के साथ सनातन विशेषण क्यों जोड़ा— 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:' (गीता–१५/७)। अत: अब निरर्थक असमीचीन चर्चा करने से कोई लाभ नहीं, चलिए प्रकृति चर्चा की जाय॥ श्री॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस समय जीव और ब्रह्म का एक और

भी अन्तर बड़े ही समारोह से स्पष्ट किया जा रहा है। एक ज्ञाता है और एक अज्ञाता, एक समर्थ है और एक असमर्थ, दोनों ही (ब्रह्म, जीव) अजन्मा हैं। भोक्ता परमात्मा के भोग्य विषय ही जिसके स्वरूप हैं, ऐसी एकमात्र अचिन्त्य शक्ति माया भी 'अजा' अर्थात् जन्म रहित है। आत्मा अनन्त और सर्वरूप है। जब वह अपना परमात्मा और उनकी योगमाया का स्वरूप समझ लेता है तब वह स्वयं अकर्त्ता होकर भगवान् का नित्य पार्षद बन जाता है।। श्री।।

व्याख्या– यहाँ जीवात्मा और परमात्मा की दो विलक्षणताएँ कही जा रही हैं। परमात्मा 'ज्ञ' अर्थात् सर्वज्ञ हैं और जीवात्मा 'अज्ञ' अर्थात् जो भगवान् को जानता है वही 'अज्ञ' है। 'ईशनीशौ' परमात्मा 'ईश' अर्थात् समर्थ है; जीवात्मा अनीश अर्थात् असमर्थ है। क्योंकि वह न तो कर्म फल का नियन्ता है और न ही सुखदुःखों का अन्यथा कर्त्ता। दोनों अजन्मा हैं 'अजौ'। यद्यपि यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि— अन्यत्र जीवात्मा को परमात्मा से उत्पन्न कहा गया और यहाँ उसे अज कैसे कहा जा रहा। 'अजश्च, अजश्च अजौ' तो इसका उत्तर यह है कि परमात्मा के पक्ष में 'अज' शब्द में नञ् समास होगा 'न जायते इति अजः' जो जन्म नहीं लेता उसे 'अज' कहते हैं किन्तु जीवात्मा के पक्ष में अकार का अर्थ वासुदेव परमात्मा करके आत् वासुदेवात् जायते इति अज; जो अकार अर्थात् वासुदेव से जन्म लेता है उसे अज कहते हैं ऐसा विग्रह किया जायेगा। यदि कहें कि श्रुति एवं स्मृति दोनों में जीवात्मा को अजन्मा ही कहा गया है— जैसे (कठोपनिषद्– १/२/१८) तथा (गीता– २/२०) में स्पष्ट कहा गया है कि जीवात्मा न तो जन्म लेता है और न ही मरता है। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ०– १/२/१८)। 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' (गीता- २/२०) तो इसका उत्तर यह है कि— विशुद्ध जीवात्मा माता पिता के संयोग से जन्म नहीं लेता परन्तु प्रलय के अन्त में परमात्मा से जन्म लेता है। इससे विलक्षण एका, अतः सृष्टि रचना में किसी की सहायता न लेने वाली योगमाया एक है, वह भी अजा अर्थात् अजन्मा है। परमेश्वर तो कभी लीला करने के लिए गर्भवास और जन्म का अभिनय भी कर लेते हैं परन्तु प्रकृति अवतार काल में भी जन्म नहीं लेती। वे तो श्री सीता अवतार में भी पृथ्वी से ही प्रकट होती हैं गर्भ में नहीं आतीं। अब

परमात्मा से जीवात्मा की विलक्षणता दिखाने के लिए चकार का प्रयोग करते हैं। अतः यहाँ 'च' का अर्थ है। किन्तु यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा दोनों में अजत्वरूप साम्य है तथापि जीवात्मा अनन्त है और परमात्मा एक हैं। प्रकृति भोक्ता के भोग्य अर्थ से युक्त है, जैसे पत्नी पति के लिए अपेक्षित सामग्री पदार्थों की सृष्टि करती हैं। इसीलिए रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।।

—(मानस-२/१२६)

आत्मा अनन्त हैं। सारा संसार ही उसका रूप है। वह जीवात्मा जब अपने को तथा प्रकृति और परमात्मा को प्राप्त कर लेता है तब अकर्त्ता हो जाता है। ब्रह्म का तात्पर्य यह है कि— यद्यपि परमात्मा ही ब्रह्मपद के वाच्य हैं फिर भी जीवात्मा और प्रकृति को परमात्मा का विशेषण माना गया है और उनसे इन दोनों का शरीरशरीरिभाव सम्बन्ध है इसीलिए 'त्रयं ब्रह्म' कहा गया। क्योंकि जब साधक को यह बोध हो जाता है कि 'मैं परमात्मा का दास हूँ वे मेरे स्वामी हैं' तब उसका कर्तृत्वाभिमान अपने आप चला जाता है और वह अकर्त्ता हो जाता है। अकर्त्ता शब्द का एक और व्याख्यान किया जा सकता है। 'अकारो वासुदेवः कर्त्ता यस्य स अकर्त्ता''अ' अर्थात् भगवान् वासुदेव ही जिसके कर्त्ता हैं वह भगवान् को सर्वस्व समर्पित करने वाला साधक अकर्त्ता है। जैसा कि आलवन्दार में कहा गया है—

मम नाथ यदस्ति योस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतस्त्वमिति प्रवुद्धधीः अथवा किन्नु समर्पयामि ते।।

अर्थात् हे माधव! मेरा जो कुछ है और मैं जो कुछ हूँ, वह सब आप का ही तो है, इसलिए 'इस प्रकार अपनी बुद्धि के प्रबुद्ध होने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच रहा हूँ कि— मेरा अपना क्या है जो मैं आपको समर्पित करूँ। सब कुछ आप का दिया हुआ है मैं भी आपका हूँ। अतः मेरे पास अपना कुछ भी नहीं है'। इस प्रकार चिन्तन करता हुआ साधक कर्तृत्व के अभिमान से मुक्त हो जाता है। कभी-कभी अपने शरीर के प्रति

भी 'अहम्' का प्रयोग होता है। जैसे कान के बहरे होने पर भी लोक में 'अनिल बैहरा है' ऐसा प्रयोग किया जाता है। जैसे किसी अंग के रोग ग्रस्त होने पर भी 'मैं बीमार हूँ' ऐसा व्यवहार होता है, उसी प्रकार इस स्थल में भी यद्यपि प्रकृति और जीवात्मा परमात्मा के शरीर हैं फिर भी उनके प्रति ब्रह्म का व्यवहार किया गया। इसी युक्ति से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि अभेदपरक वाक्यों को भी संगत किया जा सकता है।। श्री।।

संगति– इस समय क्षर और अक्षर से विलक्षण परमात्मा का निर्वचन करते हैं।। श्री।।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रधान अर्थात् भूमि आदि भिन्नाप्रकृति क्षर यानि क्षणभंगुर है और जीवात्मा मरण से भिन्न और अमर है। इन दोनों से भिन्न तथा क्षर और अक्षर से अतीत परमात्मा ही अपने शरीर में समाहित कर लेते हैं। ऐसे क्षर और अक्षर से विलक्षण परमात्मा सहायक निरपेक्ष होकर प्रकृति और जीवात्मा का शासन करते हैं। जीव और जगत् के नियंता परमात्मा का चिन्तन करने से, एवं उनमें तत्वों की योजना से तथा प्रकृति जीवात्मा और परमात्मा में परस्पर विशेषणविशेष्यतत्वभाव की बुद्धि से शरीर के अवसान में सम्पूर्ण माया की निवृत्ति हो जाती है।। श्री।।

व्याख्या– गीता जी के पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तमयोग का वर्णन करते हुए भगवान् कृष्ण ने क्षर अक्षर और क्षराक्षरातीत इन तीन तत्वों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। इसी क्षर को दार्शनिक भाषा में अचित, अक्षर को चित् और दोनों से अतीत को चिदानन्द कहा जाता है और इसी को वेदान्त की भाषा में चिदचिद्विशिष्ट कहा जाता है। भगवान् गीता के १५वें अध्याय के अन्तिम भाग में चार श्लोकों से पुरुषोत्तम योग का वर्णन करते हैं। उन्होंने क्षर और अक्षर दोनों को इसलिए पुरुष माना क्योंकि ये दोनों शरीर में सम्बद्ध हैं। इन दोनों से परे होने के कारण भगवान् पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। इसलिए वे क्षर प्रकृति और अक्षर जीवात्मा के शासक हैं। इस परमात्मा के ध्यान का तात्पर्य यह है कि— जगत् और जीव की सत्ता परमात्मा के अधीन है और जीव परमात्मा का दास है। इसी चिन्तन से

सम्पूर्ण अज्ञान की निवृत्त हो जाती हैं। क्योंकि सेवकसेव्यभाव से ही संसार का तरण होता है। यहाँ यह ध्यान रहे कि क्षर अर्थात् प्रकृति जड वर्ग है। अत: वह ईश्वर का चिन्तन नहीं कर सकती। इसलिए अक्षर अर्थात् जीव को प्रमाता कहा गया है। क्योंकि वही प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द के आधार पर परमात्मा की प्रमिति कर सकता है। 'प्रमा' चेतन का विषय है जड़ का नहीं, इसलिए जीव को प्रमाता ब्रह्म को प्रमेय तथा प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द को प्रमाण माना गया है। वस्तुत; इस प्रकरण में श्रुति ने मुक्तकण्ठ से विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया है, क्योंकि विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में प्रकृति और जीवात्मा भगवान् के विशेषण हैं और भगवान् इन दोनों के शासक और यही बात यहाँ श्रुति भी कह रही हैं। यहाँ 'तत्वभावात्' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि— जो व्यक्ति प्रकृति, पुरुष और परमात्मा इन तीनों में तत्वबुद्धि रखता है उसी की अज्ञान निवृत्ति हो सकती है॥ श्री ॥

संगति– अब श्रुति ब्रह्मज्ञान का फल कहती है॥ श्री ॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– देवाधिदेव भगवान् को जान कर जीव के सम्पूर्ण कर्म बन्धनों की हानि हो जाती है और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों के क्षीण हो जाने पर जीव के जन्म और मृत्यु की भी हानि हो जाती है। इस प्रकार उस परमपुरुष परमात्मा का ध्यान करके जीव, केवल अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्म तत्वों को समाप्त करके, एक मात्र विशुद्ध आत्मभाव को प्राप्त करके, समस्त कामनायें प्राप्त कर लेता है एवं शरीर के नष्ट हो जाने पर, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तेज आदि समस्त ऐश्वर्यों से युक्त तृतीय अर्थात् चित् और अचित् यानि क्षर, अक्षररूप प्रकृति पुरुष से विलक्षण चिदचिद्विशिष्ट परमात्मा को प्राप्त कर लेता है॥ श्री ॥

संगति– अब भगवती श्रुति ज्ञेयतत्व का निर्धारण करती हैं। जानने योग्य को ज्ञेय कहते हैं जीव ज्ञाता है। भगवान् ज्ञेय हैं। प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं। यद्यपि मुख्यत: भगवान् ज्ञेय ही हैं परन्तु विशेषण होने से गौणरूपेण प्रकृति और जीवात्मा भी ज्ञेय हैं। जैसे त्रिदण्डी

के साथ न चाहने पर भी त्रिदण्ड आता है उसी प्रकार विशेषणविशेष्य को छोड़ नहीं सकता। जैसे जहाँ-जहाँ आत्मा होगा वहाँ-वहाँ शरीर होगा, उसी प्रकार जब भी ब्रह्म विचार किया जायेगा तब ब्रह्म के विशेषण के रूप चिदचिद् का विशेषण अनिवार्य होगा। अब यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि— जिज्ञासा तो ब्रह्म की की जाती है 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र०सू० १/१/२) फिर प्रकृति और पुरुष को ज्ञेय कोटि में रखा जाय? इसका उत्तर यह है कि— जिज्ञासा शब्द 'सन्' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है और वह 'सन्' प्रत्यय इच्छा के अर्थ में है। इच्छा के दो आवश्यक अंग हैं— आश्रय और विषय। जिसमें इच्छा रहती है उसे आश्रय कहते हैं और जिसके लिए इच्छा की जाती है उसे विषय कहते हैं। यहाँ ब्रह्म के लिए इच्छा की जा रही है और जीव के द्वारा की जा रही है इसलिए यहाँ ब्रह्म और जीव का परस्पर भेद स्वत: सिद्ध हो जाता है। अथवा यहाँ ब्रह्म की जिज्ञासा की गयी हैं और वह ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट है इसलिए विशेषणों को छोड़ कर आ ही नहीं सकता। जैसे 'नीलोघट:' कहने पर नीलिमा को छोड़ कर घड़ा नहीं देखा जा सकता और जैसे प्रयाग की गंगा, यमुना तथा सरस्वती के साथ ही अस्तित्व में होती है उसी प्रकार ब्रह्म, जीव और प्रकृति के बिना रह ही नहीं सकता। अथवा चिदचिद् और चिदानन्द इन तीनों को ही ब्रह्म कहा गया है। 'त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' (श्वे०श्व०- १/१/१२) इसलिए यहाँ ब्रह्म शब्द में एक शेष करके बहुवचनान्त का प्रयोग किया गया है। 'ब्रह्मणां जिज्ञासा' 'ब्रह्मजिज्ञासा' अर्थात् जीव, जगत्, जगदीश ये तीनों ही ब्रह्म कहे गये हैं। अथवा शरीरशरीरी में अभेद करके भी प्रकृति और पुरुष को ब्रह्म कहा गया है। प्रकृति को गीता जी में ब्रह्म कहा गया है 'मम योनिर्महद् ब्रह्म' (गीता- १४/३) और जीव में ब्रह्म का सादृश्य आ जाता है 'ब्रह्म भूयाय कल्पते' (गीता- १८/५४) और यही श्रुति कह रही है। ब्रह्म तीन प्रकार का कहा गया है अत: श्रुति मुख्य और गौण वृत्ति से ज्ञेय का निरूपण करती हैं—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥१२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अपने शरीर में स्थित सर्व अन्तर्यामी क्षर

और अक्षर से परे यह परमात्मा ही नित्य जानने योग्य हैं। क्योंकि इन परमात्मा से अतिरिक्त कोई भी वस्तु जानने के लिए उचित नहीं है। इस जगत् में आकर जीव कर्म फलों का भोक्ता है, प्रकृतिनिर्मितपदार्थ जीव के भोग्य हैं और भगवान् सबके प्रेरक हैं। इस प्रकार मान कर कुछ जानने के लिए नहीं रह जाता। क्योंकि भोक्ता, भोग्य और प्रेरक ये तीनों ही ब्रह्म कहे गये हैं।

व्याख्या– यहाँ 'आत्मा' शब्द शरीर का वाचक है, अन्तर्यामी परमात्मा प्रत्येक के शरीर में रहते हैं। अतः श्रुति ने कहा 'एतज्ज्ञेयम्' अर्थात् इन्हीं परमात्मा को जानो। जिज्ञासा हुई कब जाने ? कब तक जाने ? तब श्रुति ने कहा 'नित्यमेव' परमात्मा को निरन्तर जानना चाहिए। फिर जिज्ञासा हुई कि क्या परमात्मा को जानने के लिए कहीं दूर जाना चाहिए ? श्रुति ने कहा— नहीं। वे तो तुम्हारे अन्दर ही हैं। 'मुझको कहाँ ढूढ़ता वन्दे मैं तो तेरे पास रे।' 'आत्मसंस्थं' परमात्मा हृदय में ही है। फिर जिज्ञासा हुई कि उन्हें कितने रूपों में जानना चाहिए ? तब श्रुति ने उत्तर दिया— 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारम्' अर्थात् अपने को भोक्ता के रूप में प्रकृति को भोग्य के रूप में एवं परमात्मा को प्रेरक मान कर जीव कृतकृत्य हो जाता है। इससे अतिरिक्त उसको कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि ये तीनों ब्रह्म के ही भेद हैं। अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि— इस मन्त्र के पूर्वार्ध में केवल ब्रह्म की ही ज्ञेयता की बात कही गयी है और तृतीय चरण में भोक्ता भोग्य प्रेरक की चर्चा की गयी, तो क्या वदतोव्याघातदोष नहीं हुआ ? इसका उत्तर यह है कि— यहाँ ब्रह्मशब्द का नहीं ब्राह्मम् का प्रयोग है। 'ब्रह्मणः इदं' इस विग्रह में 'अण्' प्रत्यय करके छान्दस् होने से वृद्धि का अभाव है। इस पक्ष में ब्रह्मं का अर्थ है ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान। जीव कर्म फलों को भोक्ता है, यह स्वस्वरूप है। परमात्मा सबके प्रेरक हैं; यह परस्वरूप है। प्रकृतिनिर्मितपदार्थ जीव के भोग्य हैं और प्रकृति परमात्मा की। यहाँ उपायस्वरूप और विरोधिस्वरूप दोनों की चर्चा है। चकार से फलस्वरूप की चर्चा की गयी हैं। जैसे प्रधान पूजा के पहले अंगपूजा पार्षदपूजा अनिवार्य होती है। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के पूर्व उनके विशेषणरूप प्रकृतिपुरुष का ज्ञान अनिवार्य है। इसलिए श्रुति ने कहा— जो साधक स्वयं को भोक्ता, प्रकृति को परमात्मा का भोग्य एवं परमात्मा को प्रेरक

मान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है। इससे अतिरिक्त उसको कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। क्योंकि ब्रह्मज्ञान के यही तीन भोक्ता, भोग्य, प्रेरक के ज्ञान भेद हैं॥ श्री॥

संगति– ब्रह्म स्वरूप के निरूपण के पश्चात् श्रुति उसका विस्तार करने के लिए अग्नि और ईंधन का रूपक प्रस्तुत करती है॥ श्री॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥१३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार अरण्यकाष्ठ में वर्तमान अग्नि की मूर्ति (लपट आदि स्वरूप वाली) न तो दिखती हैं और न ही उसकी आकृति का नाश होता है, प्रत्युत् वही अरण्य में छिपा हुआ अग्नि ईंधन का सहयोग पाकर अपने सभी दाहकत्वादि गुणों को प्रकट करते हुए सुगमता से ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार हमारे हृदय में रहने वाले सगुण निर्गुण ब्रह्म को 'प्रणव' अर्थात् ओंकार से ग्रहण कर लिया जाता है। यही बात रामचरितमानस में मानसकार भी कहते हैं—

एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू।
उभय अगम जुग सुगम नाम ते। कहहुँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते॥

—(मानस १/२३/४,५)

संगति– अब अरणिमंथन के रूपक से ब्रह्म के प्रकट होने की विद्या कही जा रही है। जिस प्रकार ऊपर नीचे की अरणियों के मंथन से याज्ञिक अग्नि प्रकट करते हैं, उसी प्रकार शरीर एवं ओंकार के संयोग से बारम्बार जपरूप अभ्यास करने से परमात्मा प्रकट हो जाते है। यही मन्त्र का सारांश है॥ श्री॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥१४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अपने शरीर को नीचे की अरणि एवं प्रणव को ऊपर की अरणि बना कर, ध्यानरूप निर्मन्थन के अभ्यास से हृदयरूप गुफा में छिपे हुए देवाधिदेव परमात्मा का साधक साक्षात्कार कर सकता है॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ प्रणव शब्द ओंकार और रामनाम दोनों के लिए प्रयुक्त है। श्रुति ने राममन्त्र को भी ब्रह्म कहा है। 'श्री रामो ब्रह्मतारकम्' इसलिए अपने वर्णाश्रम की मार्यादा के अनुसार वैखरीवाणी से प्रणव या रामनाम की उसी प्रकार रटन करनी चाहिए जैसे अरणि मन्थन किया जाता है। उससे परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन होता है॥ श्री॥

संगति– अब भगवती श्रुति ब्रह्म की व्यापकता और उनकी प्राप्ति के उपाय का वर्णन करती है॥ श्री॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिराप: स्रोत:स्वरणीषु चाग्नि:।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥१५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार तिल में तेल व्याप्त रहता है, जिस प्रकार दही में घी विद्यमान होता है, जिस प्रकार स्रोतों में जल उपलब्ध होता है और जिस प्रकार अरणि में अग्नि सदैव वर्तमान रहता है, उसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सूषुप्ति, तुरीया इन चारों अवस्थाओं में इस शरीर में ही परमात्मा विराजमान रहते हैं। उन्हें साधक सत्य और तपस्या से अनुकूलता पूर्वक साक्षात्कार कर लेता है॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ चार उपमाओं का तात्पर्य यह है कि, चारों ही अवस्थाओं में जीवात्माओं के साथ परमात्मा विराजते रहते हैं परन्तु जैसे तिल को पेर कर उसमें से तेल निकाला जाता है, उसी प्रकार वेदानुवचन से परमात्मा भीतर से बाहर आ जाते हैं। जिस प्रकार दही को मथकर घी निकाला जाता है, उसी प्रकार व्रत से परमात्मा के साक्षात्कार की इच्छा जगती है। जिस प्रकार स्रोतों को रोक देने से जल उपलब्ध होता है, उसी प्रकार तपस्या से इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर लेने पर भगवान् प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार अरणि का मन्थन करके अग्नि प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार शास्त्रविहित उपवास से भगवत्प्राप्ति होती है। यहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से पाँचों विषयों का चिन्तन न करना ही उपवास है। यहाँ आत्माशब्द सप्तम्यन्त होकर शरीर के अर्थ में और प्रथमा विभक्त्यन्त होकर परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसके साक्षात्कार के लिए सत्य और तप मुख्य साधन हैं। यहाँ इव शब्द का तैल सर्पि आप और अग्नि शब्द के साथ अन्वय समझना चाहिए॥ श्री॥

संगति– अब पूर्वोक्त साधनों से ब्रह्म की विवेचना करके अध्याय का उपसंहार करते हैं।। श्री ।।

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परं, तद्ब्रह्मोनिषत्परम् ।।१६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– दूध में घृत की भाँति इस संसार में विद्यमान सर्वव्यापी तथा विद्या एवं तपस्या से जो प्राप्त किये जा सकते हैं ऐसे परमात्मा को जो सत्य और तपस्या से साक्षात्कार करने का यत्न करता है, उसी के द्वारा वे प्राप्त किये जाते हैं। वह ब्रह्म उपनिषेदों में परतत्वरूप में वर्णित है। द्विरुक्ति अध्यायसमाप्ति की सूचना के लिए है।। श्री ।।

व्याख्या– यह संसार प्रकृतिरूप कामधेनु का दूध है, अन्तर इतना ही है कि दूध में घृत प्रारम्भ से रहता है परन्तु संसार में परमात्मा प्रारम्भ से नहीं थे। पहले भगवदभिन्न योगमाया ने संसार की रचना की, फिर उसकी निःसारता देख कर उसमें परमात्मा को अर्पित किया। इसीलिए इसको संसार कहा जाने लगा। 'सम्यक् सार: यस्मिन स संसार:' क्योंकि इसमें अब परमात्मारूप सारवस्तु उपस्थित हो गयी। यदि कहें कि इस व्याख्यान में क्या प्रमाण है तो (तै०उ०– २/७) मन्त्र ही इसमें प्रमाण है। वहाँ श्रुति कहती हैं— पहले भगवान् ने संसार को बनाया फिर उसमें प्रवेश किया। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' यहाँ त्वा प्रत्यय पूर्वकाल में हुआ है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि पहले सृष्टि की रचना हुई फिर परमात्मा ने उसमें प्रवेश किया। वह ब्रह्म उपनिषद् में प्रतिपादित है।

इति श्रीश्वेताश्वत उपनिषद् के प्रथम अध्याय पर श्रीतुलसीपीठाधीश्वर
रामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। अथ द्वितीयअध्यायः ।।

सम्बन्ध– प्रथम अध्याय में जीव और ब्रह्म का स्वरूप से भेद, दोनों की एक दूसरे से विलक्षणता तथा ब्रह्मप्राप्ति के उपाय का विस्तार से वर्णन किया गया। अब द्वितीय अध्याय में भगवत्कृपा प्रार्थना का वर्णन है। क्योंकि कठ तथा मुण्डक में यह स्पष्ट कहा गया है कि— "परमात्मा केवल प्रवचन अथवा शुष्कमेधा तथा प्रेमशून्य शास्त्रश्रवण से नहीं मिलते। वे उसी को प्राप्त होते हैं जिसको वरण करते हैं।" प्रभु वरण उसी को करते हैं, जिस पर कृपा करते हैं और कृपा उस पर करते हैं, जिसमें दैन्य होता है। दैन्य का मूल है प्रार्थना। अतः प्रार्थना की व्याख्या करने के लिये द्वितीय अध्याय का प्रारम्भ होता है। यदि कहें कि— जब भगवान् को भी प्रार्थना अच्छी लगती हैं तब तो सामान्य राजा महाराजाओं की भाँति उनमें भी चाटुकारिता प्रियता का आरोप लगेगा? तो उसका उत्तर यह है कि— भगवान् का एक स्वभाव है कि वे अपने गुण भूल जाते हैं, इसलिए उन्हें उन्हीं के गुणों का स्मरण कराने के लिए प्रार्थना की जाती है। यदि कहें कि भगवान् को यदि विस्मरण हो ही जाता है तो उन्हें स्मृतिवान् क्यों कहा गया? तो इसका उत्तर यह है कि— वहाँ प्रशंसा अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय मान लेना चाहिए। अतः भगवान् की स्मृति प्रशंसनीय है। वह इसलिए क्योंकि सब कुछ स्मरण रखते हुए भी प्रभु अपने गुण, शत्रुओं के अपकार, भक्तों के दोष तथा दिये हुए दान को भूल जाते हैं—

"निज गुण अरिकृत अनहितौ दासदोष सुरति चित रहति न दिये दान की"

—(विनय पत्रिका- ४२)

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– समस्त प्राणियों के प्रेरक, सूर्य के समान तेजस्वी परमात्मा पहले ब्रह्मतत्व के लिए मन एवं बुद्धियों को अपने से जोड़ते हुए, ज्योति को इकट्ठी करके पृथ्वी के ऊपर विखेर दें।। श्री ।।

व्याख्या– इसका आध्यात्मिक अर्थ दूसरे प्रकार का होगा। समस्त प्राणियों के प्रेरक परमात्मा सर्वप्रथम हमारे चंचल मन को अपने चरणों से जोड़ें, फिर संसार में भटकी हुई विषयासक्त हमारी बुद्धियों को अपने में

लगाते हुए, अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओं के तेज को सम्मोहित करके, हमें पार्थिव भोगों से ऊपर उठाकर, हमारा पालन करें। यहाँ व्यत्यय से लोट् के अर्थ में लङ् लकार हुआ है॥ श्री॥

संगति– अब द्वितीयमन्त्र में परमेश्वर के पदपद्मपरागरस को पान करने के लिए साधक सविता देवता से प्रार्थना करता है। यदि कहें कि मन के अभिमानी देवता चन्द्रमा है, तो उन्हें छोड़कर सूर्य की प्रार्थना करना उचित नहीं है ? इसका समाधान यह है कि— नेत्र द्वारा समर्पित विषयों का मन चिन्तन करता है। यदि सूर्य नारायण की कृपा होगी तो नेत्र मन को असद्विषय नहीं देगा और मन भगवद्विरुद्धसंकल्प नहीं करेगा। क्योंकि दृटि के दूषित होने पर ही सृष्टि दूषित होती है। दूसरा समाधान यह है कि— कृष्णपक्ष में सभी देवताओं द्वारा कलाओं को पी लिए जाने पर अमावस्या के दिन चन्द्रमा सूर्य नारायण के पास जाकर, उन्हीं से फिर सभी कलायें प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए सूर्य की प्रार्थना अत्यंत समीचीन है, जिससे वे प्रसन्न होकर चन्द्रमा को भगवत् दर्शन से ओतप्रोत कलाएँ ही प्रदान करें, जिससे हमारा मन भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम, के रस का आस्वादन कर सके। यहाँ सविता शब्द परमात्मा का वाचक है। और परमात्मा सबके नियंता हैं॥ श्री॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे भगवन्! हम सर्वप्रेरक परमात्मा से युक्त अपने मन से सर्वप्रेरक परमात्मा के ही निःश्वासभूत वेदविहितकर्म में लगें और स्वर्गलोक में भी गाये जाने वाले श्री साकेत में विराजमान परमात्मा श्रीराम के लिए अपने बाह्य और आन्तर सामर्थ्य से लगे रहें॥ श्री॥

व्याख्या– कुछ लोग यहाँ 'सव' शब्द का अनुज्ञा अर्थ करते हैं पर किसी भी कोष में इसका प्रमाण न मिलने से वह तथ्यहीन ही है। सुवर्गेय शब्द स्त्रीलिंग न होने पर भी व्यत्यय से ढक् प्रत्यान्त है और उसी से यहाँ वृद्धि का अभाव भी समझना चाहिए॥ श्री॥

संगति– अब मन के सहित सभी इन्द्रियाभिमानी देवताओं को सविता रूप परमात्मा की सत्प्रेरणा से अनुप्राणित कराने के लिए साधक उन्हीं से प्रार्थना करता है। सविता शब्द मुख्यवृत्ति से परमात्मा का वाचक है और

गौण वृत्ति से सूर्य का भी, इसलिए ज्ञानकाण्डीय प्रकरण होने के कारण इस प्रार्थना का प्रार्थना में ही मुख्य तात्पर्य समझना चाहिए ।। श्री ।।

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।। ३ ।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हमारी बुद्धियों को मन के साथ जोड़ने के लिए अन्तरिक्ष से स्वर्ग पर्यन्त जाते हुए अथवा सकाम बुद्धि वाले शरीर में रहने से स्वर्ग को एवं निष्काम बुद्धि वाले व्यक्ति की दृष्टि से श्री साकेत लोक की यात्रा करने वाले, आपकी ही सत्प्रेरणा से भविष्य में विशाल प्रकाश फैलाने वाले ऐसे सूर्यादि इन्द्रियाभिमानी देवताओं के सूर्य स्वरूप आप (परमात्मा) प्रेरित करें ।। श्री ।।

व्याख्या– जीव दो प्रकार के स्वभाव का होता है, सकाम और निष्काम। सकाम जीवों की वृत्ति विषयोन्मुखी होती है। इसलिए उसके अभिमानी देवता भी विषयोन्मुखी ही रहते हैं। जैसा कि ज्ञान दीपक में गोस्वामी तुलसीदास जी भी कह रहे हैं—

जौं तेहिं विघ्न बुद्धि नहि बाधी । तौं बहोरि सुर करहिं उपाधि ।।
इन्द्रिय द्वार झरोखे नाना । तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ।।
आवत देखहिं विषय बयारी । ते हठि देहिं कपट उघारी ।।
इन्द्रिय सुरन्ह न ज्ञान सुहाई । विषय भोग पर प्रीति सदाई ।।
—(मानस- ७/११८/११,१२,१३, एवं १५)

इसलिए सकाम देहाभिमानी देवता साकेत की यात्रा करते हैं और वहीं जीवात्मा को भी ले जाते हैं। इसलिए श्रुति ने 'स्वः' 'दिवं' शब्दो का प्रयोग किया। उन्हीं की प्रेरणा के लिए यहाँ भगवान् से प्रार्थना की गयी। क्योंकि जब मन के साथ बुद्धि परमात्मा के साथ श्रीचरणों में लग जाती है, तब न तो मन काम का संकल्प करता है और न बुद्धि काम का अध्यवसाय। इसलिए श्रुति की प्रेरणा से साधक ने प्रार्थना की कि— मन के साथ हमारी बुद्धियों को अपने चरण कमलों में जोड़ने के लिए स्वर्ग और साकेत की यात्रा करने वाले, आपकी चेतना से आगे चल कर मुझ में विशाल ज्योति का विस्तार करने वाले, ऐसे देवताओं को सूर्य स्वरूप परमात्मा ही प्रेरित करे। यहाँ आट् का आगम और लोट् के अर्थ में लट् लकार व्यत्यय का ही परिणाम है ।। श्री ।।

संगति– अब भगवती श्रुति परमेश्वर की स्तुति की प्रासंगिकता कहती हैं। सामान्यत: यह शंका होती है कि— स्तुतिकर्त्ताओं ने भगवान् को भी चाटुकारिता प्रिय बना दिया होगा ? अगले मंत्र में इसी प्रश्न का समाधान है ।। श्री ।।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ब्राह्मण द्वारा ब्राह्मणी में जन्म लेकर, द्विजाति संस्कारों से संस्कृत, वेदपाठी, जो ब्राह्मण जिन परमात्मा में अपने निर्मल मन और ध्यानलक्षणा बुद्धि को समर्पित कर देते हैं और जो परमात्मा एक अर्थात् अद्वितीय हैं, जो होता अर्थात् अग्निहोत्र क्रिया के रचियता हैं और जो अपनी वयुना अर्थात् अचिन्त्यज्ञानशक्ति से सब कुछ जानते हैं ऐसे सर्वज्ञानसम्पन्न सबसे बड़े एवं सब कुछ देखने वाले उन परमात्मा की निश्चय पूर्वक श्रेष्ठ और परिष्कृत स्तुति उन्हीं ब्राह्मणों को करनी चाहिए। इस मन्त्र में दो बार विप्र शब्द का प्रयोग हुआ है— प्रथम जस् भिक्त में, द्वितीय ङस् विभक्ति में। प्रथमान्त विप्रशब्द ब्राह्मण वाचक है और षष्ठ्यन्त विप्रशब्द परमेश्वर के तात्पर्य में प्रयुक्त है। प्रथमान्त विप्रशब्द महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा एक विलक्षण रीति से व्याख्यायित हुआ है। यथा—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारात् द्विज उच्यते ।
वेदपाठी भवेत् विप्रः श्रोत्रियो वेदपारगः ।।

अर्थात् स्ववर्ण ब्राह्मण पत्नी में ब्राह्मण से जन्म लेने से व्यक्ति ब्राह्मण होता है, वही जब यज्ञोपवीत आदि संस्कारों से संस्कृत होता है तब द्विज कहलाता है, वही ब्राह्मण बालक वेद का अध्ययन करके विप्र और वही वेदार्थ समझने के पश्चात् श्रोत्रिय कहा जाता है। सनातन धर्म को क्षति पहुँचाने की दृष्टि से कुछ लोगों ने एक मनगढ़न्त श्लोक जोड़ा है। यथा—

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।
वेदपाठी भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ।

यह श्लोक कहाँ का है मुझे आज तक इसका संज्ञान नहीं हो पाया। हो सकता है इन महाशयों के मूर्खभाषितभाण्डागार में उपलब्ध हो अथवा लन्ठसिद्धान्तकौमुदी में प्रकाशित हुआ हो। मूर्खता की सीमा तब हो

गयी जब इन महाशयों ने चतुर्थ चरण का अनर्गल प्रलाप किया। ये मूर्ख महोदय कहते हैं कि— जो ब्रह्म को जानता है वही ब्राह्मण है। इनसे यह पूँछना चाहिए कि 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' इस व्युत्पत्ति से वे कौन सा प्रत्यय करना चाहते हैं? क्योंकि जानाति विग्रह में किसी भी पाणिनीयसूत्र से हमने प्रत्यय करते नहीं सुना। हाँ 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनीय सूत्र से वेद अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। किन्तु वहाँ जाति भिन्न अर्थ में 'टि' लोप होता है। जाति अर्थ में 'टि' लोप होता ही नहीं। 'ब्रह्मोऽजातौ' 'अजातौ किम्' 'जातौ तु ब्राह्मणः' सिद्धान्तकौमुदी। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ब्राह्मण जाति से भिन्न यदि कोई वेद जानता है तो उसे भगवान् पाणिनि 'ब्राह्म' कहते हैं ब्राह्मण नहीं। जैसे ब्राह्मो जनकः ब्राह्मणो याज्ञवल्यः। प्रायः संस्कृत की व्युत्पत्ति इति शब्द के साथ जुड़ी होती है। यह महाशय कृपा करके बतायें कि इस व्युत्पत्ति में इति शब्द का प्रयोग कहाँ है? यदि सीधा अर्थ किया जाय तब तो आपश्री का शास्त्र आपश्री के लिए ही घातक सिद्ध हो जायेगा। क्योंकि 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' का अर्थ होगा ब्राह्मण ब्रह्म को जानता है। यदि यहाँ इति शब्द होता तो यह अर्थ हो जाता कि— 'जो ब्रह्म को जाने वह ब्राह्मण।' परन्तु आपश्री के दुर्भाग्य से यहाँ 'इति' शब्द नहीं हैं। द्वितीय 'विप्र' शब्द का अर्थ है परमात्मा 'विनतान्प्राति इति विप्रः' जो अपने प्रपन्नों को पूर्ण कर देते हैं वे परमात्मा यौगिकव्युत्पत्ति से विप्र हैं। वयुना का अर्थ है ज्ञानशक्ति। 'वयुना वेत्ति' ज्ञानशक्ति से भगवान् सब कुछ जान लेते हैं, उन्हीं की परिष्कृत परिमार्जित परिव्यक्त कामनाओं वाली स्तुति ब्राह्मणों को करनी चाहिए। यदि ब्राह्मण भगवद्भक्त हो जाय तब तो स्वर्णसौरभयोग ही हो जायेगा॥ श्री॥

संगति– अब प्रार्थना करने वाला साधक अपनी स्तुति को दिग्दिगन्त में प्रचारित करने की कामना करता हुआ, अपने द्वारा किये हुए स्तोत्र को सावधान होकर सुनने के लिए सभी प्राणियों से प्रार्थना करता है॥ श्री॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे दशों इन्द्रियों और चारों अन्तःकरण के देवताओं! हम तुम्हारे पालनकर्त्ता ब्रह्म को अपने नमस्कारों से जोड़ें अथवा अपने नमस्कारों से हम उन्हीं से जुड़ जायें और संसार में भटकें हुए

लोगों को महापथ प्रदान करने के लिए राजमार्ग की भाँति सिद्ध हों और हमारे दिव्यश्लोक जगत् में कीर्ति पायें, तथा हे अमृत परमात्मा के पुत्रो! यह ध्यान देकर सुनो। ये महापुरुष वे हैं, जिन्होंने इस संसारसागर से पार होने का सुगम उपाय कहा और जो दिव्यधाम में विराजमान हुए अथवा जो दिव्य धाम में विराजें ऐसे अमृत के पुत्रों आप लोग हमारी स्तुति सुनें और मेरे द्वारा गाया हुआ यह विष्णु सम्बन्धी श्लोक दिव्यपथ्य की भाँति विशालता को प्राप्त हो॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ 'वाम' शब्द व्यत्यय से षष्ठीबहुवचन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उसी प्रकार एकवचन के अर्थ में पथ्या 'शत्रन्त' का प्रयोग हुआ हे। अमृतस्य पुत्राः कहकर श्रुति ने स्पष्ट ही जीवात्मा और परमात्मा के बीच स्वाभाविक भेद सिद्ध किया है। इस मन्त्र का एक और व्याख्यान किया जा सकता है— जो आप चतुर्दश देवताओं का नियामक है, जो सनातन तथा इस सृष्टि से भी पुरातन है ऐसे ब्रह्म को मैं अपने नमस्कारों से युक्त कर रहा हूँ। ब्राह्मणों का विशिष्ट श्लोक ओषधि की भाँति हितकारी हो अथवा मुझ, भगवत्प्रपन्न, श्रीवैष्णव का यह नमस्कार रूप विशिष्टश्लोक कीर्ति की भाँति व्यापकता को प्राप्त करे, जो भगवान् के दिव्यकिंकर हैं और जो भगवान् का नित्य कैंकर्य करने के लिए दिव्य साकेत वैकुण्ठ और गोलोक में आदर पूर्वक विराजते हैं। यहाँ 'अमृतस्य पुत्राः' कह कर श्रुति ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म का स्वरूपगत भेद स्पष्ट कर दिया। इसी व्याख्यान से गीता अध्याय पन्द्रह का सातवाँ श्लोक भी व्याख्यात हो गया॥ श्री॥

संगति– अब श्रुति मनोधिष्ठान देवता का वर्णन करती हैं॥ श्री॥

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जहाँ अरणि द्वारा अग्नि का मन्थन किया जाता है, जहाँ यजमान द्वारा आचमन करके प्राणायाम विधि से वायु रोका जाता है और जहाँ सोम लताओं को पीसकर सोमरस का अधिक उत्पादन किया जाता है, उस यज्ञ में वेदवेत्ता का मन आसक्त होता है अथवा ऐसे यज्ञ में हमारा मन आसक्त हो॥ श्री॥

व्याख्या– इस मन्त्र की चार प्रकार से व्याख्या की जा रही है। प्रथम व्याख्या सामान्यार्थ में ही गतार्थ हो गयी। द्वितीय व्याख्या स्थिति परक है— भगवती श्रुति साधक को प्रेरित करती है। साधक उनके द्वारा शिक्षित मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि— हे परमात्मन्! मेरा मन उस स्थिति में प्रवेश करे, जिसमें अपने शरीर को पूर्व अरणि बना कर ओंकार रूप उत्तरारणि की सहायता से अग्निरूप आपको प्रकट किया जाता है। मेरा मन उस स्थिति का अनुभव करे, जिसमें वायु के समान सर्वव्यापक होकर भी आपश्री भक्त के प्रेम से रुद्ध हो जाते हैं। मेरा मन उस स्थिति में तन्मय हो जाय, जिसमें भक्त सोमरस की भाँति रसरूप आपका पान करता है। इस व्याख्या में अग्नि, वायु तथा चन्द्र इन तीन भगवद्विभूतियों के स्मरण के माध्यम से भगवान् का ही स्मरण किया गया है। और ये तीनों गीता जी में भगवान् की विभूतियों के रूप में स्मरण किये गये हैं॥ श्री॥

अग्नि– वसूनां पावकश्चास्मि, वायु– पवनः पवतास्मि, चन्द्रमा– नक्षत्राणामहं शशी। अथवा अग्नि– वायु और सोम ये वृत्ति से भगवान् के नाम ही हैं। इसलिए ऋग्वेद की सर्वप्रथम ऋचा में सामान्य रूप से अग्नि का संकीर्तन होने पर भी महातात्पर्य के रूप में परमेश्वर का ही स्मरण किया गया हैं। अनुशीलकों के आनन्द के लिए व्याख्या सहित वह मन्त्र प्रस्तुत किया जा रहा है। "अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातवम्" (ऋग्वेद- १/१) इसका सामान्य अर्थ करने पर तो अग्नि की ही स्तुति प्रतीत होती है। जैसे— "मैं यजमान का पुरोहित यज्ञ के ऋत्विज, रत्नों के जन्मदाता, अग्निदेव की स्तुति करता हूँ।" परन्तु विचार करने पर स्थिति कुछ और समझ में आती हैं, क्योंकि विश्वसाहित्य के सर्वप्रथम मन्त्र में परमात्मा का स्मरण न हो ऐसा सम्भव नहीं है, अतः इस मन्त्र का सूक्ष्मदृष्टि से भगवत्परक अर्थ प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ अग्नि शब्द परमात्मा श्रीराम का ही नाम है। 'अग्रे नीयते इति अग्निः' जो सबसे अग्रसर रहे उसे अग्निः कहते हैं। भगवान् श्रीराम अपने चरित्रों एवं आदर्शों के कारण लोक में सबसे अग्रगण्य हैं और सदैव भक्त उन्हें अपने नेत्रों के सम्मुख ही रखता है। इसलिए वे अग्नि हैं। "अज्यते इति अग्निः" भगवान् भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं। इस पक्ष में इस मन्त्र का अर्थ दूसरे प्रकार से होगा। यहाँ पुरोहितशब्द

भी बहुव्रीहिसमास में होगा। 'पुरस्कृतं भक्तहितं येन सः पुरोहितः' अर्थात् जो भक्त के हित के सामने अपनी तिलाञ्जलि दे डालते हैं वे प्रभु श्रीराम ही पुरोहित हैं। सुग्रीव और विभीषण के हित के सामने अपने हित की तिलांजलि देकर ही प्रभु ने बालि और रावण का वध किया। भगवती श्रुति कहती हैं— अपने हित की तिलांजलि देकर भक्तों का हित करने वाले यज्ञ के ऋत्विज होता अर्थात् करोड़ों अश्वमेघ और वाजपेय यज्ञ करने वाले, रत्न, ग्रैवेय, केयूर, कुण्डल, कंकण आदि रत्नखचित आभूषणों से अलंकृत, ऐसे सर्वश्रेष्ठ मर्यादा पुरुषोत्तम देवाधिदेव श्रीराम की मैं स्तुति करती हूँ। इस प्रकार अग्नि, वायु, सोम, नामों से श्रुति ने भगवान् के नामों का ही स्मरण किया। अब तृतीय व्याख्या— उस परब्रह्म परमात्मा में मेरा मन तल्लीन हो जाय, जहाँ साधन द्वारा परमज्योति प्राप्त होती है और जहाँ प्राणवायु अपने आप रुद्ध हो जाता है। अथवा जहाँ आयु भी रुद्ध हो जाता है अर्थात् जीव को अमरता मिल जाती है और जहाँ अमृत पूर्णरूप से आस्वादित होता है। चतुर्थ व्याख्या भक्ति परक है— साधक कहता है— जहाँ अग्नि स्वरूप परब्रह्म परमात्मा श्रीराम के दर्शन होते हैं, जहाँ वायु के समान संसार के स्पर्श से रहित परमेश्वर भी भक्ति के प्रेम से वश में कर लिए जाते हैं और जहाँ सीतानेत्रचकोरचन्द्र श्रीराम सर्वश्रेष्ठ रूप में पूजित होते हैं, ऐसे श्रीराम की भक्तिभागीरथी में मेरा मन सांसारिक वासनाओं को छोड़ कर नवीनजन्म का जैसा अनुभव कर रहा है॥ श्री॥

इस प्रकार इस मन्त्र की मेरे द्वारा प्रस्तुत की गयी चार व्याख्यायें सुधीजन आदरपूर्वक अवलोकन करें॥ श्री॥

संगति– अब निष्कामभाव से की गयी परमात्मा की आराधना का फल कह रहे हैं॥ श्री॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे नहि ते पूर्वमक्षिपत्॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवती श्रुति कहती है— हे साधक! सबके प्रेरक, सर्वान्तर्यामी, परमात्मा द्वारा दी हुई सत्प्रेरणा से परमात्मा के चरणों में प्रेम करो और उस सनातन ब्रह्म में यदि तुम निष्ठा रखोगे तो पूर्वकृतकर्म तुम्हें बन्धन में नहीं डालेगा अथवा पूर्वकर्म का फल तुम्हें संसार-सागर में नहीं डालेगा॥ श्री॥

व्याख्या– इस मन्त्र को एक और प्रकार से व्याख्यायित किया जा सकता है। इस पक्ष में 'प्र' उपसर्ग से 'सव' शब्द को बहुव्रीहि में समस्त करके उसका प्रकृष्टयाग करने वाला अर्थ किया जायेगा। भगवान् राम ने अनेक राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध आदि श्रौतयज्ञ किये। जैसे— 'अश्वमेधशतैरिष्ट्वा' (बा०रा०बा०– १/९४) ॥ श्री ॥

कोटिन्ह वाजिमेध प्रभु कीन्हें। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हें ॥

—(मानस- ७/२४/१)

इन्द्र ने सौ ही यज्ञ किये थे पर भगवान् राम ने करोड़ों यज्ञ किये इसलिए श्रुति ने उन्हें 'प्रसव' कहा है। इस पक्ष में इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा— सूर्यकुल के भूषण और सबके प्रेरक भगवान् श्रीराम के द्वारा प्रेरित होकर उन्हीं के चरणों में प्रेम करो। जब उन में शरणागतिभाव रखोगे तब परब्रह्म परमात्मा तुम्हें संसारसागर में नहीं डालेंगे। यहाँ व्यत्यय से भविष्यत्काल के अर्थ में भूतकाल हुआ है ॥ श्री ॥

संगति– अब भगवान् के प्रार्थना प्रकार का निर्देश करके उसी के द्वारा ही इस वासनानदी के संतरण का उपाय कहते हैं ॥ श्री ॥

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अपने शरीर के तीन अवयव छाती, गला और सिर को ऊपर करके, शरीर को सिद्धासन के विधि से समान स्थापित करके, मन से नियन्त्रित सभी इन्द्रियों की वृत्तियों को अपने चित्त में निरुद्ध करके, ब्रह्मवेत्ता विद्वान् ब्रह्मरूप नौका से अत्यन्त भय देने वाले सभी विषयों के स्रोतों को पार करने में समर्थ हो सकता है ॥ श्री ॥

व्याख्या– 'त्रिरुन्नतं' शब्द में बाहुलक से 'रुट्' का आगम हुआ है। 'स्थाप्य' यहाँ व्यत्यय से ही सम उपसर्ग का लोप होने से व्यत्यय द्वारा ल्यप् की निवृत्ति नहीं हुई। संस्कृत में बेड़े को ही उडुप कहते हैं। ब्रह्मोडुप का तात्पर्य यह है कि परमेश्वर के चरणकमल की नौका से ही साधक संसारसागर को प्रार कर लेता है। 'ब्रह्मोडुपेन' शब्द में मध्यमपदलोपीसमास होगा। यहाँ भगवान् राम ही ब्रह्म हैं और उनका चरण ही उडुप। 'ब्रह्मण: चरण: उडुपम् इति ब्रह्मोडुपं'। विषयों को स्रोत कहा गया है, जैसे—

स्रोतों से सदैव जल आता रहता है, उसी प्रकार जब शब्दादिविषय संसार में लगे हुए होते हैं, तब उनसे जीव के मन में पाप आता है और जब ये साँवले सरकार में लग जाता है, तब इन से जीव के मन में भगवत्प्रेमप्रवाह आने लगता है। भगवान् के चरणों को श्रीमद्भागवत (१०/२/३९) में नौका कहा गया है। जैसे—

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरंद्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥

देवता कहते हैं— हे प्रभो! संतजन अनन्तकरूणा से परवश होकर इस संसारसागर से स्वयं पार होकर भी, आपके चरणकमलरूप नौका पर सहस्त्रों लोगों को बिठा कर पार कर देते हैं और स्वयं तो पार हो ही चुके हैं, इसीलिए आप संतों पर अनुग्रह करते हैं। इसी दृष्टि से भगवती श्रुति ने यहाँ भगवान् के चरण को उडुप कहा॥ श्री॥

संगति– इस समय भगवान् की प्राप्ति में उपयोगी समाधि के अंग रूप प्राणायाम का वर्णन करते हैं॥ श्री॥

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– साधना से प्रमाद न करता हुआ विद्वान् अपने प्राणवायु को दक्षिण नासिका छिद्र को वन्द करके वाम नासिका छिद्र से पूरक प्रयोग से पूर्ण रूप से भर कर, फिर उसे कुम्भक विधि से यथाशक्ति रोककर, फिर उसे दक्षिण नासिका के छिद्र से रेचक विधि द्वारा स्वांस धीरे-धीरे छोड़ दे। इस प्रकार करने से उसकी सभी चेष्टायें परमात्मा में ही संयुक्त हो जाती हैं। इस प्राणायाम से विद्वान् मन को उसी प्रकार रोक सकता है जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा से जुते हुए लगाम को व्यक्ति हाथ में पकड़ लेता है॥ श्री॥

व्याख्या– कुछ लोग 'वाह' शब्द से वाहन आदि अर्थ लेते हैं वह उपयुक्त नहीं है क्योंकि कठोपनिषद् में मन को लगाम कहा गया है॥ श्री॥

संगति– अब योगाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान का निर्देश करते हैं–

समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– समाधि के लिए समान अर्थात् न अधिक ऊँचे न अधिक नीचे, अत्यन्त पवित्र एवं बड़े-बड़े धूलि के कण, अग्नि एवं बालू से रहित, उत्तेजक शब्द कामोद्दीपक जलाशयों से दूर, मन के लिए अनुकूल तथा नेत्र के लिए उत्तेजक सौन्दर्य से रहित, ऐसे पर्वतगुफा अथवा निवात यानि शून्य वायु रहित स्थान में मन को लगाकर, योगसाधना करनी चाहिए। यही बात भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता अध्याय छः के सातवें श्लोक से बत्तीसहवें श्लोक तक कही है॥श्री॥

संगति– अब सायुज्य से योगियों को साक्षात्कार होने वाले पदार्थों का संग्रह निर्वचन करते हैं॥श्री॥

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥११॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– योग प्रक्रिया में परब्रह्म भगवान् को प्रकट करने के लिए साधक के समक्ष कोहरा, धुवाँ, वायु, अग्नि, जुगुनू उपस्थित होते हैं अर्थात् योगी के नेत्र बन्द करने पर भी पूर्वोक्त आठों में से किसी न किसी रूप की अनुभूति होती रहती है॥श्री॥

संगति– अब योग सिद्धि को प्राप्त हुए साधक की शारीरिकविचित्रता का वर्णन करते हैं॥श्री॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥१२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब साधक योग की चरणसिद्धि को प्राप्त कर लेता है तब पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पाँचों महाभूत उसकी शरीर की मार्यादा से ऊपर उठ जाते हैं। और वह योगाग्निशरीर प्राप्त कर लेता है। फिर न उसके पास वृद्धावस्था आती है और न ही उसे किसी प्रकार के रोग सताते हैं और न ही वह मरता है। यही परिस्थिति श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण के शरीरलीलाविश्राम की है। व्याध

के द्वारा श्रीचरण में प्रहार कर दिये जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने योगाग्निमय शरीर प्राप्त करने के कारण न तो शरीर छोड़ा और न ही उसे भस्म किया, सबके देखते-देखते योग धारणा को प्रकटकर अपने धामस्वरूप श्रीमद्भागवत में प्रविष्ट हो गये। भागवतकार ने कहा भी—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलम्।
योगधारणयाऽग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

—*(भा० ११/३१/६)*

अर्थात् धारणा और ध्यान के लिए मंगलस्वरूप अपने लोकरमणीयविग्रह को अग्निमय योग धारणा से जला कर प्रभु ने अपने धामस्वरूप भागवत में प्रवेश कर लिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत श्रुति अनुमोदित है॥ श्री॥

संगति— अब शरीर पर पड़ने वाले यौगिकक्रिया के प्रभाव का वर्णन करते हैं॥ श्री॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥१३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— अष्टांगयोग के साधन से साधक के शरीर में आठ विशेषताएँ आ जाती हैं। शरीर में लघुता अर्थात् हलकापन, शरीरिक तथा मानिसिक रोगों का अभाव, विषयों में अनासक्ति, मुख के आकार की प्रसन्नता, स्वर में सौष्ठव अर्थात् वाणीकी स्पष्टता, शरीर में सुन्दर गन्ध एवं मलमूत्र की अल्पता, क्योंकि अन्न का सम्यक् पाचन होने से और शरीरिक व्यायाम एवं प्राणायामादि से यह सब सम्भव है॥ श्री॥

संगति— अब बिम्ब के उपमान से परमात्म दर्शन का फल कहते हैं–

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वत्सत्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥१४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— जिस प्रकार से धूल से मलिन दीवार चूने से लिप्त होने से अधिक तेजोमयी होकर चमक उठती है,उसी प्रकार यह जीवात्मा भगवद्भक्तिरूप सुधा (चूने) से राजोगुण के नष्ट कर दिये जाने

पर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्मभावों से ऊपर उठ कर, स्वस्वरूप के चिन्तन से कृतार्थ होकर, अपने परम आराध्य परब्रह्म श्रीराम को प्राप्त करके, वियोगजनित शोक से मुक्त होकर, तेजोमय बन जाता है और चमक उठता है ॥ श्री ॥

व्याख्या– यहाँ व्यत्यय से आत्मनेपद करके 'भवते' शब्द का प्रयोग हुआ है ॥ श्री ॥

संगति– अब श्रुति जीव और ब्रह्म का स्पष्ट भेद कह रही है ॥ श्री ॥

यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस समय दीपक के समान प्रकाशमान अपने आत्मा के तत्व अर्थत् अपने स्वरूपज्ञान से युक्त हुआ साधक, ब्रह्मतत्व अर्थात् परिपूर्णतम परमेश्वर परब्रह्म श्रीराम की यथार्थता को साक्षात्कार कर लेता है, उसी समय वह जीवात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियतत्वों से विशुद्ध परमात्मा श्रीराम को अपने स्वामी के रूप में जान कर सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है ॥ श्री ॥

व्याख्या– इस श्रुति में आत्मतत्व के लिए तृतीया और ब्रह्मतत्व के लिए द्वितीया का प्रयोग करके, द्रष्टा और दृष्टि को प्रथमा और द्वितीया में प्रयुक्त करके, जीव और ब्रह्म का भेद बहुत ही खुले शब्दों में कर दिया है ॥ श्री ॥

संगति– अब जीवात्मा के दर्शन की इच्छा के विषयरूप परमात्मा की सर्वव्यापकता का वर्णन करते हैं ॥ श्री ॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह सगुणसाकार भगवान् सम्पूर्ण दिशाओं विदिशाओं में व्याप्त हैं, उसी परमात्मा ने श्रीराम कृष्ण आदि रूपों में जन्म

लिया और वे ही श्री कौशल्या आदि माताओं के गर्भ में विराजते हैं, वे जन्मे अर्थात् श्रीराम आदि रूप में प्रकट हुए और वे ही कल्कि आदि रूपों में भविष्य में प्रकट होने वाले हैं, वही परमात्मा भावुकभक्तों के सामने प्रत्यक्षरूप में विराजते हैं॥ श्री॥

व्याख्या– इस श्रुति में अवतारवाद की स्पष्ट व्याख्या है। प्रभु के भूत एवं भविष्यत् अवतारों का संकेत इस बात का स्पष्ट संकेत है कि ऋग्वेद से लेकर हनुमानचालीसा पर्यन्त प्रत्येक सद्ग्रन्थ श्रौत ही है॥ श्री॥

संगति– अब इस अध्याय को समापत करते हुए सर्वव्यापी परमात्मा को नमस्कार निवेदित कर रहे हैं॥ श्री॥

यो देवो अग्नौ य अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥१७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो परब्रह्म परमात्मा तेज रूप से अग्नि में विराजते हैं, जो रसरूप से जल में विद्यमान हैं, जो पोषणरूप से ओषधियों में तथा वर्धनरूप से वनस्पतियों में विराजते हैं, उन देवाधिदेव परब्रह्म परमात्मा श्रीराम को नित्य ही नमस्कार हो॥ श्री॥

व्याख्या– इस श्रुति में 'नित्य वीप्सयोः' सूत्र से नित्य के अर्थ में द्वित्व हुआ है॥ श्री॥

इति श्रीश्वेताश्वत उपनिषद् के द्वितीय अध्याय पर श्रीतुलसीपीठाधीश्वर
रामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ।

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

●

।। अथ तृतीयअध्याय ।।

सम्बन्ध– परमात्मा आनन्द स्वरूप हैं, जैसे मिस्री का बार-बार आस्वादन करने पर भी उस से अरुचि नहीं होती तथा जैसे बार-बार चूसने पर भी आम्रफल से वितृष्णा नहीं होती, उसी प्रकार सतत् गाते रहने पर भी श्रुति परमात्मा के गुणागान से तृप्त नहीं होतीं। इसलिए वेदव्यास जी ने भी ब्रह्मसूत्र में कहा है कि— 'चूँकि ब्रह्म का बार-बार अभ्यास किया जाता है इसलिए वह आनन्दमय है।' 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्रह्मसूत्र- १/१/१३) ।। श्री ।।

अत: श्रुति द्वितीय अध्याय में अभ्यस्त होने पर भी फिर तृतीय अध्याय में भगवान् के लोकोत्तर गुणों का गान करती है ।। श्री ।।

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो परमात्मा एकमात्र अपनी योगमाया शक्ति से सबका शासन करते हैं, जो जगत् का जाल धारण करते हैं, जो अपनी ब्रह्मा, विष्णु एवं रूद्र शक्तियों द्वारा जगत् के जन्म, पालन और संहार के कारण हैं, ऐसे परमात्मा को जो जान लेते हैं, वे मरण धर्म रहित हो जाते हैं अर्थात् वे भगवान् के नित्यसेवक बन जाते हैं ।। श्री ।।

व्याख्या– 'जालवान्' शब्द में निन्दा के अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है। प्रथम ईशनी शब्द का अर्थ है योगमाया और द्वितीय का ब्रह्मविष्णु-शक्तिरूप अर्थ है। अमृत का तात्पर्य यह है कि— जब साधक भगवान् को अपने स्वामी के रूप में समझ लेता है, तब उसे भगवत् सेवा का सौभाग्य मिल जाता है। इसके अनन्तर वह प्रभु की सेवा के लिए उपयुक्त दिव्यशरीर प्राप्त कर लेता है और मरणधर्म से रहित हो जाता है ।। श्री ।।

संगति– फिर भगवती श्रुति पूर्वोक्त परमात्मा की सर्वव्यापकता का बहुत समारोह से प्रतिपादन कर रही हैं। जैसे कोई कुलांगना महिला आदरातिशय के कारण अपने पति की बार-बार प्रशंसा करती है, उसी प्रकार भगवती श्रुति भी आनन्दातिरेक से अपने प्राणवल्लभ परमात्मा की प्रशंसा करतीं

नहीं अघा रही है ॥ श्री ॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– आनन्दकन्द परमात्मा अपने भक्तों के हृदयों के विकारों को नष्ट कर देते हैं और आसुरी वृत्ति के लोगों को रुलाते हैं। उनके अतिरिक्त कोई नहीं है और वे परमात्मा अपने समान किसी द्वितीय को बना भी नहीं सकते। जो अपनी अघटितघटनापटीयसी योगमाया शक्ति से सम्पूर्ण जीवों पर अनुशासन करते हैं, वे ही परमात्मा सत्यलोक पर्यन्त सभी चौदहों भुवनों को ब्रह्मरूप से रच कर, विश्वरूप से पालन करके, अन्त में शिवरूप से उसका संहार कर देते हैं और वही अपने भक्तों के समक्ष विराजमान होकर उन्हें नयनानन्द का दान भी देते हैं ॥ श्री ॥

दूरहि ते देखे दोऊ भ्राता । नयनानन्द दान के दाता ॥

संगति– अब भगवती श्रुति फिर से परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता का ध्यान कर रही है ॥ श्री ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस मन्त्र में दो प्रकार की विचारधारा के कारण दो प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। प्राचीन आचार्यों के मत में भगवान् सर्वरूप होने के कारण सभी के नेत्रों से देखते हैं, सभी के मुखों से भोजन करते हैं, सभी की पूजाओं से ग्रहण करते हैं, सभी के चरणों से चलते हैं। उन्होंने ही पृथ्वी, आकाश को जन्म दिया है, वे ही मनुष्यों की भुजा को सामर्थ्य से युक्त करते हैं और पक्षियों को पंखों से। परन्तु नव्य अर्थात् मेरा यहाँ एक अतिरिक्त पक्ष भी है। श्रुतियों और पुराणों ने बहुशः विराटरूप में प्रस्तुत किया है। जैसे– 'सहस्रशीर्षः पुरुषः' पुराणों में—

नमोस्त्वन्ताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः ।।

इस दृष्टि से भगवान् के पास सब ओर नेत्र हैं, सभी दिशाओं में भगवान् के मुखारविन्द हैं, भगवान् सभी ओर से असंख्य भुजाओं वाले हैं, सर्वत्र भगवान् के चरण हैं, ऐसे होने पर भी भगवान् अवतारकाल में अपनी दोनों भुजाओं से चलाते हुए बाणों द्वारा रावण आदि क्रूर राक्षसों का वध कर देते हैं। यहाँ 'पतत्र' शब्द बाण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ श्रुति गहनतम ब्रह्मविचार में द्विभुजब्रह्म की श्रेष्ठता को स्वीकार रही है ।। श्री ।।

संगति– अब श्रुति के माध्यम से साधक परमात्मा के लोकोत्तर ऐश्वर्य का स्मरण करता हुआ उन्हीं से प्रार्थना करता है ।। श्री ।।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो परमात्मा सम्पूर्ण देवताओं को सामर्थ्य देते हैं, जो देवताओं के उत्पत्तिस्थान भी हैं, जो सारे संसार के स्वामी भी हैं, जो अपने प्रेम में रुदन करने वाले भक्तों को सब कुछ दे डालते हैं और जिन्होंने पूर्व में ही हिरण्यगर्भ चतुर्मुख ब्रह्मा को उत्पन्न किया था, वे ही परमेश्वर हमे शुद्ध बुद्धि से युक्त कर दें क्योंकि वे महान् ऋषि और महापुरुषों को कृतार्थ करने के लिए दर्शन देने हेतु, उनके पास स्वयं ही पधार जाते हैं ।। श्री ।।

व्याख्या– सभी देवता भगवान् से ही शक्ति पाते हैं। भागवत के तृतीयस्कन्ध के छठें अध्याय में यह बात स्पष्ट कही गयी है कि— जब भगवान् ने तेइस देवताओं की रचना की तब वे अपने-अपने कार्य में समर्थ नहीं हो पाये और उन्होंने भगवान् की स्तुति की, तब भगवान् ने प्रत्येक शरीर में उन देवताओं के साथ अपने अन्तर्यामी स्वरूप से प्रवेश किया फिर तो देवता अपने-अपने कार्य में लग गये। उन्हीं परमात्मा के नाभिकमल से चतुर्मुख ब्रह्मा का प्राकट्य हुआ। इसीलिए श्रुति ने कहा— "हिरण्यगर्भं जनयामास" ।। श्री ।।

संगति– अब दो मन्त्रों से दुष्टों का दमन करने के लिए रौद्ररूप को प्राप्त हुए परमात्मा का अनुनय किया जा रहा है॥ श्री॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे रुद्र! दुष्टों को दण्ड देकर रुलाने वाले, हे! कैलाश पर्वत पर विराजमान रहकर भक्तों का कल्याण करने वाले भगवान् शंकर! आप की जो अतिसौम्य गंगातरंगरमणीयजटाकलापमण्डित पार्वती, फणीन्द्र, बालचन्द्र, भस्म, मन्दारमालासमलंकृत, काममदमर्दिनी, मुण्डमालधारिणी समस्त पापनाशिनी मधुरमूर्ति है उसी कोटि-कोटि चन्द्रमयूखमञ्जु दक्षिणामूर्ति से आप मेरे नेत्रों के समक्ष सुशोभित हों॥ श्री॥

व्याख्या– इस मंत्र को श्रीराम परक लीला में भी घटाया जा सकता है। रावण को मारने के अनन्तर अत्यन्त उग्र हुए श्रीराम को शान्त करते हुए महर्षिगण प्रार्थना करते हैं— हे रुद्र! शत्रुओं की विधवाओं को रुलाने वाले, हे गिरिशन्त। चित्रकूट गिरि पर विराजमान होकर भक्तों का कल्याण करने वाले तथा गिरिकानन वासियों को असमूर्ध्व आनन्द देने वाले लोकाभिराम श्रीराम! आपकी जो अतिसौम्य नीरसरोरुहश्याम नीलनीरधरश्याम, नीलदूर्वादलश्याम, लोकलोचनाभिराम मधुरमनोहर मूर्ति है उसी कोटि-कोटि कन्दर्पकमनीय मुनिजनमननीय कल्याणमयी मूर्ति से आप हमारे नेत्रों के विषय बन जाय॥ श्री॥

संगति– उसी विषय को स्पष्ट करती हुई भगवती श्रुति फिर कहती हैं॥ श्री॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु माहिँ्सीः पुरुषं जगत्॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे रुद्र! परम भयंकर। हे कैलाश पर्वत से कल्याण की वर्षा करने वाले भगवान् शिव! आप शत्रुओं पर प्रहार करने के लिए जिस बाण और धनुष को धारण करते हैं, हे पर्वत निवासियों के रक्षक। उसे शान्त कर लें और पुरुषार्थवादी जगत् को आप न मारें॥ श्री॥

व्याख्या– अब इस मन्त्र की श्रीराम परक व्याख्या देखिये। लोकरावण रावण वध के अनन्तर ऋषिगण कहते हैं— हे रौद्र कर्मा। हे चित्रकूट पर्वत पर कल्याण की वर्षा करने वाले लोकाभिराम श्रीराम! शत्रुओं पर प्रहार करने के लिए जिस धनुष बाण को धारण करते हैं, उसे शान्त कर लीजिए हे परमात्मन्। उसे शान्त कर लीजिए और जगत् के निर्दोष पुरुष राक्षसों की हत्या न कीजिए ॥ श्री ॥

संगति– अब साधक फिर भगवान् की प्रार्थना करता है ॥ श्री ॥

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार प्रार्थना के अनन्तर सबसे श्रेष्ठ, सबसे बड़े एवं शरीरों के अनुसार सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय गुफा में छिपे हुए, अद्वितीय, अपनी महिमा से सारे संसार को आवृत्त करने वाले, ऐसे सर्वसमर्थ देवाधिदेव परमात्मा को जान कर साधकजन मर्मधर्म से रहित होकर भगवान् के नित्य उपासक हो जाते हैं ॥ श्री ॥

संगति– अब भगवान् की शरण की इच्छा करने वाले साधकों के हृदयों में दृढ़ विश्वास उत्पन्न करने के लिए श्रुति कहती हैं—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवती श्रुति कहती है— मैं (श्रुति) इन अद्वितीय सूर्य के समान कांति वाले, मोह अन्धकार से परे, सबके शरीर में अन्तर्यामी रूप से विराजमान, जगद्वन्दनीय परमात्मा को जानती हूँ। उन्हीं परमात्मा को अपने स्वामी के रूप में जान कर साधक मरणधर्म को प्राप्त कर लेता है और जन्म-मृत्यु से रहित दिव्य साकेत, गोलोक आदि को प्राप्त कर लेता है। महात्म्यज्ञानपूर्वक भगवत्प्राप्ति से अतिरिक्त भगवान् को प्राप्त करने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं हैं ॥ श्री ॥

व्याख्या– अब इस मन्त्र की श्रीरामपरक व्याख्या देखिए— भगवती श्रुति कहती हैं कि— मैं 'एतं' भक्तकल्याण के लिए इस भूतल पर अवतीर्ण

हुए, 'पुरुषं महन्तं' परमवन्दनीय मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम को जानती हूँ, जो मनुशतरुपा को दिये हुए वरदान के अनुसार सूर्यकुल में प्रकट हुए। 'आदित्यवर्णं' जिन्होंने अपने यश से सूर्य की ख्याति बढ़ायी और जो स्वयं सूर्यमण्डल में विराजमान होकर देवता और असुरों द्वारा वर्णित हुए तथा रामरावणयुद्ध के प्रसंग में अगस्त्य द्वारा उपदिष्ट आदित्यहृदय का पाठ कर जिन्होंने स्वयं आदित्य का वर्णन किया, ऐसे 'तमसः परस्तात्' तमसा नदी के उस पार विराजमान उन परमात्मा श्रीराम को जान कर ही साधक जन्ममरण से मुक्त हो कर साकेतलोक को प्राप्त कर सकता है। भगवत्प्राप्ति का इससे अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है॥ श्री॥

संगति– परमेश्वर परमानन्द स्वरूप हैं और वही प्राणिमात्र की परमममता के केन्द्र हैं। इसलिए श्रुति अपने प्राणेश्वर परमात्मा की व्यापकता का फिर अभ्यास कर रही है॥ श्री॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिन परमात्मा की सत्ता से निरपेक्ष होकर कोई दूसरी वस्तु नहीं है, जिन से कोई वस्तु अधिक नहीं है, इस संसार में जिनसे अधिक कोई छोटा नहीं है और जिनसे अधिक कोई बड़ा नहीं है, ऐसे परमात्मा एकमात्र अद्वितीय हैं। वे वृक्ष के समान अचल तथा भक्ति की प्रेमरस्सी से बँधकर कटहल के वृक्ष की भाँति अपने रोमराजियों से कंटकित शरीर हो जाते हैं, वे भगवती सीता जी के साथ श्रीसाकेतलोक में सदैव विराजते हैं और उन्हीं सर्वव्यापी पुराणपुरुषोत्तम से यह सम्पूर्ण चिदचिदात्मक जगत् पूर्ण है॥ श्री॥

संगति– अब ब्रह्म की जगत् से विलक्षणता और उसके न जानने से होने वाले दुष्परिणाम का वर्णन करते हैं॥ श्री॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियान्ति॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस स्थूल जगत् से जो विलक्षण है वह लोकोत्तर है। वह ब्रह्म अरुप अर्थात् अव्यक्त रूप वाला है। ब्रह्म के पास

रूप है परन्तु वह सांसारिक नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। इसीलिए (गीता- ११/८) में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से भी कहा कि— तुम मुझे इन नेत्रों से नहीं देख सकते। इसलिए तुम्हें मैं दिव्य नेत्र दे रहा हूँ। (कठ०- १/३/१२) में भी कहा गया कि— 'भगवान् प्रत्येक शरीर में रूपवान होकर ही रहते हैं।' अतः 'अरूपं' शब्द का अर्थ रूपरहित नहीं किया जा सकता। भगवान् अनामय हैं, क्योंकि उनमें कोई भी आमय अर्थात् भवरोग नहीं है और राम रावण के शस्त्र प्रहारों से भी प्रभु में कोई आमय अर्थात् व्रण नहीं हुआ। इसीलिए (मानस- ६/१०७/९) में भगवती सीता जी से हनुमान जी कहते हैं— 'पश्यामि राममनामयम्'। ऐसे ब्रह्म को जो जानते हैं वे मृत्यु शरीर से ऊपर उठ कर दिव्यशरीर प्राप्त करते हैं तथा परमात्मा के नित्यपरिकर बन जाते हैं। जो प्रभु को नहीं जानते वे संसारसागर में गोते लगाते हुए सदैव दुःख ही भोगते रहते हैं।। श्री ।।

संगति– अब श्रुति भगवती सभी लोगों के संदेह को दूर करने के लिए भगवान् के सगुण साकार स्वरूप का निर्वचन प्रारम्भ करती हैं। कदाचित् किसी को यह भ्रम न हो जाय कि— भगवान् शब्द वैदिक प्रयोग नहीं है। अतः यहाँ श्रुति कण्ठतः भगवान् शब्द का उच्चारण करती हैं।। श्री ।।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वत्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यहाँ 'तत्मात्' शब्द हेतु का अनुवादक है क्योंकि भगवान् लोकोत्तर अव्यक्तरूप और अनामय हैं, इसीलिए वे सब ओर से मुख, सिर एवं कण्ठ वाले हैं। अर्थात् उन विराट प्रभु के असंख्य मुख, सिर एवं ग्रीवाएँ सभी ओर व्याप्त हैं। वे परमेश्वर सभी प्राणियों की हृदयगुफा में शयन करते हैं। वे सर्वव्यापक अर्थात् अपने में सबको व्याप्त करने वाले तथा सर्वगत अर्थात् सबमें व्याप्त भी हैं। परमेश्वर शिव अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं। सभी हेयगुणप्रत्यनीक कल्याणगुणगण परमात्मा में सदैव रहते हैं। परमेश्वर भगवान् हैं। विष्णुपुराण में भगवान् शब्द का तीन श्लोकों से बड़ा मधुर निर्वचन किया गया है।। श्री ।।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।।१।।

उत्पत्तिञ्च विनाशञ्च भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ।।२।।

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्याण्यशेषतः ।
विना हेयगुणैर्यत्र तमाहुर्भगवानिति ।।३।।

अर्थात् जिनमें निरन्तर सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य नित्यभाव से विराजते हैं, वे महाविष्णु श्रीराम ही भगवान् हैं। जो जीवों की उत्पत्ति, विनाश, गति, दुर्गति, विद्या तथा अविद्या को जानते हैं वे परमेश्वर ही भगवान् कहे गये हैं। हेयगुणों को छोड़ कर सम्पूर्ण रूप से ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज और वीर्य जिनमें निरन्तर विराजते हैं उन्हीं महाविष्णु प्रभु श्रीराम, श्रीकृष्ण को श्रुति, स्मृति, इतिहास पुराणों में भगवान् कहा गया है। यहाँ नित्ययोग में मतुप् प्रत्यय हुआ है। इसका अर्थ यह है कि ऐश्वर्य आदिगुण भगवान् को कभी छोड़ते ही नहीं। इन सद्गुणों को भगवान् कदाचित् छोड़ना भी चाहें तो इसको भगवान् के अतिरिक्त और जाना ही कहाँ है। इसलिए भागवत के प्रथमस्कन्ध के सोलहवें अध्याय में पृथ्वी धर्म से कहती हैं कि— "सत्य आदि सभी गुण भगवान् में निरन्तर विराजमान रहते हैं। ये लोगों के बुलाने पर भी परमेश्वर को छोड़ कर कभी भी कहीं नहीं जाते।" नित्ययोग में मतुप् प्रत्यय का संकेत यही है कि— भगवान् का अगुणत्वपक्ष पूर्णरूप से अशास्त्रीय है, नहीं तो सर्वज्ञ शिरोमणि शेषावतार भगवान् पतंजलि नित्ययोग में मतुप् प्रत्यय का विधान करते ही क्यों? यदि कहें कि मायामय होने से यहाँ निन्दा में मतुप् प्रत्यय हुआ होगा। गुण तो माया के होते हैं 'दैवी ह्येषा गुणमयी' (गीता- ७/१४), तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रस्तुतप्रकरण में कहीं भी परमेश्वर की निन्दा का प्रस्ताव देखने को नहीं मिलता। इस मन्त्र में प्रयुक्त 'तस्मात्' शब्द सर्वनाम होने से पूर्वप्रसंग का अनुवादक है और पंचम्यन्त होने से हेतु का। सौभाग्य से इस मन्त्र के पूर्व अर्थात् (श्वे०उ०- ३/१०) में जिसे हेतु और पूर्व

भावुकता का गौरव प्राप्त है, एक भी अक्षर परमेश्वर की निन्दा का संकेत नहीं करता है इसलिए यहाँ प्राशस्त्य और नित्ययोग में ही मतुप् प्रत्यय का विधान है। क्या निर्गुणवादियों की मनीषा भगवान् पतंजलि की बुद्धि से अधिक है ? इसलिए परमात्मा का सगुणपक्ष ही श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास अनुमोदित है और यही सनातनधर्मावलम्बियों को मान्य भी है। वस्तुतः माया के सत्व, रज, तम ये तीन ही गुण हैं, इसलिए (गीता- १४/५) में भगवान् ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा कि— हे अर्जुन! सत्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण प्रकृति अर्थात् माया से ही उत्पन्न हुए हैं। सौभाग्य से शास्त्र ने इन तीनों गुणों को हेय अर्थात् छोड़ने योग्य कहा है। क्योंकि ये सर्वथा बन्धनमुक्त रहने वाले जीवात्मा को बाँध लेते हैं। 'सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः, निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् (गीता- १४/५)। जबकि भगवान् शब्द की व्याख्या करते समय वेदव्यास के पिता पराशर ने पहले ही कह दिया है कि— हेय गुणों को छोड़ कर ही ज्ञानादि गुण परमात्मा में विराजते हैं इसीलिए वे भगवान् कहे गये। वात्सल्यादि गुण जीव को बन्धन में नहीं प्रत्युत् भवसागर में से उसे निकाल देते हैं। जैसे— चोर को बाँधने के काम में भी रस्सी आती है, पर वही कुएँ में पड़े हुए के काम में भी ली जाती है।। श्री।।

संगति– श्रुति को परमात्मा के प्रति बहुत आदर है इसलिए वे फिर अपने प्रभु की प्रशंसा करती हैं।। श्री।।

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वे परमात्मा महान् अर्थात् सबके पूजनीय, परमेश्वर अर्थात् सर्वसमर्थ हैं। वे ही पुराणपुरुष तथा भक्तों के अन्तःकरण के प्रेरक हैं। वे सबके शासक ज्योतिस्वरूप एवं अविनाशी हैं। इस प्रकार परमात्मा की अत्यन्त निर्मल सद्गुणों की प्राप्ति अथवा सर्वव्यापकता का सन्त वर्णन करते हैं।। श्री।।

संगति– अब जन साधारण को समझाने के लिए भगवती श्रुति प्राणियों के हृदय में भगवान् के आकार का निर्धारण करती हैं।। श्री।।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।१३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अनन्त पौरुष सम्पन्न भगवान्, जो कि स्मरण करने मात्र से भक्तों के समीप आ जाते हैं, सदैव मनुष्यों के नाभि से दस अंगुल ऊपर हृदय देश में हाथ के अँगूठे के समान आकार धारण करके विराजमान रहते हैं और वे सम्पूर्ण मनुवों के तथा सम्पूर्ण मन्त्रों के ईश्वर हैं। मन के सात्विक संकल्प एवं चित्त के निर्मल चिन्तन से जीव द्वारा अपने स्वामी के रूप में निश्चित किये जाते हैं, जो इस प्रकार परमात्मा को जानते हैं, वे मरण से मुक्त होकर भगवान् के नित्य परिकर बन जाते हैं।। श्री ।।

संगति– अब भगवती श्रुति ब्रह्म के विराट्रूप का निर्वचन करती हैं।। श्री ।।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह पुराण पुरुषोत्तम परमात्मा सहस्रशिरों से युक्त हैं, इन प्रभु के पास सहस्रों नेत्र हैं। परमेश्वर सहस्रचरण वाले हैं, वे सब ओर से भूमि से उपलक्षित ब्रह्माण्डों को व्याप्त करके नाभि से दस अंगुल ऊपर सबके हृदय में विराजमान रहते हैं।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ सहस्रशब्द अनेक का वाचक है क्योंकि सहस्रशीर्षा कहने के पश्चात् सहस्राक्षः कहने से दोष यह आयेगा कि— क्या भगवान् के प्रत्येक शिर में एक ही एक आँख होगी। इसीलिए यहाँ सहस्र का अनन्त अर्थ करना पड़ेगा। अर्थात् अनन्त शिरों, अनन्त नेत्रों, अनन्त चरणों से युक्त वे भगवान् समस्त विश्व को अपनी योगमाया से वृत्त करके स्वयं नाभि से दस अंगुल ऊपर हृदय में और भक्तों के समक्ष दस अंगुल के प्रमाण वाले छोटे से बालक के रूप में विराजते हैं।। श्री ।।

संगति– अब प्रश्न करते हैं कि— इस सविशेष ब्रह्म में जगत् कहाँ रहता होगा। इस पर भगवती श्रुति कहती हैं—

पुरुष एवेद ँ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।१५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस संसार में जो कुछ हो चुका है, जो होने वाला है और जो अन्य अर्थात् भोजनीय पदार्थों से अतिरोहित यानि जो वर्तमान में जीवित रह रहा है वह त्रिकालावच्छिन्न जीव-जगत्, पुरुष का अर्थात् परमेश्वर का अंश ही है। वे परमेश्वर अमृतत्व अर्थात् मोक्षभाव के भी शासक हैं।। श्री ।।

व्याख्या– 'पुरुष एव' शब्द में तीन प्रकार से व्याख्या सम्भव है। १. 'पुरुषः एव' यह जगत् पुरुष ही है अर्थात् पुरुष का शरीर है। यहाँ शरीरशरीरिभाव के कारण पुरुषः इदं इस प्रकार समानविभक्ति का प्रयोग हुआ है। २. 'पुरुषस्य इदं' यह जीव-जगत् पुरुष का है। यहाँ सुपां सुलुक् (पा०आ०- ७/३/३९) सूत्र से ङस् को सु आदेश हो गया है। ३. 'पुरुषे एव' इस सप्तम्यन्तविग्रह में 'अय्' आदेश और 'लोपः साकल्यस्य' से य् का लोप हुआ। अर्थात् यह संसार पुरुष में है। भगवान् अमृतत्व के भी ईशान अर्थात् शासक हैं। श्री रामरावणयुद्ध के अनन्तर प्रभु के आदेश से इन्द्र ने अमृत की वर्षा की, यद्यपि वह अमृत वर्षा दोनों दलों पर हुई परन्तु अमृतत्व पर परमात्मा का शासन होने से वानर जिये राक्षस नहीं।। श्री ।।

सुधा वृष्टि भै दोउ दल ऊपर। जिए भालु कपि नहि रजनीचर ।।

—(मानस- ६/११४/७)

इस प्रकार अमृत और विष सब पर परमात्मा का शासन है।। श्री ।।

संगति– भगवती श्रुति निराकारवाद का खण्डन करती हुई फिर सगुण साकार के स्वरूप का वर्णन करती हैं।। श्री ।।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह परमात्मा सब ओर से हाथ, चरण वाले एवं सब ओर से नेत्र, सिर एवं ग्रीवा वाले हैं। उनके पास सब ओर से सुन्दर श्रवणेन्द्रिय हैं, वे लोक में सम्पूर्ण चराचर को अपनी महिमा से

आवृत्त करके साकेतलोक में अखण्ड ऐश्वर्य के साथ विराजमान हैं। यहाँ आद्यादित्वात् सप्तमी के अर्थ में तस् प्रत्यय हुआ है। यही पूरा का पूरा श्लोक (गीता- १३/१३) में यथावत् ज्यों का त्यों उद्धृत हुआ है॥ श्री॥

सुगति– श्रुति फिर उसी अर्थ का अभ्यास करती हैं॥ श्री॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥१७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवती श्रुति कहती है— जिनमें सभी इन्द्रियों के गुणों की प्रतीति होती है, जो सभी इन्द्रियों से रहित हैं, जो सबके स्वामी तथा सबके शासक हैं, जो सबके शरणदाता, रक्षक और विशाल निवास स्थान है, ऐसे अत्यन्त बृहत् परमब्रह्म परमेश्वर को मैं जानती हूँ॥ श्री॥

संगति– अब प्रश्न है कि— इतनी महिमा से सम्पन्न परमात्मा हमारे शरीर में कैसे रहते होंगे ? इसका समाधान करती हुई श्रुति कहती हैं॥ श्री॥

नवद्वारे पुरे देही ह ँ्‌ सो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥१८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो सम्पूर्ण लोक तथा जड़-चेतन प्राणि वर्ग के नियन्ता हैं, ऐसे परमात्मा हंसपक्षी की भाँति नेत्र आदि नव द्वारों वाले शरीर में और इस शरीर के बाहर भी सगुण साकार विग्रह से खेल रहे हैं॥ श्री॥

संगति– फिर श्रुति ब्रह्म की विलक्षणता का वर्णन करती हैं॥ श्री॥

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥१९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह परमात्मा प्राकृतिक हस्तचरणों की अपेक्षा किये बिना ही अत्यन्त वेग से चल लेते हैं और सब कुछ ग्रहण कर लेते हैं। वे नेत्र इन्द्रिय का व्यापार किये बिना ही सब कुछ देख लेते हैं और कर्णेन्द्रिय का प्रयोग किये बिना ही सब कुछ सुन लेते हैं। वे जानने योग्य सभी वस्तुओं को जान लेते हैं परन्तु उन्हें पूर्ण रूप से कोई नहीं जानता। उन्हीं महाविष्णु परमेश्वर श्रीराम को महर्षि लोग वन्दनीय पुरुष कहते हैं॥ श्री॥

व्याख्या– 'जवन' शब्द का अर्थ है वेगवान्। यहाँ 'जव' शब्द से मत्वर्थीय 'न्' प्रत्यय हुआ। यहाँ इस बात का बहुत ध्यान रखना चाहिए कि इस मंत्र में तीन नञ् घटित शब्दों का प्रयोग हुआ है— "अपाणिपादः, अचक्षुः अकर्णः" इनके विग्रहों में यदि नञ् अर्थ का प्रयोग होगा तब तो बहुत बड़ा श्रुति का विरोध हो जायेगा। क्योंकि 'न विद्यते पाणिपादचक्षुकर्णाः यस्य' अर्थात् 'जिनके पास हाथ, चरण, नेत्र, कान नहीं हैं वे अपाणिपाद अचक्षु और अकर्ण हैं' इस प्रकार अर्थ करने से पहले कही हुई— 'सहस्रशीर्षा पुरुष; सहस्राक्षः सहस्रपात्' (श्वे०उ०– ३/१४) श्रुति की संगति कैसे लगेगी। इसलिए इन तीनों शब्दों में नञ्घटितमध्यमपदलोपी बहुव्रीहि करना चाहिए। इस दृष्टि से यहाँ विग्रह देखिये– 'अनपेक्षं पाणिपादं यस्य स अपाणिपाद; अनपेक्षाणि चक्षूंषि यस्य स अचक्षुः, अनपेक्षाणि कर्णानि यस्य सः अकर्णः' अर्थात् भगवान् को हस्त, श्रवण, चरण आदि इन्द्रियों की कोई आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियों को स्वयं भगवान् की आवश्यकता है। वस्तुतः भक्तों को आनन्द देने के लिए ही इन इन्द्रियों को भगवान् स्वीकारते हैं। भगवान् मुख के बिना भी भोजन कर सकते हैं परन्तु उन्हें मुखारविन्द से भोजन करते देख भक्तों को सुख मिलता है। मानसकार भी कहते हैं—

बिनु पग चलइ सुनई बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी।।
तन बिन परस नयन बिनु देखा। गहइ घ्रान बिनु वास असेसा।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाई नहि बरनी।।

—(मानस बा०- ११८/५,६,७,८)

संगति– अब भगवती श्रुति भगवान् की विलक्षणता का प्रतिपादन करके परमात्मा के दर्शन में परमात्मा की कृपा को साधन रूप में स्वीकार रही हैं।। श्री।।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्।।२०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यद्यपि यह मंत्र कठोपनिषद में भी आया है परन्तु यहाँ कुछ परिवर्तनों के साथ उपस्थित है। जो परमात्मा भक्तों के

लिए अणु से अणु है, ज्ञानियों के लिए ज्ञानियों से भी महान् है, जो इस जीवात्मा के हृदयगुफा में अन्तर्यामी रूप से सदैव वर्तमान रहते हैं, उन सर्वसद्‌गुणनिलय परमेश्वर महाविष्णु श्रीराम को और उनकी महनीय महिमा को उन्हीं प्रभु की कृपा से संसार के संकल्पों से रहित तथा सांसारिक शोक से मुक्त हुआ साधक ही अपने नेत्रों का विषय बना सकता। अर्थात् जब तक परमात्मा नहीं चाहते तब तक जीव परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता ।। श्री ।।

संगति– अब श्रुति अधिकार पूर्वक परमेश्वर के विषय में अपने ज्ञान की प्रतिज्ञा करती हैं ।। श्री ।।

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ।।२१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवती श्रुति कहती हैं कि— मैं परमेश्वर की पत्नी हूँ इसलिए उस सामर्थ्य से, अनन्तपौरुषसम्पन्न सर्वव्यापक सभी जीवात्माओं के आधारभूत, जरामरणरहित, इस पुराणपुरुषोत्तम परमात्मा को जानती हूँ। इन परमात्मा के जन्म का अभाव तो लोग प्रवादरूप में कहते हैं, अर्थात् असत्य कहते हैं। सर्वसमर्थ होने पर भी परमात्मा भक्तों के लिए अवतार लेते हैं। उन परमात्मा को ब्रह्मवादी प्रकृष्टवाणी में नित्य कहते हैं।

इति श्रीश्वेताश्वत उपनिषद् के तृतीय अध्याय पर श्रीतुलसीपीठाधीश्वर
रामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। अथ चतुर्थअध्याय ।।

सम्बन्ध– 'देवता प्रार्थना करने से द्रवित होते हैं' इस सिद्धान्त के अनुसार तृतीय अध्याय में वर्णन होने पर भी फिर से चतुर्थ अध्याय में बाइस मंत्रों से उन्हीं आर्तबन्धु, करुणासिन्धु, परमात्मा की श्रुति प्रार्थना कर रही हैं। यदि कहें कि निर्गुण-सगुण भेद से परमात्मा दो प्रकार के हैं और दोनों के लिए श्रुतियों में उदाहरण विद्यमान हैं। (कठ०- १/३/१५) में ब्रह्म को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रहित बताया गया और (श्वेताश्वतर- ३/१६) में परमात्मा को सर्वावयवसम्पन्न सगुण कहा गया है। चूँकि सगुण ब्रह्म के पास श्रवणेन्द्रिय है इसलिये वहाँ तो प्रार्थना संगत हो जाती है परन्तु निर्गुण ब्रह्म के पास रूप न होने के कारण वहाँ प्रार्थना कैसे संगत होगी ? तो इसका उत्तर यह है— भगवान् प्राकृतश्रवण न होने पर भी सब कुछ सुन लेते हैं, इसीलिए भगवती श्रुति कहती हैं— 'सः शृणोत्यकर्णः' परमात्मा बिना कान के ही सुन लेते हैं। वास्तव में तो सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है। एक ही भगवान् के गुण अनन्त हैं, उन सभी को एक काल में प्रकट करना सम्भव नहीं है। अतः प्रकट किये हुए गुणों की अपेक्षा भगवान् को सगुण कहा जाता है और जिन गुणों को भगवान् अनुपयोगी जान कर तिरोहित कर लेते हैं, उनकी अपेक्षा से भगवान् को उसी समय निर्गुण कहा जाता है। इसीलिए मानसबालकाण्ड में श्री गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

अगुनहि सगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुराण बुध वेदा ।।
जो गुण रहित सगुन सो कैसे। जल हिम उपल विलग नहि जैसे ।।

—(मानस- १/११६/१, २)

अत एव यहाँ भगवान् की प्रार्थना पूर्णसंगत है ।। श्री ।।

च एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो परमात्मा स्वयं वर्णों से अतीत और अनेक वर्णों वाले हैं, जो अपनी सन्धिनीशक्ति की सहायता से अनेक वर्णों को अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चतुर्थ वर्णों को धारण करते और पालते पोषते हैं, जो इस संसार को सृष्टि के प्रारम्भ में धारण करते हैं

और प्रलय में अपने में ही समेट लेते हैं, वे परमात्मा हमें शुभ बुद्धि से युक्त करें ।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ अवर्ण शब्द बहुत अभिप्रायों से भरा है। परमात्मा के अवतार से उनका चारो वर्णों में अवतार देखा गया है— वामनावतार ब्राह्मण वर्ण में, श्रीरामावता क्षत्रियवर्ण में, श्रीकृष्णावतार गोपालवर्ण में और जगन्नाथावतार चतुर्थ वर्ण में। इसलिए अनिश्चितो वर्णः यस्य स अवर्णः ।। श्री ।।

संगति– अब भगवान् की विभूति से भगवान् का अभेद सिद्ध करने के लिए अगला मन्त्र प्रस्तुत किया ज़ा रहा है ।। श्री ।।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह परमात्मा ही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र अर्थात् प्राणी के जन्म में निमित्त चर्म धातु है, वही जल और वही परब्रह्म परमात्मा प्रजापति है। इस मन्त्र में अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, प्रकृति, जल, प्रजापति इन आठों विभूतियों का परब्रह्म परमात्मा से धारणा दृष्टि में अभेद कहा गया है ।। श्री ।।

संगति– अब श्रुति सभी जीवों की सभी अवस्थाओं में विधि रूप से परमेश्वर का स्मरण कर रही हैं ।। श्री ।।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे परमात्मा ! आप ही स्त्री हैं अर्थात् माता के समान करुणहृदय हैं। आप पुरुष हैं अर्थात् पिता के समान पालक तथा अनन्त पौरुष सम्पन्न हैं। आप ही कुमार पाँच वर्ष के बालक हैं और आप ही कुमारी अर्थात् कन्या के समान पूज्य पवित्र अक्षतसौन्दर्य और शक्ति के प्रभवस्थान हैं। आप ही बृद्ध बन कर दण्डे का सहारा लेकर लड़खड़ा कर चलते हैं और आप ही सर्वव्यापी होने पर भी नवजात शिशु बन कर जन्म ले लेते हैं ।। श्री ।।

व्याख्या– इस मन्त्र में भगवान् के कुछ अवतारों की चर्चा की गयी है। हे प्रभु ! आप स्त्री अर्थात् मोहनीरूप धारण करके असुरों को मदिरा

और देवताओं को अमृत पिलाते हैं। आप ही पुमान् अर्थात् आदि नारायण बन जाते हैं। आप ही कुमार बन कर कौशल्या के गोद और दशरथ के आँगन में खेलते हैं और आप ही कुमारी अर्थात् जगन्नन्दिनी बन कर जीवों को आनन्दसागर में मग्न कर देते हैं। अथवा आप कुमार बन कर श्रीकृष्णरूप से ब्रजमण्डल को आनन्दित कर देते हैं और आप ही कुमारी अर्थात् राधा बन कर श्रीकृष्ण और प्रभुप्रेमियों को भक्ति सुधाधारा में आप्लावित करते हैं। आप बुड्ढे बन कर पुराने डंडे के सहारे लड़खड़ाते चलते हुए शतानन्द जैसे ब्राह्मण को भी बंचित कर लेते हैं। श्रीसीताराम एवं श्रीराधाकृष्ण का परस्पर अभेद कहा गया है। इसी प्रकार सर्वव्यापी होकर तुम नन्द यशोदा और दशरथ कौसल्या के यहाँ छोटे से बालक बन जाते हो। इस प्रकार यह श्रुति भी भगवान् के विविध अवतारों की चर्चा करती हुई अवतारवाद को सनातनधर्म के प्रतिष्ठाशिखर पर प्रतिष्ठापित करती है ॥ श्री ॥

संगति– अब श्रुति फिर नामसंकीर्तन करके परमात्मा की रूपता को सिद्ध करती हैं ॥ श्री ॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
आनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे प्रभो! जिस परमात्मा से सभी ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुए हैं, ऐसे आप उत्पत्तिविनाशरहित होकर अपने लोकोत्तर सामर्थ्य से सतत् विराजते हैं। नीलवर्ण का पक्षी नीलकण्ठ, हरे वर्ण का पक्षी तोता, लाल आखों वाला विशेष पक्षी रायमुनि एवं विजली से युक्त मेघमाला, बसंत आदि ऋतुएँ एवं समुद्र सब आप ही हैं ॥ श्री ॥

संगति– अब परमेश्वर की प्रार्थना करके भगवती श्रुति परमेश्वर की कृपा से ही जीव का मोक्षविधान कहती हैं ॥ श्री ॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस मन्त्र में भगवद्विमुख और भगवत् प्रपन्न जीवों में स्वाभविक अन्तर का वर्णन है। एकमात्र किसी की सहायता न चाहने वाली लाल, शुक्ल एवं कृष्ण वर्णवाली अर्थात् रक्तवर्ण-रजोगुण, शुक्लवर्ण– सत्वगुण तथा कृष्णवर्ण– तमोगुण से युक्त, समान आकारवाली,

देवता, मनुष्य, त्रिर्यक् रूप, बहुत से प्रजाओं का सर्जन करने वाली अजा अर्थात् बकरी के समान, इस प्रकृति को प्रीतिपूर्वक स्वाद का विषय बनाता हुआ, एक अर्थात् भगवद्विमुख, बद्ध, अजन्मा यह जीवात्मा उसी में अनुरक्त हो जाता है और उससे विलक्षण एक अज अर्थात् जिसने भगवान् की लीलाओं का स्वाद लेने के लिए ही जन्म लिया है, ऐसा भगवतच्छरणागत जीवात्मा, प्रकृति के भोगों को दूसरों द्वारा भुक्त अर्थात् भोगे हुए जूठें समझ कर, उसे खण्डित नारी की भाँति छोड़ देता है॥ श्री॥

व्याख्या– अब इस मन्त्र के गम्भीर पक्ष को देखिये— संस्कृत में प्रकृति पुरुष और परमात्मा तीनों को अजन्मा और अनादि कहा गया है। रजोगुण का लाल, सत्वगुण का श्वेत तथा तमोगुण का कृष्णवर्ण शास्त्र में प्रसिद्ध है। अत: जो भगवान् का भजन नहीं करता वह प्रकृति का चिन्तन करता हुआ इसी में बँध जाता है। और जो भगवद्भक्त होता है वह इस प्रकृति को भुक्तभोग्य समझ कर इसे छोड़ देता है। सांख्याचार्य इसी श्रुति को अपने शास्त्र का बीज मानते हैं। उनके मत में मूलप्रकृति किसी का विकार नहीं होती। उससे महत् उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार, अहंकार से मन, दसों इन्द्रियाँ और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। इन्हीं पाँच तन्मात्राओं से आकाश आदि पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं और इन सब से विलक्षण पुरुष होता है। इस प्रकार निरीश्वरवादी सांख्य में पच्चीस तत्व एवं सेश्वरवादी सांख्य में परमात्मा को जोड़ कर छब्बीस तत्व माने गये हैं। जब प्रकृति का पुरुष से संयोग होता है तभी सृष्टि होती है। सांख्य में पुरुष को चेतन तथा प्रकृति को जड़ अंधे का संयोग माना जाता है। प्रकृति ही सब कुछ करती है और पुरुष कमलपत्र की भाँति निर्लेप बना रहता है। उनके मत में श्रुति का अर्थ होगा कि— सत्व रजस् तमोमयी, समानाकार वाली, अनेक प्रजाओं का सृजन करती हुई इस अनादि प्रकृति को प्रेमपूर्वक सेवन करने वाला संसार में बंध जाता है और जो इसे भोगे हुए भोगों वाली समझ कर बकरी की भाँति छोड़ देता है, वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकरण में श्रुति ने ही दो बार 'अज' शब्द का प्रयोग करके जीवात्मा की अनेकता सिद्ध कर दी। वास्तव में सांख्यसिद्धान्त श्रुतिमत से बहुत निकट नहीं है। जैसे— सांख्य में शब्द आदि पंचतन्मात्राओं से पंचभूतों की सृष्टि कही गयी है जबकि तैतरीयश्रुति पंचभूतों से पंचतन्मात्राओं की

सृष्टि कहती है। (तैतरीय- २/२) में यह कहा गया है कि— उस सगुण निर्गुणात्मक परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ उत्पन्न हुई। इसी प्रकार सांख्यमत में पुरुष को पंगु कहा गया है। जबकि श्रुति उसे सर्वसमर्थ कहती हैं। सांख्य में प्रकृति को कर्त्ता माना गया, जबकि श्रुति परमात्मा को जगत् का कर्त्ता मानती हैं। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' अर्थात् जगत् का निर्माण करके परमात्मा उसी में प्रविष्ट हो गये (तैत्तरीय- २/६) ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास ने भी प्रकृति को जगत् का कारण नहीं माना है 'ईक्षतेर्नाशब्दं' (ब्रह्मसूत्र- १/१/५) अर्थात् प्रकृति को जगत् का कारण नहीं मानना चाहिए क्योंकि प्रकृति में ईक्षणक्रिया नहीं होती। यदि आरोपित कर भी ली जाय तो उसमें वेद का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस दृष्टि से श्रुति व्याख्यान में सांख्यमत को सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। यद्यपि इसके बहुत से अंश श्रुति से विरुद्ध नहीं है। जैसे— प्रमाणवाद, सत्कार्यवाद, पुरुषबहुत्ववाद, इत्यादि ।। श्री ।।

अब यहाँ एक और वयाख्या प्रस्तुत की जाती है— श्रुति के तृतीय चरण में प्रयुक्त 'अज' शब्द को जीवात्मा का वाचक और चतुर्थ चरण के 'अज' शब्द को परमात्मा वाचक मान कर यह कहा जा सकता है कि— जीवात्मा प्रकृति का संयोग करने के कारण बँध जाता है और परमात्मा खण्डित नारी की भाँति इसे छोड़ने से मुक्त रहते हैं। परन्तु इस व्याख्या से सामान्या जीवों पर प्रकृति का बंधन सिद्ध हो जाने पर किसी भी जीवात्मा की मुक्ति ही नहीं हो सकेगी। क्योंकि यहाँ तो परमात्मा में ही प्रकृति का त्याग सिद्ध किया जा रहा है। अत: सामान्यार्थ में मेरा किया हुआ अर्थ ही संगत प्रतीत होता है कि— भगवद्विमुख प्रकृति का सेवन करके उसमें बंध जाता है और भगवद्भक्त प्रकृति को छोड़ कर मुक्त हो जाता है।। श्री ।।

यहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों अज हैं। परमात्मा इसलिए अज हैं क्योंकि वे जन्म नहीं लेते, जीवात्मा इसलिए अज है क्योंकि वह 'अ' अर्थात वासुदेव से ही जन्मा है। यह जीवात्मा इस अजा अविद्या का सेवन करने के कारण स्वयं इसके चक्कर में पड़ जाता है और परमात्मा इसे जूठे भोगवाली समझकर इसे स्पर्श भी नहीं करते और परमेश्वर शरणागतों में भी परमात्मा का यह गुण आ जाता है। इसलिए वे भी इस अविद्या को छोड़ देते हैं ।। श्री ।।

संगति– अब पंचम मंत्र में कही हुई जीव और ब्रह्म की पृथकता को भगवती श्रुति अलंकारिकरूप से कह रही है ।। श्री ।।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह मन्त्र यद्यपि मुण्डकोपनिषद् में व्याख्यायित हो चुका है तथापि फिर व्याख्या की जा रही है। सुन्दर पक्षों वाले, सदैव साथ रहने वाले, अनन्य मित्र ये दो ब्रह्मजीव पक्षी एक ही समय इस संसाररूप वृक्ष को अलिङ्गन करके उस पर स्थित हैं। उनमें से जीवरूप विलक्षण पक्षी पीपल के फल को स्वाद पूर्वक खाता है और उससे विलक्षण परमात्मारूप पक्षी कुछ भी न खाता हुआ सर्वदैव सुशोभित रहता है क्योंकि वह क्षुधा पिपासा से परे रहता है। वह प्रसन्न रहता है क्योंकि वह शोक से परे होता है, वह सब कुछ देखता रहता है क्योंकि परमात्मा का ज्ञान त्रिकालावाधित है ।। श्री ।।

व्याख्या– जीवात्मा और परमात्मा को पक्षी इसलिए कहा गया क्योंकि वह दूसरे घोसले के निश्चित होने पर ही पूर्व घोंसले को छोड़ता है। इन्हें सुपर्ण इसलिए कहा गया क्योंकि इनके निकलते न तो कोई रोक सकता है और न निकलते कोई देख सकता है। ये कौनसे पक्षी हैं ? इसका उत्तर दूसरी श्रुति में दिया है— 'तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे' (श्वे०उ०- १/४)। 'समानम्' यह काल का विशेषण है अर्थात् ब्रह्म और जीव एक ही काल में शरीर में प्रवेश करते हैं। 'परिषस्वजाते' यहाँ लिट्लकार का प्रयोग करके श्रुति यह कहना चाहती हैं कि— कब से इन दोनों पक्षियों ने शरीरवृक्ष का आलिङ्गन किया इसका मुझे ज्ञान नहीं है। यहाँ दो बार 'अन्य' शब्द का प्रयोग कर के श्रुति ने यह बताना चाहा है कि— जीव और ब्रह्म में परस्पर भेद है। जीव ब्रह्म से विलक्षण है और ब्रह्म जीव से। ये दोनों कभी एक हो ही नहीं सकते क्योंकि इनमें बड़ी भिन्नतायें हैं। इतने पर भी यदि कोई ब्रह्म जीव की एकता सिद्ध करने का प्रयास करे तो उसके प्रति मेरा यही विनम्र निवेदन होगा कि—

पीलिया से ग्रस्त कोई चन्द्र को जो पीत कहे,
ताकि बात कबहू प्रमाण किमि मानिये।

ग्रीष्म दिवस जो ऊलूक कहे रवि नाहिं,
ताकर वचन किमि सत्य करि जानिये ।।
मोहवश कहे कोउ गगन गमन अहो,
मूरख प्रवादता को बाद ही बखानिये।
तैसे कोऊ बालिस कहत जीव ब्रह्म एक,
रामभद्राचार्य क्यों प्रतीति उर आनिये ।।

संगति– और स्पष्टता करने के लिए भगवती श्रुति जीव ब्रह्म का भेद फिर स्पष्ट कर रही हैं।। श्री ।।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अपने समान आकारवाले पूर्वकर्म के प्रारब्ध से प्राप्त मानादि दोषों से युक्त, इस शरीररूप वृक्ष पर वर्तमान रह कर शोक सागर में डूबा हुआ, असमर्थ ईश्वर का अनादर करनेवाली, ईश्वर प्राप्ति की इच्छा से बाधा डालने वाली ऐसी अविद्या से मोहित होता हुआ, शोक करता रहता है। किन्तु जब अपने से विलक्षण और अपने ही प्रेम का पात्र तथा चित्-अचित् विशेषणों से युक्त, सर्वसमर्थ परमात्मा को देखता है और उनकी महिमा का अनुभव करता है, तब वह शोक से मुक्त हो जाता है। इस मन्त्ररूप महावायु ने स्वयं ही अद्वैतवाद रूप महावृक्ष को ढहा दिया। क्योंकि अन्य पद का प्रयोग करके श्रुति ने स्पष्ट शब्दों में जीव से ब्रह्म का भेद सिद्ध कर दिया।। श्री ।।

संगति– अब श्रुति फिर ब्रह्मज्ञान की स्तुति कर रही है।। श्री ।।

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– परमव्योमरूप आकाश के समान व्यापक परब्रह्म श्रीराम में ऋचायें अर्थात् पादाक्षरसमान वेदमन्त्र विराजमान हैं। जिनके द्वारा सारा विश्व आधिकृत है, उन्हीं अक्षर परमात्मा में सम्पूर्ण वेद विराजमान हैं। जो उस परमात्मा को नहीं जान सका वह ब्रह्मज्ञानशून्य केवल वेदों को रट कर क्या कर लेगा। जिन ब्राह्मणों ने उन परमकारुणिक शिरोमणि प्रभु को जान लिया वे कृतकृत्य होकर प्रभु के चरणों में ही विराज रहे हैं।। श्री ।।

संगति– भगवान् से ही सृष्टि उत्पत्ति का फिर वर्णन करते हैं॥ श्री॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– गायत्री आदि छन्द, यज्ञ, ज्योतिष, होमादिक्रतु, चान्द्रायण आदि व्रत और जो भी भूत और भविष्यत् पदार्थ वेद कहते हैं, उन सब को अपने इसी प्रपंचक्रम से एकमात्र मायापति भगवान् अपनी माया से इस समस्त संसार को रचते हैं। उनमें परमात्मा से विमुख साधारण जीव वैष्णवीमाया से रुद्धचित्त होकर मोहित हो जाता है॥ श्री॥

संगति– अब भगवती श्रुति माया की परिभाषा कहती हैं॥ श्री॥

मायां तु प्राकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवान् की प्रकृतिशक्ति को ही माया समझना चाहिए। और महेश्वर परमेश्वर परब्रह्म राम को ही मायावान् और मायापति जानो। उन्हीं मायापति परमात्मा के अवयवरूप चिद्चिदात्मक सांसारिक पदार्थों से यह समस्त जगत् व्याप्त है॥ श्री॥

व्याख्या– श्रुति में मायाशब्द भगवान् की अघटितघटनापरीयसी योगमाया के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कठोपनिषद् में भी इसी योगमाया को अव्यक्त कहा गया है और गीता- (९/१०) में इसी योगमाया को भगवान् ने प्रकृति कहा है। 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' उसी माया के अधीश्वर परमात्मा हैं। 'मायिनं' शब्द दो प्रकार से निष्पन्न होता है— ''माया अस्ति अस्मिन् इति मयी तं मायिनम्।'' अर्थात् वह माया परमात्मा के ही आश्रित रहती है। दूसरी व्युत्पत्ति में 'माया शब्द का 'इन' शब्द के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास होगा। 'इन' शब्द का अर्थ स्वामी होता है। माया शब्द के आकार के साथ इकार शकन्ध्वादित्वात् पररूप हुआ। भगवान् 'इन' अर्थात् माया के स्वामी हैं। उन्हीं परमात्मा के चिदचिदात्मक सभी पदार्थ अवयव हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च जयोतीषिं सत्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्राणमेदनन्यः॥

—(भाग०- ११/२/४१)

योगेश्वर महाराज निमि से कह रहे हैं कि— हे राजन्! भगवान् के अनन्य भक्त को चाहिए कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्रमण्डल, सम्पूर्ण जीव, दिशायें, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र इस प्रकार जगत् में जो कुछ हैं उसे परमात्मा का शरीर मानकर भगवद्बुद्धि से प्रणाम करें। 'अवयवभूतैः' शब्द से श्रुति ने भगवान् के निरवयवत्ववाद का स्पष्ट खण्डन किया। यदि कहें कि जो-जो सावयव होता है वह-वह अनित्य होता है 'यत्-यत् सावयवं तत्तदनित्यं कार्यत्वाद् घटवत्' इस अनुमान के अनुसार परमेश्वर की सावयवता स्वीकारने पर उनमें अनित्यता आ जायेगी। इसका उत्तर यह है कि— 'श्रुतिप्रमाण के कारण उक्त अनुमान का यहाँ प्रसार नहीं होगा।' क्योंकि श्रुति ने परमात्मा को सावयव कहते हुए भी नित्य कहा है यथा— 'सर्वतः पाणिपदं तत्' (श्वे०उ०- ३/१६)। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां' (कठ०- १/१/१३)। यहाँ प्रकृति शब्द भी सार्थक है। 'प्रकृष्टा कृतिः यस्याः' अर्थात् माया की कृति बहुत ही प्रकृष्ट है। विरुद्ध स्वभाव वाले पंचमहाभूतों को एकत्र करना और फिर पंचीकरणप्रक्रिया से अनन्त स्वभाव वाले अनन्त जीवों का निर्माण, यह सब योगमाया का ही तो जादू है। गोस्वामी जी स्वयं चकित होकर विनयपत्रिका में कहते हैं— हे केशव! कुछ कहा नहीं जा रहा है, क्या कहूँ? आप की यह विचित्र रचना देख कर मन ही मन चुप रह लेता हूँ। अरे इस अविद्या मायारूप शून्य की दीवार पर बिना रंग और बिना हाथ के कैसे रंग बिरंगे चित्र का निर्माण है, जो धोने से भी नहीं मिटता। फिर भी जहाँ जन्म-मृत्यु आदि दिखाई पड़ते हैं। घड़े में सूर्य की किरणों का दर्शन, जल में मकर की सम्भावना जो जलपानार्थ वहाँ जाते हैं उन्हें वह बिना मुख के खा जाता है। आपकी इस रचना को कोई सत्य कहता है तो कोई झूठ। कोई सत्यासत्य दोनों पक्षों का समर्थक होता है अर्थात् मध्वाचार्य इसे सत्य कहते हैं तो शंकराचार्य इसे झूठ। निम्बार्काचार्य यहाँ द्वैताद्वैत की वकालत करते हैं परन्तु श्री मदाद्यरामानन्दाचार्य के प्रशिष्य तुलसीदास के मत में तो अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत (सत्य, असत्य तथा सत्यासत्य) ये तीनों ही भ्रम हैं। इन्हें छोड़ कर विशिष्टाद्वैतपक्ष ही सिद्धान्तरूप में स्वीकार करना चाहिए ॥ श्री ॥

केशव कहि न जाइ का कहिये,
देखत तव रचना विचित्र अति चुपहि मनहिं मन रहिये,

शून्यभीत पर चित्र, रंग बिनु कर बिनु रचा चितेरे,
धोये मिटे न मरिय भीति दुख पाइअ यह तनु हेरे,
रविकर नीर वसे घट भीतर मकर रूपता माँही,
वदन हीन सो ग्रसे चराचर पान करन जो जाँहीं,
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै,
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सोइ आपन पहिंचानै ।।

—(*विनयपत्रिका- १११*)

वस्तुतस्तु भगवती सीता ही माया है और उनकी कृति अर्थात् आकृति प्रकृष्ट है। महर्षि वाल्मीकि ने भगवती सीता जी का परिचय देते हुए मोद रामायण के सत्ताइसहवें श्लोक में कहा—

जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ।।

—(*वा०रा०बा०- १/२७*)

अर्थात् जनक के कुल को निमित्त बनाकर, साक्षात् महाविष्णु श्रीरामजी का अनुगमन करती हुयीं, सम्पूर्ण लक्षणों से सम्पन्न, महिलाओं में सर्वश्रेष्ठ, भगवान् श्रीराम की धर्मपत्नी, भगवती सीता, सीमारहित मूर्तिमती परमेश्वर की कृपा जैसी प्रतीत हो रही हैं। श्रुति में मायाशब्द कृपा के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और भगवान् श्रीराम उन्हीं महामाया सीता के पति हैं। उन्हीं के अवयव भूत सभी जड़चेतन पदार्थों से और उनके अवयव के समान प्रिय महापुरुषों से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।। श्री ।।

संगति— अब परमात्मा की महिमावर्णन के साथ इनके निश्चय का फल कहा जा रहा है।। श्री ।।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यम्
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— जो परमात्मा नित्य ही प्रकृति को नियन्त्रित रखते हैं, जो अन्तर्यामी रूप से प्रत्येक शरीर में विराजते हैं, जिनमें यह

सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है, प्रलय काल में जो सम्पूर्ण संसार को अपने में समेट लेते हैं, उन सबके शासक, वरदान देने वाले, स्तुति करने योग्य, परम प्रकाशमान, परमात्मा को अपने स्वामी के रूप में निश्चित करके साधक शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है और कामादि दोषों को शान्ति करने वाली, अनपायनी भक्ति को प्राप्त कर, अन्तरहित परमात्मा को भी प्राप्त कर लेता है ।। श्री ।।

व्याख्या– 'योनिं योनिम्' यहाँ चार व्याख्यायें और उपस्थित की जा रही है। भगवान् की परा और अपरा प्रकृति भी 'योनि' शब्द से कही जाती हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार अपरा प्रकृति तथा 'जीवभूता' 'संजीवनी' परा प्रकृति है। इन दोनों का भगवान् नियन्त्रण करते हैं। अथवा विद्या और अविद्या यहाँ योनि शब्द से कहे गये हैं। इन दोनों को भगवान् नियन्त्रित करते हैं। अथवा योनि शब्द का दो बार उच्चारण करके श्री लक्ष्मी, वास्तविक सीता और माया की सीता तथा राधा और रुक्मिणी का भी संकेत है। वेद में श्री और लक्ष्मी ये दोनों परमेश्वर की पत्नियाँ कही गयी हैं। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' नारायणरूप में भगवान् श्री और लक्ष्मी के स्वामी हैं। श्रीरामावतार में श्री जनकनन्दिनी सीता तथा लक्ष्मी माया की सीता है, प्रभु श्रीराम इन दोनों के स्वामी हैं। इसी से रामायण में मायासीता का उपस्थापन वैदिक सिद्ध हुआ। कृष्णावतार में राधा जी श्री और रुक्मिणीजी लक्ष्मी हैं। प्रभु उनके भी प्राणवल्लभ हैं और उनके हृदय में विराजते हैं। 'वरदम्' प्रभु 'व' अर्थात् ब्रह्मसुख तथा 'र' याने संसारसुख दोनों ही देते हैं। 'वरान् अत्ति इति वरदः' भगवान् प्रलयकाल में 'वर' अर्थात् ब्रह्मादि देवताओं को भी खा जाते हैं। अथवा संस्कृत में अकार का विष्णु अर्थ होता है और उकार शिव का वाचक है। 'अ' और 'उ' की यण् सन्धि करने से 'व' बन जाता है। भगवान् 'व' अर्थात् विष्णु और शिव को भी 'र' अर्थात् रस प्रदान करते हैं, इसलिए उन्हें 'वरद' कहा जाता है। यहाँ शान्ति शब्द भक्ति का वाचक है, क्योंकि कामक्रोधादि उसके द्वारा शान्त कर दिये जाते हैं। नारदभक्ति (सूत्र- ३/५) में भी भक्ति को शान्तिस्वरूपा कहा गया है— "शान्तिरूपा परमानन्दरूपा च"। 'अत्यन्त' शब्द क्रियाविशेषण और परमात्मा का वाचक भी है क्योंकि परमात्मा अन्त को अतिक्रान्त कर

चुके हैं। पहले महापुरुषों के सत्संग से भगवान् के महात्म्य का ज्ञान प्राप्त कर फिर अविनाशी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है॥ श्री॥

संगति— श्रुति फिर परमात्मा की स्तुति करके प्रार्थना करती हैं॥ श्री॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥१२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— जो भगवान् देवताओं के उत्पत्ति स्थान, कल्याण के उद्गम स्थान तथा उत्कृष्टभव अर्थात् स्वामी हैं। जो सारे संसार के ईश्वर, दुष्टों को रूलाने वाले और महान् मन्त्र द्रष्टा हैं, जिन्होंने अपने नाभिकमल से ब्रह्मा को उत्पन्न होते देखा है वही परमात्मा हमें अपने साक्षात्कार में उपयोगिनी शुद्धबुद्धि से युक्त करें॥ श्री॥

व्याख्या— यहाँ व्यत्यय के कारण दृश्‌धातु से आत्मनेपद तथा अट् आगम का अभाव करके पश्यत शब्द का प्रयोग हुआ है॥ श्री॥

संगति— अब परमात्मा की हविसम्प्रदान की योग्यता का वर्णन करते हैं, अर्थात् परमात्मा में ही हविर्ग्रहण की योग्यता है। इस सिद्धान्त को बहुत दृढ़ता से श्रुति प्रस्तुत करती है॥ श्री॥

यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— जो देवताओं के स्वामी हैं, जिनमें सम्पूर्ण लोक विराजमान हैं, जो द्विपद मनुष्यों और चतुष्पद पशुओं पर शासन करते हैं, ऐसे परमात्मा श्रीराम को छोड़ कर और किस देवता को हविर्दान का उद्देश्य बनाया जाय॥ श्री॥

व्याख्या— इस मन्त्र की एक और व्याख्या की जा सकती है। पूर्वार्ध पूर्ववत् ही है। उत्तरार्ध में— जो सब पर शासन करते हैं, जो द्विपद अर्थात् मनुष्य रूप में श्रीरामकृष्णनाम से प्रकट होते हैं, और जो चतुष्पद अर्थात् वाराहादि रूप में प्रकट होते हैं उन प्रभु श्रीराम को छोड़ कर और किसे हवि प्रदान किया जाय॥ श्री॥

संगति— श्रुतियों में आलस नहीं होता इसलिए परमात्मा का प्रभाव वर्णन करते हुए श्रुति फिर उनकी स्तुति करती हैं॥ श्री॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो सूक्ष्म जीवात्मा से भी सूक्ष्म हो, कलिल अर्थात् इस संसार के दल-दल में भी विराजमान हैं, जो संसार के रचयिता तथा अनेक रूप वाले हैं, जो एकमात्र अपनी माया जवनिका से सारे संसार को ढके हुए हैं, ऐसे उन निरुपम देवाधिदेव परमात्मा को अपने स्वामी के रूप में जान कर अत्यन्त शान्ति एवं शन्तिस्वरूपा भक्ति को प्राप्त कर धन्य हो जाता है।। श्री ।।

संगति– अब भगवत् ज्ञान को ही मृत्युपास को काटने में हेतुरूप से प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती हैं।। श्री ।।

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ।।१५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वही परमात्मा धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान के समय चौदहों भुवनों के रक्षक होते हैं। वे ही सम्पूर्ण प्राणियों के स्वामी तथा सम्पूर्ण जीवों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से छिपे रहते हैं। जिन परमात्मा में वशिष्ठ आदि ब्रह्मर्षि एवं ब्रह्मा आदि देवता समाधियोग से तल्लीन रहते हैं, उन्हीं परब्रह्म परमात्मा को अपने स्वमी के रूप में जान कर साधक मृत्यु के फंदों को काट डालते हैं।। श्री ।।

संगति– अब निरुपम परमात्मा को भी सारे संसार का साररूप प्रतिपादन करने के लिए श्रुति दृष्टान्त का अवलम्बन कर रही है।। श्री ।।

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।१६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जैसे घी से श्रेष्ठ तथा सूक्ष्म, माड होता है उसी प्रकार सूक्ष्म, सारे संसार के निवास स्थान, सम्पूर्ण जीवों में अन्तर्यामी रूप से छिपे हुए, परमेश्वर को जान कर जीव धन्य हो जाता है एवं अपनी माया से सारे संसार को आवृत्त किये हुए है, ऐसे परमात्मा को अपना आराध्य समझ कर जीव सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है।। श्री ।।

व्याख्या– भगवान् सबके ममतापात्र हैं। गोवत्सहरणलीला के प्रसंग में जब ब्रह्मा जी ने भगवान् के बछड़ों और बालकों को चुरा लिया तब

एक वर्ष पर्यन्त श्री भगवान् बालकृष्ण ही बछड़े और बालकों के रूप में श्री ब्रजमण्डल में विराजे। अनन्तर ब्रजगोपियों के प्रेम में अन्तर आने लगा। इसके पहले सूर्यास्त होते ही कन्हैया के दर्शनार्थ श्रीनन्दराय के द्वार पर भीड़ लगा करती थी, गोपियों और गायों की। अब वह भीड़ नन्दद्वार पर नहीं आ रही है, क्योंकि अब प्रत्येक गोपी का बालक ही कृष्ण है और प्रत्येक गाय का बछड़ा भी। इस पर महाराज परीक्षित को जिज्ञासा होती है और वे महाराज शुक्राचार्य जी से पूँछते है—

राजोवाच—

ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत्।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम्।।४९।।

श्रीशुक्र उवाच–

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि।।५०।।

तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्व स्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु।।५१।।

देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम्।।५२।।

देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी।।५३।।

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्।।५४।।

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया।।५५।।

राजा परीक्षित् ने कहा— ब्रह्मन्! ब्रजवासियों के लिए श्रीकृष्ण अपने पुत्र नहीं थे, दूसरे के पुत्र थे। फिर उनका कृष्ण के प्रति इतना प्रेम कैसे हुआ? ऐसा प्रेम तो उनका अपने बालकों पर भी पहले कभी नहीं हुआ था। आप कृपा करके बतलाइये, इसका क्या कारण है॥ ४९ ॥

श्रीशुकदेव जी कहते हैं— राजन्! संसार के सभी प्राणी अपने आत्मा से ही सबसे बढ़ कर प्रेम करते हैं। पुत्र से, धन से या और किसी से जो प्रेम होता है, वह तो इसलिए कि वे वस्तुएँ अपनी आत्मा को प्रिय लगती हैं ॥ ५० ॥

राजेन्द्र यही कारण है कि सभी प्राणियों का अपने आत्मा के प्रति जैसा प्रेम होता है, वैसा अपने कहलाने वाले पुत्र धन और गृह आदि में नहीं होता ॥ ५१ ॥

नृपश्रेष्ठ! जो लोग देह को ही आत्मा मानते हैं, वे भी अपने शरीर से जितना प्रेम करते हैं, उतना प्रेम शरीर के सम्बन्धी पुत्रमित्र आदि से नहीं करते ॥ ५२ ॥

जब विचार के द्वारा यह मालूम हो जाता है कि— यह शरीर मैं नहीं हूँ, यह शरीर मेरा है, तब इस शरीर से भी आत्मा के समान प्रेम नहीं रहता। यही कारण है कि इस देह के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर भी जीने की आशा प्रबलरूप से बनी रहती है ॥ ५३ ॥

इससे यह बात सिद्ध होती है कि— सभी प्राणी अपनी आत्मा से ही सबसे बढ़कर प्रेम करते हैं और उसी के लिए इस सारे चराचर जगत् से भी प्रेम करते हैं ॥ ५४ ॥

इन श्रीकृष्ण को ही तुम आत्माओं का आत्मा समझो। संसार के कल्याण के लिए ही योगमाया का आश्रय लेकर वे यहाँ देहधारी के समान जान पड़ते हैं ॥ ५५ ॥

अत एव उन परमममतास्पद भगवान् को जान कर ही जीव भवबंधन से छूट जाता है ॥ श्री ॥

संगति— उसी ब्रह्म को फिर श्रुति अपनी व्याख्या का विषय बनाती है ॥ श्री ॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्ल्प्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— भक्तों के हृदय में सदैव वर्तमान यह परमात्मा महात्मा हैं अर्थात् महान् पुरुष ही इन्हें आत्मवत् प्रिय हैं। सारा विश्व ही इनका कर्म है। साधक इन्हें चित्त से चिन्तन करके, बुद्धि से निश्चय करके तथा मन से निर्णय करके अपने स्वामी के रूप में धारण करता है। जो लोग ऐसा जानते हैं वे मरणधर्म से मुक्त हो जाते हैं ॥ श्री ॥

व्याख्या– ब्रह्मज्ञान में मन, बुद्धि और चित्त की उपयोगिता होती है अहंकार की नहीं। यहाँ 'हृत्' शब्द से चित्त और मनीषा शब्द से बुद्धि अभिप्रेत है ॥ श्री ॥

संगति– जीव परमात्मा को प्राप्त करके देश, काल और परिस्थिति से ऊपर उठ जाता है। श्रुति उसी अवस्था का वर्णन कर रही हैं ॥ श्री ॥

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥१८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस समय ब्रह्मसाक्षात्कार करके साधक अतम अर्थात् परमप्रकाशमय हो जाता है, अथवा जिस समय साधक के नेत्र के सामने, तम अर्थात् कोटि-कोटि कन्दर्पदर्पदलन तमालनील भगवान् श्रीराम की मनोहर मूर्ति की श्यामता का साक्षात्कार हो जाता है, उस समय साधक के पास न दिन रहता है, न रात्रि अर्थात् वह रात्रि की प्रवृत्ति और दिन की निवृत्ति से दूर हो जाता है। वह विवेक और अविवेक, विद्या और अविद्या, जगत् तथा शयन इन सारे द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है। उस समय वह सत् अर्थात् अपने स्वतन्त्र जीवस्वरूप का भी बोध नहीं कर पाता तथा असत् माया का अस्तित्व भी नहीं समझ पाता, बल्कि वह सदसद्विशिष्ट परमात्मा के दास्यरस का अनुभव करता हुआ एक मात्र शिव अर्थात् कल्याण मय बन जाता है। सभी अनात्मतत्वों से ऊपर उठने के कारण वह क्षरभाव से रहित हो जाता है। वह अकार अर्थात् वासुदेव का क्षर अर्थात् सारी दिशाओं में सत्संग द्वारा वितरण करता है। वह 'अक्ष' यानि अपनी इन्द्रियों को 'र' यानि परमेश्वर को सौंप देता है। वह 'सविता' सबके प्रेरक परमात्मा वरेण्य अर्थात् वर्णाभ हो जाता है, और उसी साधक के पास से परमेश्वर को अनुभूति कराने वाली श्रेष्ठ बुद्धि का प्रसार होता है ॥ श्री ॥

संगति– अब श्रुति परमात्मा की सर्वातिशायनी महिमा का वर्णन करती हैं ॥ श्री ॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥१९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उन परमात्मा को सबसे ऊपर साकेत लोक में तथा तिर्यक् अर्थात् आकाशलोक में और मध्य भूलोक में कोई भी

ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि जिन परमात्मा का नाम और यश महान् है उनकी कहीं समानता नही हैं।। श्री ।।

व्याख्या– भगवान् को तीनों लोकों में कोई ग्रहण नहीं कर पाता वे जिस पर कृपा करते हैं वही उसे पकड़ पाता है जैसे—

कौसल्या जब बोलनि जाई। ठुमुकि-ठुमुकि प्रभु चलहि पराई।।
निगम नेति शिव अंत न पावा। ताहि धरे जननी हठ धावा।।

—(मानस- १/२०३/७,८)

तिर्यक् का तात्पर्य अन्तरिक्ष से है। यहाँ 'प्रतिमा' शब्द समानता के अर्थ में प्रयुक्त है, मूर्ति के अर्थ में नहीं। यदि कहें कि इसमें क्या विनिगमक है ? इसका उत्तर यह है कि— इसी श्रुति का चतुर्थ चरण ही इसमें प्रमाण हैं। क्योंकि यदि यहाँ भगवान् की मूर्ति का निषेध होता तो चतुर्थचरण में भगवान् के नाम और महत्ता का वर्णन न होता क्योंकि नाम और यश तो मूर्तिमान् के ही होते हैं अमूर्त के नहीं। यदि श्रुति में ईश्वर के आकार का निषेध होता तो फिर इसी उपनिषद् के ३/१६ मन्त्र में भगवान् को सब ओर से हस्त, चरण, नेत्र, शिर, मुख तथा श्रवण से युक्त कैसे कहा जाता। यदि भगवान् की मूर्ति न होती तो श्रुति अर्चत् प्रार्चत् कह कर भगवान् की पूजा का विधान कैसे करती। अथवा यहाँ नत शब्द से षष्ठी है। अब नतस्य का अर्थ होगा नम्रीभूत घुटनों से चलते हुए शिशु राघव और लड्डुगोपाल की प्रतिमा संसार में विद्यमान है।। श्री ।।

संगति– अब भगवान् के श्री विग्रह की इन्द्रियों से अगोचरता सिद्ध की जा रही है।। श्री ।।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति।।२०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवान् अत्यन्त निर्मल हैं और उनमें विम्ब-प्रतिविम्ब भाव नहीं हैं, इसलिए भगवान् का रूप दर्पण में स्थिर नहीं रहता। कोई भगवान् को प्राकृत नेत्र से नहीं देख सकता क्योंकि भगवान् सदा अप्राकृत हैं। जो लोग हृदय में स्थित सर्वअन्तर्यामी भगवान् को अपने चित्त और मन से इस प्रकार जानते हैं, वे मरणधर्म से मुक्त होकर भगवान् के नित्य परिकर बन जाते हैं।। श्री ।।

संगति– अब रुद्ररूप परमात्मा से अपनी रक्षा करने के लिए परमात्मा से दो मन्त्रों में प्रार्थना की जा रही है ॥ श्री ॥

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे रुद्र! आप अजन्मा हैं इसलिए कालरूप सर्प से डरा हुआ कोई आप का एक भक्त (मैं) आपकी शरण में आ रहा हूँ। हे दुष्टों को रुलाने वाले भगवन्! आपका जो दक्षिण मुख है उससे आप मेरी नित्य रक्षा करें ॥ श्री ॥

व्याख्या– इस मन्त्र को राम परक व्याख्या में भी प्रस्तुत किया जा रहा है। हे शत्रुपत्नियों को रुलाने वाले रुद्ररूप भगवान् राम। 'अ' अर्थात् वासुदेवात्मक व्यूहरूप आप से जन्मा हुआ मैं जिसका 'क' अर्थात् सुख स्वरूप तथा चित् स्वरूप है, आप की शरण में आया हूँ। रावण को मारने के लिए दक्षिण दिशा में उपस्थित आपका सौम्य मुख उससे मेरी रक्षा करें ॥ श्री ॥

संगति– अब सामान्य दृष्टि से कामदहन के अनन्तर क्रुद्ध भगवान् शंकर को तथा पारमार्थिक दृष्टि से सागरनिग्रह के समय क्रुद्ध भगवान् श्रीराम को अनुनीत करते हुए प्राणिवर्ग भगवान् से प्रार्थना करता है ॥ श्री ॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे ॥२२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे कामदहन के क्रुद्ध शंकर! तथा समुद्र पर क्रुद्ध भगवान् राम! आप हमारे छोटे पुत्र पर विनाश का प्रयोग न करें। आप हमारी गौवों और घोड़ों में न्यूनता न लायें। आप क्रुद्ध होकर हमारे वीर सैनिकों को न मारें। हम प्रशस्त हवि लेकर प्रलयकर्म में लगे हुए आपको प्रसन्न कर रहे हैं ॥ श्री ॥

इति श्रीश्वेताश्वत उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय पर श्रीतुलसीपीठाधीश्वर
रामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ।

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

●

।। अथ पञ्चमअध्याय ।।

सम्बन्ध– चतुर्थ अध्याय में ब्रह्म-जीव का भेद और ब्रह्म की महिमा का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया। अब पञ्चम अधय में ब्रह्म की विचित्रता का तथा विद्या और अविद्या, उनके साथ ब्रह्म के सम्बन्ध इत्यादि जिज्ञासित विषयों का स्पष्टीकरण किया जा रहा है।। श्री ।।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सर्वव्यापक और आविनाशी तथा आनन्तरूप परब्रह्म परमात्मा श्रीराम में विद्या और अविद्या छिपी हुयीं हैं। अविद्या ही क्षर अर्थात् विनाशशाली है और विद्या अमृत अर्थात् अक्षर है। इन दोनों से विलक्षण परब्रह्म ही विद्या और अविद्या का शासक है।। श्री ।।

व्याख्या– निर्गुण और सगुण ये दो ब्रह्म के रूप हैं। उनका धर्म क्या है ? इस पर श्रुति कहती है— 'द्वे अक्षरे' अर्थात् दोनों अविनाशी हैं और दोनों ही सर्वव्यापक हैं। अब प्रश्न है कि— यदि दोनों सर्वव्यापक है तो इनमें अन्तर क्या है ? इसका उत्तर यह है कि— निर्गुण ब्रह्म अरणि में छिपे हुए अग्नि के समान है तथा सगुण ब्रह्म अरणि से प्रकट हुए अग्नि के समान। निर्गुण ब्रह्म में सारे गुण छिपे हुए होते हैं। वह सत्य, रज और तम से निष्क्रान्त होता है, वह हेय दुर्गुणों को निराकृत कर चुका होता है। सभी निःशेष गुण उसी में रहते हैं। उसके गुण निरुपम और निरुपद्रव है। ऐसे निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म की श्रेष्ठता इसलिए है, क्योंकि वह सक्रिय होता है। अरणि में छिपा हुआ अग्नि उपस्थित होता हुआ भी अपना प्रभाव नहीं प्रकट कर पाता, यही परिस्थिति निर्गुण ब्रह्म की है। वह हृदय में रह कर भी जीव को दीनता और दुःख से नहीं छुड़ा पाता, परन्तु सगुण ब्रह्म अरणि से प्रकट हुए अग्नि की भाँति अपने प्रभाव को प्रकट कर देता है। स्मरणमात्र से वह भक्त के समास्त कष्ट दूर कर देता है। गजेन्द्र, गणिका, जटायु, शबरी इसके उदाहरण हैं। वह दोनों ही अनन्त हैं। निर्गुण को 'ब्रह्म' और सगुणब्रह्म को 'पर' कहते हैं। यदि कहें कि इस तथ्य में क्या प्रमाण हैं ? तो गीता- १४ का अन्तिम श्लोक ही प्रमाण है। भगवान् स्वयं कहते हैं— कि मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ।। श्री ।।

इस प्रकार ये दोनों अनन्त हैं। सगुणब्रह्म में विद्या और निर्गुण ब्रह्म में अविद्या छिपी रहती है। यदि कहें कि— सगुण ब्रह्म के प्रति परब्रह्म कथन में क्या प्रमाण है? तो गीता (१०/१२) में अर्जुन का भगवान् के प्रति परब्रह्म शब्द का व्यवहार ही परम प्रमाण है— "परंब्रह्म परंधाम पवित्रं परमं भवान्"। जो कुछ लोग इस मन्त्र के अक्षरे, ब्रह्मपरे, अनन्ते, इन तीनों पदों में सप्तम्यन्त व्याख्यान करते हैं— उनका पक्ष अत्यन्त अशास्त्रीय है, क्योंकि सप्तम्यन्त पक्ष में 'यत्र' शब्द की निरर्थकता हो जायेगी। यत् और तत् शब्द के नित्य सापेक्ष होने के कारण 'तत्' शब्द द्वारा अभिलप्य 'ब्रह्म' शब्द का अध्याहार करना पड़ेगा। सप्तम्यन्तों के विशेषणरूप में प्रसिद्ध होने से इनके विशेष्य रूप में 'ब्रह्म' शब्द की उपस्थिति करनी पड़ेगी और उनके दुर्भाग्य से 'ब्राह्मणि' के स्थानपर 'ब्रह्म' शब्द देख कर उन्हें ही ङि विभक्ति के लुक् की कल्पना करनी पड़ेगी। 'परे' शब्द में भी वैकल्पिक स्मिन् आदेश के अभावपक्ष जैसे अप्रयोक्तव्य शब्द का आश्रय लेना पड़ेगा क्योंकि विकल्प प्रकरण में शिष्ट लोग विधि पक्ष का ही प्रयोग श्रेयस्कर मानते हैं अभावपक्ष का नहीं। इस प्रकार सप्तमीपक्ष मानने पर इन विपुल दोषों का सामना करना पड़ेगा इसकी अपेक्षा इन तीनों पदों में प्रथमाद्विवचन ही स्वीकार कर लेना चाहिए। इस पक्ष में अर्थ होगा कि— निर्गुण और सगुण ब्रह्म अविनाशी, सर्वव्यापक और अनन्त है, जिनमें भगवान् की माया से ही तिरोहित प्रभाव वाली विद्या तथा अविद्या छिपी हुई हैं॥ श्री॥

यहाँ अविद्या भगवद्ज्ञान से शून्य भगवान् की अपरा प्रकृति हैं जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार भेदों से आठ प्रकार की है। 'न विद्यते ब्रह्मबोधो यस्याम् स अविद्या' जिसमें ब्रह्मबोध विद्यमान नहीं है वही अविद्या है। पृथ्वी आदि आठों प्रकृतियाँ जडप्राय है इसलिए इनमें ब्रह्मज्ञान का सामर्थ्य नहीं रहता, इनमें चित् शक्ति का आभासमात्र रहता है। मानसकार भी कहते हैं—

'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कर नाथ सहज जड़ करनी॥

जीवभूता प्रकृति विद्या है इसमें ब्रह्मज्ञान का सामर्थ्य है और जीवन मुक्त जीवों में तो ब्रह्म विद्या भी आ जाती है। यहाँ इतना ध्यान रहे कि ये विद्या और अविद्या ईशावास्य जैसी नहीं हैं। ईशावास्योपनिषद् में

देवलोक को विद्या और पितृलोक को अविद्या का फल माना जाता है अर्थात् उपासना विद्या और कर्मकाण्ड अविद्या माना जाता है। प्रकरण के अनुरोध से यहाँ विद्या और अविद्या से उन्हीं परा और अपरा प्रकृतियों की चर्चा है, जिन्हें गीता के ज्ञान-विज्ञानयोग अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने विस्तार से कहा है। उस प्रकरण में भगवान् कहते हैं कि— पृथ्वी आदि आठ भेदों में विभक्त मेरी भिन्न प्रकृति अपरा है और इससे विलक्षण जीवनामों वाली मेरी अभिन्न प्रकृति ही परा है। यदि कहें कि इस व्याख्यान का मूल क्या है ? तो उत्तर यह है— प्रस्तुत मन्त्र का तृतीयचरण ही इसका आधार है। 'क्षरं त्वविद्या' अविद्या 'क्षर' अर्थात् क्षणभङ्गुर है और विद्या अमृत अर्थात् अक्षर है ।। श्री ।।

पुराणों में भी भूमि आदि आठ प्रकृतियाँ ही रुकिमणी आदि आठ पटरानियाँ हैं तथा जीवों की अनन्ता होने से श्री ब्रजमण्डल की अगणित गोपियाँ ही भगवान् की जीवभूता परा प्रकृति हैं। भागवत (१०/३२/१०) में भगवान् शुकाचार्य कहते हैं कि— इन शोकरहित अनन्त गोपियों से धिरे हुए भगवान् कृष्ण उसी प्रकार सुशोभित हो रहे है जैसे अपनी जीव शक्तियों से घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण गोलोक में सुशोभित रहते हैं। विद्या और अविद्या में विलक्षणता द्योतित करने के लिए ही तृतीयचरण में 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु अविद्या क्षर है इसका नाश हो जाता है। अभिप्राय यह है कि— भले ही अविद्या का निर्गुण ब्रह्म आश्रय हो परन्तु अविद्या का विनाश निर्गुण ब्रह्म भी रोक पाता। उससे विरुद्ध विद्या अमृत अर्थात् अक्षर है, इन दोनों के नियंता इनसे विलक्षण परमेश्वर अन्य अर्थात् क्षर-अक्षर से अतीत परमेश्वर हैं। यही बात गीता जी के पुरुषोत्तम योग में विस्तार से कही गयी है। इस मन्त्र में विद्याशब्द से अक्षर जीवभूता परा प्रकृति चित्तत्व की व्याख्या है और अविद्या शब्द से क्षर पृथिवी आदि अपराप्रकृति अचित्तत्व की व्याख्या है। 'ईशते' शब्द से दोनों को परमात्मा का शासक सिद्ध कर, श्रुति ने परमेश्वर को अन्य शब्द से चिदचिद् से विलक्षण और दोनों का विशेष्य तथा दोनों से विशिष्ट सिद्ध किया। इस प्रकार इस मन्त्र में विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त पूर्णतः पल्लवित हुआ ।। श्री ।।

संगति— विद्या और अविद्या के नियामक और उन से विलक्षण परमात्मा कौन हैं ? इस पर श्रुति कहती हैं ।। श्री ।।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो भगवान् विद्या, अविद्या, संसार के सभी रूप, देवता, मनुष्य, तिर्यक्, चौरासी लाख योनियों को नियन्त्रित करते हैं तथा उनमें अन्तर्यामी रूप से विराजमान रहते हैं। जो स्वयंभू मनुमन्वन्तर में कर्दम से उत्पन्न हुए, अपने अंशावतार महर्षि कपिल को सांख्य सम्मत, प्रकृति, षोडषविकृति अहं, बुद्धि तथा पंचमहाभूत, पुरुष एवं परमपुरुष परमात्मा इन छब्बीस तत्वों के ज्ञान से धारण और पोषण करते हैं, जिन्होंने स्वयं महाविष्णुरूप से प्रकट होकर देवहूति के गर्भ से जन्म लेते हुए बालक भगवान् कपिल को देखा भी, ऐसे परमात्मा ही विद्या और अविद्या का नियन्त्रण करते हैं॥ श्री॥

व्याख्या– इस प्रसंग में चर्चित कपिल, देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल ही हैं, कोई अन्य नहीं। जो कुछ लोग अपनी हठधर्मितावश कपिल शब्द से त्रिकालद्रष्टा कपलि ऋषि अर्थ निकालते हैं वास्तव में वे वैदिकसंस्कृति की रक्षा नहीं कर रहे हैं। उनके मत में सांख्यचार्य कपिल से औपनिषद् कपिल अलग है, क्योंकि उनकी दृष्टि में सांख्याचार्य कपिल निरीश्वरवादी अवैदिक दर्शन के प्रतिपादक हैं इसलिए उन्हें श्रौतकपिल से अलग होना ही चाहिए। इस पर मेरा यह कहना है कि— सांख्याचार्य कपिल और औपनिषद् कपिल में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वेदान्तदर्शनकार वेदव्यास की भाँति कपिल को भी गीता जी में भगवद्विभूति कहा गया है। यहाँ तक कि महर्षि कपिल को पहले और वेदव्यास को पश्चात् विभूति कहा गया है। 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गीता- १०/२६) 'मुनीनां मप्यहं व्यासः' (गीता- १०/३७)। यदि गीता जी के आधार पर वेदव्यास को भगवद्विभूति माना जा सकता है तो उन्हीं गीता जी के आधार पर महर्षि कपिल को क्यों नहीं? श्रीमद्भागवत में भी प्रथम तथा तृतीयस्कन्ध के आख्यानों में महर्षि कपिल को भगवद् अवतार और सांख्याचार्य कहा गया है। यथा—

पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
साख्यं चासुरये प्रादात् तत्वग्रामविनिर्णयम्॥

—(भा०- १/३/१०)

तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ।।

—(भा० - ३/२४/२६)

अर्थात् भगवान् के पंचम अवतार महर्षि कपिल हैं, जिन्होंने काल के क्रम से लुप्त हुए, छब्बीस तत्वों का निर्णय करने वाले, सांख्य शास्त्र का महर्षि आसुरि के लिए उपदेश किया था। उन्हीं देवहूति ने बहुत समय बीतने के पश्चात् कर्दम के प्रेम पराक्रम का सम्मान करते हुए मधु के शत्रु भगवान् ने अरणि में अग्नि की भाँति कपिल नामक अपने अंशावतार को प्रकट किया। किं बहुना गोस्वामी तुलसीदास जी भी अपनी कालजयी कृति नानापुराणनिगमागमसम्मत श्रीरामचरितमानस में सांख्याचार्य कपिल को ही देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल माना है। यथा—

देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ।।
आदि देव प्रभु दीन दयाला। जठर धरेऊ जेहि कपिल कृपाला ।।
सांख्य शास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्व विचार निपुन भगवाना ।।

—(मानस- १/१४२/५,६,७)

अर्थात् श्रीदेवहूति राजर्षि स्वायंभू की मध्यम पुत्री थी। जो महर्षि कर्दम की प्रिय पुत्री बनी। जो तत्व विचारों में निपुण एवं षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् हैं, जिन्होंने लुप्त हुए सांख्यशास्त्र को प्रकट किया एवं शिष्यों को सुनाया, ऐसे आदिदेव दीनदयालु सर्वसमर्थ्य कृपानिधान भगवान् कपिल को जिन देवहूति ने अपने गर्भ में धारण किया। अथ च प्रच्छन्नबौद्धों को भले ही सांख्य के सिद्धान्त अनुकूल न आते हो तो क्या उससे महर्षि कपिल की भगवत्ता नष्ट हो जायेगी? हम श्रीरामानन्दी वैष्णव सांख्य के बहुत से सिद्धान्तों पर आस्था रखते हैं। जैसे— सांख्य के प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तीन प्रमाणों का सिद्धान्त, सत्कार्यवाद, पुरुषबहुत्ववाद, प्रकृति पुरुष और परमात्मा तत्वत्रय ये सभी सांख्यसिद्धान्त श्रौत हैं और विशिष्टाद्वैतमत को अभिमत भी है।। श्री ।।

संगति— भगवती श्रुति परमात्मा की उत्पत्ति, स्थिति और संहार लीला का फिर से समामनन करती हैं।। श्री ।।

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह परमात्मा जन्म लेने वाले प्रत्येक जीव को जाल की भाँति संसार के नाना प्रकार के सम्बन्धों से विस्तृत करते हुए, इसी संसाररूप क्षेत्र में विराजमान परमात्मा फिर उस जीव को प्रलयकाल में समेट लेते हैं। अनन्तर वही परमात्मा मनु आदि प्रजापतियों की रचना करके सर्वसमर्थ परमात्मा सबका अधिपत्य करते हैं, अर्थात् ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त जीव पर शासन करते हैं॥ श्री ॥

संगति– भगवान् प्रत्येक जीव के स्वभाव का कैसे नियन्त्रण करते हैं ? इस पर श्रुति कहती हैं॥ श्री ॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार भगवान् सूर्य अकेले ही पूर्व आदि सभी दिशायें, आकाश, पाताल आदि समस्त लोकों को अपनी किरणों से प्रकाशित करते हुए दिव्य तेजों से चमत्कृत रहते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणियों के लिए वरणीय ज्ञानादि छहों ऐश्वर्यों से युक्त भगवान् परब्रह्म परमात्मा अकेले ही सम्पूर्ण प्रकृतिक स्वभावों का नियन्त्रण कर लेते हैं॥ श्री ॥

संगति– अब श्रुति भगवान् के ऐश्वर्य का वर्णन करती हैं॥ श्री ॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सारे संसार के कारण भगवान् अपने जिस सामर्थ्य से प्रकृति के स्वभावों को परिपक्व करते हैं अर्थात् पृथ्वी में गन्ध, जल में माधुर्य, अग्नि में तेज, वायु में स्पर्श तथा आकाश में शब्द, इस प्रकार पाचों गुणों को व्यवस्थित करते हैं और जो परमात्मा पाँच पृथ्वी आदि महाभूतों को परिणामी बनाते हैं, जो सम्पूर्ण विश्व के अधिष्ठाता हैं तथा जो विभिन्न स्वभाव वाले सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों को अपने-अपने कार्य में नियुक्त करते हैं वे ही सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा भगवान् हैं॥ श्री ॥

संगति– उन परमात्मा को कौन जानते हैं और उनके जानने का क्या फल है? इस पर श्रुति कहती हैं॥ श्री॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च ततद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह ब्रह्म सामान्य मनुष्य की कल्पना से प्रसूत नहीं है। वह वेद की चरमभागभूत उपनिषदों में निहित है। वेदों के जन्मदाता उस ब्रह्म को चतुर्मुख ब्रह्मा, शिव आदि देवता, सनकादि ऋषि गण और नारद आदि देवर्षिगण जानते हैं। जो लोग परब्रह्म को सेव्य रूप से जान चुके हैं, वे मरणधर्म से रहित होकर परमात्मा के नित्य किंकर बन गये॥ श्री॥

संगति– इस प्रकार गुणगणविशिष्ट परमात्मा के अंशभूत जीव का स्वरूप क्या है? इस पर श्रुति भगवती कहती हैं॥ श्री॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवद्भजन से विमुख यह जीव सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों का अनुगमन करता है और फल देने वाले कर्मों का कर्त्ता तथा किये हुए कर्मों को भोगता है। इसलिए गोस्वामी जी ने कहा—

'करम प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'

सारे रूप उसी के हैं अथवा विश्व ही उस जीवात्मा का रूप है। यह सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से बँधा है। आकाश, पाताल, मृत्युलोक ये तीन मार्ग हैं। यह प्राणादि पंचवायुओं का स्वामी अपने कर्मों के अनुसार संसारसागर वन में सतत् भ्रमण करता रहता है॥ श्री॥

संगति– अब श्रुति जीवात्मा के स्वरूप का निर्धारण करती हैं॥ श्री॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जीव दो प्रकार का होता है, एक भगवत् प्रपन्न और दूसरा भगवद्विमुख। सामान्यतः जीव सूर्य के समान तेज वाला

होता है, परन्तु मन के संकल्प और बुद्धि के अहंकार से युक्त होकर वह अंगूठे के बराबर अल्प हो जाता है। संकल्प मन का गुण है और बुद्धि आत्मा का। इससे अतिरिक्त जो भगवत्प्रपन्न है वह आरे के अग्रभाग के समान तीक्ष्ण होता है। इस प्रकार वह ऋषियों और महापुरुषों द्वारा देखा गया है ॥ श्री ॥

संगति– सूक्ष्म जीव भी भगवान् के भजन की महिमा से अनन्त हो जाता है, अर्थात् विनाशरहित हो जाता है। इस पर भगवती श्रुति कहती हैं ॥ श्री ॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– बाल के अग्रभाग के सौवें भाग के सौवें भाग का जो आकार अर्थात् बाल के अग्रभाग के दस हजारहवें भाग के समान आकार वाला यह जीव भगवान् के भजन की महिमा से अनन्त हो जाता है, अर्थात् केश के अग्रभाग के दस हजारहवें भाग के समान जीव को अत्यन्त अणु समझना चाहिए। वही भगवान् का भजन करते-करते विनाश की सीमाओं को प्राप्त कर लेता है ॥ श्री ॥

संगति– इस जीव का स्वरूप क्या है? इस पर भगवती श्रुति कहती हैं ॥ श्री ॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह जीवात्मा न तो स्त्री है, न ही पुरुष और यह नपुंसक भी नहीं है, यह भगवान् का दास तथा पुत्र है। यह पुरुष की आकृतिवाला है। चूँकि परमात्मा का पुत्र है इसी उपनिषद् में श्रुति ने 'अमृतस्य पुत्रः' कहा और यहाँ भी एषः, अयं, सः ये तीन पुल्लिंग सर्वनाम ही इसके लिए कहे गये हैं। अत; त्रिलिंगरहित होकर भी यह पुरुष जैसे व्यवहार में आता है। यह जिस-जिस शरीर को प्राप्त करता है उस-उस शरीर के द्वारा इसकी रक्षा होती है अर्थात् पुल्लिग शरीर प्राप्त कर पुल्लिंग, स्त्रीलिंग प्राप्त कर स्त्री तथा क्लीब का शरीर प्राप्त कर नपुंसक हो जाता है। इसका व्यक्तिगत कोई लिंग नहीं होता ॥ श्री ॥

संगति– अब जीव के संसारसागर के भ्रमण का निरूपण करते हैं ।। श्री ।।

संङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह जीव अपने पूर्व जन्म के संङ्कल्प से तथा माता पिता के रिरंसारूप संकल्प से एवं गर्भाधान एवं दृष्टि अर्थात् भगवद्विमुख चिन्तन से इस जीव का जन्म होता है। जल वृष्टि आदि से ही जीव का जन्म और उसकी समृद्धि होती है ।। श्री ।।

संगति– अब श्रुति जीवरूपवर्णन में गुणों की कारणता कहती है ।। श्री ।।

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ।।१२।।

रा०कृ०भा० सामन्यार्थ– यह जीवात्मा अपने संस्कार के गुणों से और अपने प्रारब्धजनित शरीर के गुणों से हाथी आदि बहुत से स्थूल शरीरों को तथा चींटी आदि सूक्ष्म शरीरों को स्वीकार करता है। उसका संयोगहेतु इससे विलक्षण कोई दूसरा भी देखा गया है। अर्थात् संस्कार और शरीर के गुणों से ही जीवात्मा में विलक्षण शरीर का प्रवेश होता है ।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार छः श्लोकों से जीव के स्वरूप का वर्णन करके परमकारुणिक श्रुति जीव की मुक्ति का उपाय भी कहती हैं ।। श्री ।।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।१३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो अनादि और अनन्त हैं, जो प्रेमरूप-पंक में भक्ति के द्वारा फँसा लिए जाते हैं, जो संसार के रचयिता और अनेक रूप वाले हैं, ऐसे अपनी महामहिमा से सारे संसार को आवृत्त करने वाले, एक मात्र अद्वितीय परमात्मा श्रीराम को अपने नाथ के रूप में जान कर जीव संसार के सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है ।। श्री ।।

संगति– परमात्मा के ज्ञान से मायामयशरीर की निवृत्ति हो जाती है। इसी तथ्य को स्पष्ट करके अध्याय समाप्त करते हैं ।। श्री ।।

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भक्तों के भावों से ग्रहण किये जानेवाले, गृहासक्ति से रहित, परमहंस महात्माओं द्वारा व्याख्यायित होने वाले, भक्तों में भक्तभाव और दुष्टों में बलाभाव करने वाले, कल्पाणस्वरूप षोडशकलात्मक सृष्टि के करने वाले, ऐसे देवाधिदेव परमात्मा है अथवा वे शरीरप्रपंच को छोड़ कर भगवान् के नित्यकैंकर्य को प्राप्त कर चुके हैं।। श्री ।।

व्याख्या– भगवान् की प्राप्ति के लिए शास्त्रों में शान्त, वात्सल्य, दास्य, सख्य, मधुर ये पाँच भाव स्वीकारे हैं। इनमें से किसी एक के द्वारा भगवान् ग्रहण किये जा सकते हैं। संत हंस पक्षी के समान उड्डयन स्वभाव वाले होते हैं। भगवान् के चरणकमल ही उनके क्रीडा स्थान होते हैं। जिन संत परमहंसों के पास कोई नीड़ अर्थात् गृहरूप घोंसला नहीं है उन्हीं के द्वारा भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम का संकीर्तन किया जाता है। 'अनीडैराख्यायते इति अनीडाख्य:' भगवान् इस जगत् के भाव रूप सर्जन तथा अभावरूप विसर्जन भी करने वाले हैं।। श्री ।।

इति श्रीश्वेताश्वत उपनिषद् के पञ्चम अध्याय पर श्रीतुलसीपीठाधीश्वर
रामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य कृत श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। अथ छठाअध्याय ।।

सम्बन्ध– इस उपनिषद् में छः अध्याय हैं और यह पूर्णतया भगवान् की महिमा का ही पतिपादन करती हैं। इन अध्यायों में क्रम से एक-एक ऐश्वर्य का प्रतिपादन हुआ है। संयोग से भगवान् के छठें ऐश्वर्य वैराग्य का इस उपनिषद् के छठे अध्याय में प्रतिपादन है। सर्वप्रथम उपनिषद् के प्रथम अध्याय में उत्थापित हेतु अनुवादक पक्षों का निरसन करते हैं।। श्री ।।

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– कुछ साधारण लोग अपने-अपने स्वभाव को ही संसार का हेतु कहते हैं और कुछ भगवान् की माया से मोहित हुए लोग काल को ही जगत् का हेतु मानते हैं। वास्तव में देवाधिदेव परमात्मा की यह महिमा ही बड़ी विचित्र है। जिसके द्वारा ब्रह्मा का निर्मित यह सृष्टिचक्र सदैव घुमाया जा रहा है। अर्थात् कालादि अत्मपर्यन्त हेतु केवल हेत्वाभास है। जगत् की उत्पत्ति तथा पालनप्रलय में केवल भगवान् की महिमा ही हेतु है।। श्री ।।

संगति– जिसकी महिमा से यह ब्रह्मचक्र घुमाया जा रहा है, उसी भगवान् के स्वरूप का निर्वचन किया जाता है।। श्री ।।

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिज्ञासुओं को सावधान करते हुए श्वेताश्वतर कहते हैं— जिन भगवान् के द्वारा समस्त संसार आवृत्त अर्थात् ढका हुआ है और जो निरवयवकाल के रचियता हैं, जिनमें हेयगुण प्रत्यनीक सभी लोकोत्तर कल्याणगुणगण निरन्तर विराजते हैं, सभी विद्यायें जिनसे प्रकट होती हैं, उन्हीं परमात्मा के द्वारा प्रेरित सम्पूर्ण कर्मतन्त्र शास्त्र की व्यवस्था से चल रहा है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश उन्हीं परमात्मा के द्वारा प्रेरित होकर अपने-अपने कार्य में लगे हैं, ऐसे वे परमात्मा नित्य है और वे चिन्तन के विषय भी हैं।। श्री ।।

व्याख्या– 'गुणी' शब्द का प्रयोग करके श्रुति ने स्वयं निर्गुणवाद के प्रासाद को ढहा दिया क्योंकि 'गुणी' शब्द में प्राशस्त्य और नित्य अर्थों में मत्वर्थीय 'इक्' प्रत्यय हुआ अर्थात् 'गुण' कभी भगवान् को छोड़ ही नहीं सकते। सभी सद्गुणों के भगवान् ही नित्य आधार हैं। ऋग्, यजु, अथर्व, साम, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्यौतिष, छन्द, व्याकरण, मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय ये चौदह विद्यायें शास्त्रों में कही गयी हैं। इन सबके आधार भगवान् ही हैं॥ श्री॥

संगति– अब चिन्तनीय परमात्मा का स्वरूप कहा जा रहा है॥ श्री॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– शास्त्रविहित कर्म करके, फल प्राप्ति की वेला में फिर उससे मन को हटा कर, अपने स्वस्वरूप, जीवतत्व, अव्यक्त, लोक, परलोक, सत्व, रज, तम अथवा पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लौकैषणा वृत्तियों, पंच प्राणवृत्ति,चार अंतःकरण इन सभी सूक्ष्मशरीरधर्मों से उस परमतत्व परमात्मा का योग अर्थात् सेवकसेव्यभाव सम्बन्ध प्राप्त करके, सर्वतोभावेन शरीर की ममता छोड़ कर भगवान् का चिन्तन करना चाहिए॥ श्री॥

संगति– अब परमेश्वर प्राप्ति में साधनों का वर्णन करते हैं— क्योंकि वेद के तीनों काण्ड भगवान् के प्राप्ति के उपाय का ही वर्णन करते हैं। श्रुति के विधिवाक्यों के अनुसार भगवद् आज्ञा मान कर किया हुआ कर्म भगवद् भजन में प्रत्यवाय विघ्नों को दूर कर देता है। उसी प्रकार भगवान् की निष्काम उपासना भगवत्प्राप्तिविरोधिनी वासना को समाप्त करती है। श्रवण, मनन निदध्यासन से उत्पन्न हुआ ज्ञान, आवरणों को नष्ट करके प्रभु के निरावरण चरणारविन्दों के दर्शन में सहायक होता है। इसलिए तीन मन्त्रों में श्रुति तीनों काण्डों की व्याख्या करके उन्हें भगवत् प्रतिपादन में परमसाधन के रूप में उपस्थित कर रही हैं॥ श्री॥

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि, भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों से युक्त शास्त्रविहित कर्म प्रारम्भ करके, उन कर्मों के व्यापारों तथा फलों को

जो परमात्मा में ही समर्पित कर देता है, वह भगवान् में समर्पित कर देने से व्यापारों तथा कर्मफलों के नष्ट हो जाने पर साधक चित् और अचित् से विलक्षण परमतत्व परमात्मा को प्राप्त कर लेता है॥ श्री॥

व्याख्या– जब परमात्मा के चरणों में कर्मफल समर्पित कर दिये जाते हैं, तब उनकी क्रिया भी स्वत: भगवान् को समर्पित हो जाती है। क्योंकि भगवान् स्वयं श्रीमद्भागवत में गोपियों से कहते हैं कि— जिनकी बुद्धि मुझ में लग जाती हैं उनकी कामनायें किसी दूसरी कामना को जन्म नहीं देतीं क्योंकि उबला एवं भुना हुआ धान अंकुर नहीं कर सकता। जब कर्मफल और व्यापार भगवान् को समर्पित कर दिये गये तो कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं और उनके नष्ट होने पर बंधनों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार शुभाशुभ बंधनों से मुक्त होकर प्रारब्धजनित शरीर का त्याग करके अपने में अध्यस्थ देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इन चारों अनात्मभावों को छोड़ कर, विशुद्ध आत्मभाव से ओत-प्रोत जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है॥ श्री॥

संगति– अब श्रुति उपासना से भगवत्प्राप्ति का व्याख्यान करती है॥ श्री॥

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो भगवान् सबके आदि में वर्तमान हैं, प्रलयकाल में जो सब का अदन अर्थात् सब का भक्षण कर जाते हैं, जो पंचमहाभूतों के पंचीकरण में निमित्त (एकोऽहं बहुस्याम इस प्रकार के) संकल्प से भी हेतु हैं और जो भूत, भविष्यत्, वर्तमान नहीं है ऐसे 'अ' अर्थात् वासुदेव से भी श्रेष्ठ महाविष्णु परब्रह्म परमात्मा हमारे द्वारा ठीक-ठीक दृष्ट अर्थात् देख लिये गये हैं। उन्हें स्तुति करने योग्य 'भव' अर्थात् भगवान् शंकर, 'भूत' अर्थात् जिस से उत्पन्न हुए हैं ऐसे महादेव के भी जन्मदाता, अपने चित्त में विराजमान देवाधिदेव परमात्मा श्रीराम को उपासना का विषय बना कर उनकी पूजा करके जीव कृतकृत्य हो जाता है॥ श्री॥

संगति– ज्ञान से भी भगवद्भक्ति प्राप्त होती है श्रुति इसका निरूपण करती हैं॥ श्री॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वे भगवान् वृक्षरूप शरीर, भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल तथा आकृतियों से विलक्षण हैं। जिनके प्रकाश से यह प्रपंच सतत् परिवर्धित हो रहा है, ऐसे सनातन धर्म को आदर पूर्वक धारण करने वाले, पापहारी, भव अर्थात् संसार और भगवान् शंकर के भी ईश्वर अपने हृदय में स्थित आत्मा अर्थात् आत्मभूत अपनी धर्मपत्नी श्रीसीता के साथ वर्तमान, मरणधर्म से रहित, पापहारी हंसवंशावतंस श्री हरि परमात्मा भगवान् राम को अपने स्वामी के रूप में जान कर साधक परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ।। श्री ।।

व्याख्या– इस शरीर को ही वृक्ष कहा गया है। इससे भगवान् विलक्षण हैं क्योंकि मनुष्य का शरीर सप्तधातुमय मलवाही तथा व्याधियों का मंदिर है परन्तु भगवान् का शरीर पंचभूतातीत निर्मल तथा निरोग है। 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तैत०- २/७) भूत, वर्तमान, भविष्यत् इन तीनों कालों से परे हैं इसलिए वाल्मीकि ने रामायण में उन्हें काल का अनुगामी नहीं कहा। "न च काल वशानुगः" (वा०रा०- २/१/२९) बालकाण्ड के प्रथमसर्ग के सत्तानवें श्लोक में नारद जी ने स्पष्ट कहा है कि— इस प्रकार सहस्र और दस सौ वर्ष पर्यन्त राज्य की उपासना करके परब्रह्म श्रीराम भक्तजनों के दर्शन के विषय बन जायेंगे। शत और सहस्र शब्द अनन्त के वाची हैं। भगवान् की आकृति भी मनुष्य की आकृति से विलक्षण है।। श्री ।।

कौन हो सका कहो आज तक
पुरुष पुरातन आत्मा राम।
कौन रह सका सतत् एक रस
निखिल लोक लोचनाभिराम।।
कौन हुआ इस वसुन्धरा पर
मनुज नील मणि जलधर नील।
किसका रिपुओं ने भी गाया
मुक्त कण्ठ से अनुपम शील।।

संगति– अब साधक भगवान् को जानने के उन से प्रार्थना करता है ।। श्री ।।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– शंकर आदि ईश्वरों के परम महेश्वर, इन्द्रादि देवताओं के परम देवता, दक्ष आदि प्रजापति के भी स्वामी, परमपूज्य, सबके आराध्य, सारे संसार के ईश्वर, सबसे परे, उन परमात्मा को हम जानें ।। श्री ।।

संगति– फिर श्रुति भगवान् की महिमा का स्तवन करती हैं।। श्री ।।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– परमात्मा का न तो कोई कार्य है और न ही कोई कारण। इस विधाता की सृष्टि में कोई भी न तो परमात्मा के समान दिखता है और न ही अधिक। भगवान् की अनेक विधाओं वाली परम श्रेष्ठ स्वाभाविकी (आह्लादिनी) ज्ञानक्रिया 'सम्वित' बलक्रिया 'सन्धिनी' ये तीन शक्तियाँ सुनी जाती हैं।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ कार्यशब्द कर्तृजन्य शब्द का बोधक है। जो लोग यहाँ कार्य शब्द से केवल शरीर का बोध करके उसी का निषेध करना चाहते हैं उन्हें भ्रम है क्योंकि श्रुति ने "आकाशशरीरं ब्रह्म" कह कर प्रभु के शरीर को स्पष्ट प्रमाणित किया है। अत: यहाँ 'कार्य' शब्द का कर्तृजन्यशरीर अर्थ करना चाहिए। भगवान् का शरीर कर्त्ता से उत्पन्न नहीं होता उसमें पिता का शुक्र और माता का रज कारण नहीं बनता।। श्री ।।

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।

—(मा०- १/१९२)

चिदानन्द मय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी।।

—(मा०- २/१२७/५)

यहाँ कार्य और करण के निषेध में केवल इतना ही अभिप्राय है कि— भगवान् में देहदेहिभाव नहीं रहता वे जो बाहर हैं वही भीतर, बाहरी-भीतरी अन्तर तो जीव में होता है। बाहर से कितना सुन्दर रूप

और छुरी से काट कर देखा जाय तो भीतर से कितना घिनौना। परन्तु भगवान् का सब कुछ आनन्दमय है, वे सदैव प्रियदर्शन है ''सदैव प्रियदर्शनः'' इसलिए न तो कोई प्राणी उनके समान है और न ही अधिक। 'दृश्यते' से श्रुति का तात्पर्य यह है कि— उन्होंने जो कुछ कहा है वह परमात्मा का दर्शन करके ही कहा है। शास्त्रों में भगवान् की तीन शक्तियाँ कही गयी हैं। आह्लादिनी, सम्वित् और सन्धिनी। सन्धिनी से भगवान् जगत् की उत्पत्ति, पालन, संहार करते हैं। सम्वित शक्ति से अनन्त ब्रह्मण्डों का ज्ञान रखते हैं तथा आह्लादिनी से स्वयं प्रसन्न रहते हैं और भक्तजनों को प्रसन्न रखते हैं। यहाँ 'स्वाभाविकी' शब्द से आह्लादिनी, ज्ञान से सम्वित् तथा बल शब्द से सन्धिनी शब्द का संकेत है। विष्णुपुराण में भगवान् पाराशर मैत्रेयी से कहते हैं—

शक्तयश्च हरेः प्रोक्तास्तिस्रस्ताः शास्त्रसम्मताः।
आह्लादिनी सन्धिनी च संविच्चेति विशांपते ।।

—*(विष्णु पु०- ४/६/२५)*

संगति– फिर श्रुति भगवान् के निरतिशय ऐश्वर्य का वर्णन करती हैं ।। श्री ।।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उन परमात्मा का इस दृश्यमान जगत् में कोई स्वामी नहीं है, वे सबके स्वामी हैं। उन प्रभु का कोई प्रेरक नहीं है, वे ही सर्व अन्तर्यामी तथा सबके प्रेरक हैं। परमेश्वर का कोई विशिष्ट लिंग नहीं है क्योंकि वे सर्वरूप हैं। वे सबके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं तथा भगवान् ही दस इन्द्रियाँ तथा चार अन्तःकरण इन सबके स्वामी, सूर्यादि देवता और उनके भी अधिपति, प्रत्यागात्मा के भी अधिपति अर्थात् स्वामी हैं। उन परमेश्वर राम का न तो कोई जन्म देने वाला है और न ही कोई स्वामी, प्रभु श्रीराम ही सबके माता पिता तथा सबके स्वामी हैं।। श्री ।।

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥

संगति– इस प्रकार से तीन मन्त्रों से परमात्मा का वर्णन करके अब उन से प्रार्थना की जा रही है॥ श्री॥

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वामावृणोत्।
स नो दधाद् ब्रह्माप्ययम्॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार तन्तुनाभ अर्थात् मकड़ी अपने ही शरीर से उत्पन्न अपने ही तन्तुरूप जालों से स्वयं को ढक लेती है, उसी प्रकार जो भगवान् अपने ही शरीररूप प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों से स्वयं को ढके रहते हैं, वे ही प्रभु परमेश्वर हमारे 'ब्रह्माप्यय' अर्थात् स्वयं में मेरे द्वारा समर्पित सम्पूर्ण वृत्तलय का पोषण करें॥ श्री॥

संगति– फिर श्रुति भगवान् के ऐश्वर्य का वर्णन कर रही है॥ श्री॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥११॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस मन्त्र में दस विशेषणों से भगवान् का निरूपण किया गया है। भगवान् एक हैं क्योंकि उन्हीं में असमूर्ध्वानन्द है। वे देव अर्थात् परमप्रकाशमान हैं, वे कहीं दूर नहीं, सभी प्राणियों की हृदयगुफा् में छिपे रहते हैं। वे सर्वव्यापक हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तर आत्मा अर्थात् सर्व अन्तर्यामी हैं। वे परमेश्वर जीवों के शुभाशुभ कर्मों के नियामक हैं तथा भगवान् सम्पूर्ण भूतों में अधिकृत रूप में निवास करते हैं। वे साक्षीभाव से सब कुछ देखते रहते है। वे चेता अर्थात् चिन्मय हैं, वे केवल यानि किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखते हैं, निर्गण अर्थात् भक्तों के हेयगुणों को निराकृत करके मायामय गुणों को निरस्त करते हुए सम्पूर्ण गुणों को अपने में निर्लीन करते हुए, निरुपम, निरुपद्रव निरतिशय, निर्दोष, निःशेष सद्‌गुणों से युक्त हैं और चकार से वे ही सगुण भी हैं॥ श्री॥

संगति– शाश्वत्सुख भगवद्दर्शन के अधीन हैं। श्रुति यही निश्चय करती हुई कहती है॥ श्री॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥१२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो परमात्मा एक और महाकाल के भी नियन्ता हैं, जो स्वतन्त्र रूप से कार्य में अक्षम बहुत से भक्तों के बीजभूत छोटे से मनोरथ को बहुत प्रकार से विशाल कर देते हैं, उन्हीं अपने मनोमन्दिर में विराजमान, परमात्मा को जो सतत् अनुकूल बुद्धि से निहारते रहते हैं, उन्हीं को शाश्वतसुख की प्राप्ति होती है दूसरों को नहीं॥ श्री॥

संगति– भगवान् आनन्दमय हैं। इसलिए श्रुति उन्हीं परमात्मा को फिर अभ्यस्य कर रही हैं॥ श्री॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना–
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥१३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो परमात्मा नित्य जीवों के नित्य स्वामी हैं, जो चेतन जीवों के भी चेतन अर्थात् उनकी चेतना के प्रेरक हैं, जो एक होते हुए आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी, ज्ञानी इन सबकी कामनाओं को पूर्ण करते हैं और पोषण देते हैं। उन्हीं समस्त विश्व के कारण और सांख्ययोग अर्थात् आत्मानात्मविवेक से प्राप्त होने वाले देवाधिदेव परमात्मा को अपना मान कर जीव सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ श्री॥

व्याख्या– इस मन्त्र में श्रुति ने नित्यानां, चेतनांनां, बहूनां इन तीन षष्ठ्यन्तों से जीव का तथा 'नित्यः चेतनः और एकः' इन तीन प्रथमान्तों से ब्रह्म का संकीर्तन करके जीव और ब्रह्म का सनातन भेद कहा, क्योंकि षष्ठी सम्बन्ध में होती है और उसका अनुयोगी प्रथमान्त होता है। सम्बन्ध प्रतियोगी रह कर विशिष्टबुद्धि का नियामक होता है। इसी से श्रुति ने विशिष्टाद्वैतवाद का संकेत भी किया। तीन बार षष्ठ्यन्त का प्रयोग करके श्रुति ने यह भी इंगित किया कि नित्य,मुक्त, बध्य इन तीनों जीवों का भगवान् से तीनों कालों में शाश्वत सम्बन्ध हैं॥ श्री॥

संगति– अब ज्ञेय परमात्मा का लोकोत्तरमाहात्म्य कहा जा रहा है ॥ श्री ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– उस परमात्मा के परम प्रकाशमान होते रहने पर न तो सूर्य प्रकाश करते हैं और न शोभित होते हैं, वहाँ चन्द्रमा के सहित तारामण्डल भी नहीं प्रकाशित होता। ये बिजलियाँ वहाँ नहीं प्रकाशित होती तो सामान्य यह अग्नि और इससे बना हुआ दीपक उस रधुकुल दीपक श्रीराम को कैसे प्रकाशित करेगा। सबको प्रकाशित करते हुए और स्वयं शोभित होते हुए उन्हीं परमात्मा का अनुगमन करते हुए सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत ये सब प्रकाशित हो रहे हैं और उन्हीं परमात्मा के प्रकाश से यह सम्पूर्ण चिदचिदात्मक जगत् आभामय हो रहा है ॥ श्री ॥

व्याख्या– परब्रह्म श्रीराम के पीताम्बर के प्रकाश से सूर्य निस्तेज हो जाते हैं। प्रभु की मुखचन्द्र मरीचियों से चन्द्रमा और प्रभु के आभूषणों से तारागंण अभिभूत हो जाते हैं। प्रभु की दन्तपक्तियों से विद्युत का प्रकाश फीका पड़ जाता है फिर यह छोटा सा आग्नेय दीपक उन दिनकरकुलदीपक को कैसे दीप्त कर सकेगा ॥ श्री ॥

प्रभु की पटपीतप्रभा से दिवाकर
तेज प्रसार न पाता वहाँ,
हरि की मुखचन्द्र मरीचियों से,
हत चन्द्रमा भी न सुहाता वहाँ ॥
रघुवंश विभूषण भूषणों से,
रहा तारकवृन्द लजाता वहाँ ।
चपला प्रभु की रदज्योति से व्रीडित
पावक क्यों सरसाता वहाँ ॥१४॥

संगति– अब मुक्ति के लिए भागवद् ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान का निराकरण करते हैं॥ श्री॥

एको हꣳ सो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥१५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– एक ही भगवान् चौदहों भुवनों में हंस के समान विराजमान हो रहे हैं। जैसे हंस नीरक्षीरविवेक कर लेता है उसी प्रकार भगवान् भी भक्त के नीररूप दोषों को छोड़ कर क्षीररूप गुणों को ग्रहण करते हैं। वे ही जलाशय समुद्र के मध्य वाडवाग्नि के रूप में विराजते हैं। उन्हीं परमात्मा को अपने इष्ट देव के रूप में जान कर तथा मान कर साधक मरणधर्म से अतिक्रान्त साकेतलोक और साकेतपति परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। परमात्मा के पास पहुँचने के लिए भगवद् उपासना रूप परमात्मज्ञान के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है॥ श्री॥

संगति– भगवद् गुणगान में श्रुति को आलस्य नहीं आता इसलिए फिर वह अगले मन्त्र में मननीय परमात्मा का मनन कर रही हैं॥ श्री॥

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः सꣳसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः॥१६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वे ही परमात्मा इस संसार के रचयिता और इस संसार के जानने वाले भी हैं। वे ही नित्य मुक्त, बध्य इन तीनों जीवात्माओं के आश्रयदाता भी हैं। वे सर्वज्ञ हैं। वे काल के भी जन्म देने वाले तथा सभी श्रेष्ठ कल्याण गुणों के नित्य निवास स्थान एवं सभी चौदहों विद्याओं के प्रवर्तक भी हैं। वे ही भगवान् प्रधान अर्थात् प्रकृति तथा क्षेत्रज्ञ यानि अपने शरीर को जानने वाला जीवात्मा इन दोनों प्रकृति और जीवात्माओं के स्वामी भी हैं। वे ही संसार के बन्धन, स्थिति और मोक्ष के कारण हैं अथवा संसार के बन्धन में स्थिति रखने वाले मुमुक्षुओं के मोक्ष के कारण भी हैं॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ 'प्रधान' शब्द प्रकृति तथा क्षेत्रज्ञ शब्द जीवात्मा का वाचक है। भगवान् इन दोनों के पति हैं इसलिए गीता (१३/३) में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा— 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' अर्थात् हे अर्जुन! सम्पूर्ण क्षेत्रों में वर्तमान क्षेत्रज्ञ जीवात्मा और मुझ परमात्मा को भी जानो। यदि भगवान् को क्षेत्रज्ञ उनसे अभिन्न रूप में ही अभीष्ट होता तो 'चापि' न कह कर 'एव' कह देते यहाँ चकार समुच्चय के लिए है। इस प्रकार प्रधान से अचित्, क्षेत्रज्ञ से चित् और पति से पदविशिष्टसिद्धान्त का प्रतिपादन करके श्रुति ने इस मन्त्र में उन्मुक्तरूप से विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया है॥ श्री॥

संगति– अब सर्वसमर्थ परमात्मा के लोकोत्तर सामार्थ्य का वर्णन करते हुए शरण्यप्रकरण का उपसंहार करते हैं। वास्तव में तो इस उपनिषद् के छः अध्यायों से छः प्रकार की शरणागति का ही वर्णन किया गया है। प्रथम अध्याय में आनुकूल्य का संकल्प, द्वितीय अध्याय में प्रतिकूल्य का वर्जन, तृतीय अध्याय में परमेश्वर के रक्षकत्व पर विश्वास, चतुर्थ अध्याय में अपनी रक्षा के लिए परमेश्वर का वरण, पंचम अधय में कार्पण्य और षष्ठ अध्याय में आत्मनिक्षेप का वर्णन है॥ श्री॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव
नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय॥१७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वह परब्रह्म तन्मय अर्थात् वेद, वेदान्त वेद वे ही हैं और स्व्यं वे निर्गुणब्रह्म की प्रतिष्ठा भी हैं। मानवाकार होकर भी वे अमृत अर्थात् मरणधर्मा नहीं है। ब्रह्मा आदि सभी ईश्वर कोटि के देवता उन्हीं में विराजते हैं और वे भी ईश अर्थात् भगवान् शंकर के हृदय में विराजते हैं। ऐसे प्रभु श्रीराम सर्वज्ञ और सर्वत्रगामी हैं। वे इस अनन्त भुवनात्मक जगत् के रक्षक हैं। वे इस जगत् का शासन करते हैं। इस विविधता भरे संसार के शासन के लिए परमात्मा के अतिरिक्त और कोई हेतु नहीं है॥ श्री॥

व्याख्या– गीता (१४/२७) में भगवान् ने स्वयं को ब्रह्म की प्रतिष्ठा कहा है। अत: 'तन्मय' शब्द का निर्गुणब्रह्म की प्रतिष्ठा सगुणब्रह्म ही होगा। 'ईशे' शब्द प्रथमपुरुष एकवचन के स्थान पर व्यत्यय से उत्तमपुरुष एकवचन में बना है और 'जगत:' की षष्ठी 'मातु: स्मरति' की भाँति कर्म की शेषत्वविवक्षा में हुई है॥ श्री॥

संगति– इस प्रकार सभी प्रश्नों का उत्तर देकर महर्षि श्वेताश्वतर सभी जिज्ञासुओं के साथ भगवान् की शरणागति के लिए प्रार्थना कर रहे हैं॥ श्री॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥१८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो परमात्मा प्रत्येक कल्प में सृष्टि के पूर्व अपने नाभिकमल को माध्यम बना कर ब्रह्मा को जनम देते हैं, जो ब्रह्म परमेश्वर वर्णाश्रम की मर्यादा की रक्षा के लिए ऋक्, यजु:, साम, अथर्व चारों वेदों को निश्चय करके सर्वप्रथम ब्रह्मा जी को ही समर्पित करते हैं, ऐसे आत्मा और बुद्धि को प्रकाशित करने वाले उन देवाधिदेव परब्रह्म श्रीराम को ही भवबन्धनों से इच्छा से मुक्त होने वाला मैं, उन्हें अपने शरणरूप में स्वीकार कर उन्हीं को प्रपन्न हो रहा हूँ॥ श्री॥

व्याख्या– यही मन्त्र भगवत् शरणागति का मूल है। सर्वप्रथम भगवती श्रुति ने यहीं शरणागति का उद्घोष किया। शास्त्रों में शरणागति के छ: भेद कहे गये हैं। भगवान् की अनुकूलता का संकल्प, भगवान् की प्रतिकूलता का वर्जन, 'भगवान् रक्षा करेंगे ही' इस प्रकार का दृढ़ विश्वास, रक्षा के लिए भगवान् का वरण करना, कार्पण्य अर्थात् अपनी दीनता का ख्यापन, आत्मनिक्षेप अर्थात् अपने को परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देना। इस मन्त्र में 'ह' तथा 'वै' ये दो निपात शरणागति के सन्दर्भ में पढ़े गये हैं और पूर्वार्द्ध में 'वै' 'च' दो निश्चयवाचक शब्दों का पाठ है। ये चारों निपातवाचकशब्द चार प्रकार के शरणागति का संकेत करते हैं तथा मुमुक्षु शब्द से कार्पण्य और अहं शब्द से आत्मनिक्षेप का संकेत है। जब साधक को यह बोध हो जाय कि— उसका अभीष्ट प्रभु के अतिरिक्त कोई नहीं सिद्ध कर सकता, इस प्रकार महाविश्वास के साथ अपने उपेय

भगवान् के चरणों में उपाय की याचना करते हुए प्रपन्न हो जाना ही शरणागति है। यहाँ 'प्रपद्ये' शब्द ही प्रपत्तियोग का सूत्र है। यही जगद्गुरु आद्यरामानन्दाचार्य का अभीष्ट भी है। उनका कथन भी है कि 'सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मता:' शरणागाति सूत्र का यह मन्त्र इस अध्याय का अठारहवाँ है। शरणागति की वैदिकता सिद्ध करने के लिए महर्षि वाल्मीकि ने युद्धकाण्ड के अट्ठारहवें सर्ग में शरणागतिसिद्धान्त का वर्णन किया। चूँकि प्रपत्ति श्रुति द्वारा अट्ठारहवें श्लोक में कही गयी इसीलिए प्रपत्तियोग को महातात्पर्य सिद्ध करने के लिए भगवान् ने अठारह अध्याय में गीता जी का उपदेश किया।। श्री ।।

संगति– अब यहाँ दो प्रश्न हैं— भगवान् की ही, शरणागति ही यहाँ लेनी चाहिए ? यदि शरणागति इष्ट है तो इतने बड़े ग्रन्थ प्रबन्ध से क्या लाभ ? इस पर श्रुति कहती हैं।। श्री ।।

निष्कलं निष्क्रियँ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परँ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्।।१९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो समस्त कलाओं से ऊपर हैं, तथा जिन में सभी कलायें हैं, जो सम्पूर्ण कर्मबन्धन से मुक्त हैं, जो परमशान्त, पापरहित तथा कर्म के लेप से दूर हैं, जो अमृतरूप आनन्द के मर्यादा सेतु हैं अथवा अमृतरूप जीवात्मा के लिए संसारसागर में श्रेष्ठ सेतु हैं, जो ईंधन को भष्म करने वाले अग्नि के समान स्मरणमात्र से पापराशि को जला डालते हैं, ऐसे देवाधिदेव परमात्मा को मुमुक्षु मैं शरणागति हो रहा है।। श्री ।।

संगति– अब भगवती श्रुति परमात्मज्ञान की अनिवार्यता कह रही है।। श्री ।।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।।२०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवती श्रुति बहुत दृढ़ता से कहती हैं— जब कभी अपने हाथ में लिए हुए चर्म की भाँति यत्न करते हुए महामानव लोग आकाश को अपने हाथ से ढक सकेंगे, तभी परब्रह्म परमात्मा

श्रीराम को अपने इष्टदेव के रूप में न जान कर भी उन मनुष्यों के दुःख का अन्त हो सकेगा ॥ श्री ॥

व्याख्या– जैसे हाथ से आकाश का ढंकना असम्भव है उसी प्रकार परमात्मा को जाने बिना दुःख का नाश असंभव है। जैसा कि नव असम्भवों का उदाहरण देते हुए हमारे प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास महाराज मानस उत्तरकाण्ड में कहते हैं—

कमठ पीठ जामहिं बरू बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा ॥
फूलहिं नभ बरु बहुविधि फूला ।जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला ॥
तृषा जाय बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस विषाना ॥
अन्धकारू बरु रविहि नसावै। राम विमुख न जीव सुख पावै ॥
हिम ते अनल प्रकट बरु होई। विमुख राम सुख पावन कोई ॥
बारि मथैं घृत होई बरु सिकता ते बरु तेल ॥
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धान्त अपेल ॥

—(मानस- ७/१२२,१५ से १९ तक)

संगति– अब सम्प्रदाय परम्परा की व्याख्या करते हैं ॥ श्री ॥

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥२१॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– तपस्या के प्रभाव और परमात्मा के अनुग्रह रूप प्रसाद से महर्षि श्वेताश्वतर ने परब्रह्म परमात्मा के तत्व को जाना और अत्याश्रमी अर्थात् आश्रमधर्म से ऊपर उठे हुए अच्युतगोत्र श्री वैष्णवों के लिए इस परमपवित्र वेदान्तरहस्य को जिसे ऋषिसमूह ने प्रेमपूर्वक सेवन किया, कहा—

व्याख्या– 'अत्याश्रमिभय:' शब्द पर जो लोगों ने टिप्पणी की कि— अत्याश्रमी शब्द सन्यासी का वाचक है तो यह व्याख्यान शास्त्रविरुद्ध है। क्योंकि सन्यास चतुर्थ आश्रम है। अतः सन्यासी अत्याश्रमी नहीं हो सकता। वह तुरीय आश्रमी हैं। अत्याश्रमी वैष्णव सन्यासी होता है क्योंकि उसका अच्युत गोत्र हो जाता है, इसीलिए मानसकार किष्किन्धा काण्ड में कहते हैं—

चले नगर तज हरष नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहि आश्रमी चारि।।

—(*मानस ४/१६*)

संगति– अब श्वेताश्वर अधिकारका निर्णय करते हैं।। श्री।।

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ।।२२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– पूर्व कल्प में महर्षि श्वेताश्वतर द्वारा कहा हुआ वेदान्त दर्शन में अति गोपनीय यह प्रकरण परम पवित्र है। जिसका मन शान्त नहीं है, जो पुत्र के समान प्रेमपात्र नहीं है और जिसमें शिष्य की योग्यता नहीं है, ऐसे मर्यादाशून्य भगवद्विमुख व्यक्ति को श्वेताश्वतरोपनिषद् कभी नहीं सुनानी चाहिए।। श्री।।

संगति– जिसके हृदय में भगवान् तथा गुरुओं के प्रति भक्ति नहीं है, उसके हृदय में उपनिषद् के रहस्य नहीं प्रकाशित होते। इसी बात को अन्तिम मन्त्र में स्पष्ट करते हैं—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः
प्रकाशन्ते महात्मनः ।।२३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब ग्रन्थ का विश्राम करते हुए महर्षि श्वेताश्वतर कहते हैं— जिसके हृदय में देवाधिदेव परब्रह्म परमात्मा श्रीराम के प्रति पराभक्ति उत्पन्न हो चुकी है। वह जिस प्रकार परमेश्वर में है यदि उसी प्रकार स्वार्थनिरपेक्ष भक्ति अपने गुरुदेव के प्रति हो जाती है, तब उसी महान् आत्मावाले महापुरुष के हृदय में श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहे हुए परमेश्वर शरणागति के परमपरमार्थसिद्धान्त स्वयं प्रकाशित हो जाते हैं। वक्तव्य की सुदृढ़ता तथा ग्रन्थसमाप्ति की सूचना के लिए चतुर्थचरण की द्विरुक्ति की गयी है।। श्री।।

निर्गुनमत को खण्डि सगुनमत मंडन कीन्हों,
युक्ति युक्त शास्त्रार्थ श्रुतिन को अभिमत लीन्हों।

रामानन्दाचार्य प्रपत्ति मनोहर भाषा,
भाषी भनित विमल वेदान्त परम परिभाषा।
श्वेताश्वतर गिरा कलित शरणागतिमय उपनिषद्।
रामभद्र आचार्य श्रीराघवकृपासुभाष्य वद्।।

अयोध्यासौभाग्यं प्रथयितुमलं कज्जलकलम्।
वृतं बालैर्लोलत्कुटिल चिकुरैर्मंडितमुखम्।
हसन्तं खेलन्तं जननिहृदयानन्दजननम्।
प्रपद्ये ब्रह्माहं शरणमहितं राघवशिशुम्।
श्वेताश्वतरोपनिषद् सिद्धान्तं शास्त्रसम्मितम्।
श्रीराघवकृपाभाष्यं भूयात् वैष्णवतुष्टये।

।। इति श्रीचित्रकूटपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दचार्य प्रणीत श्रीश्वेताश्वतरोपनिषद् का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण हुआ।। श्री।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु।।

●
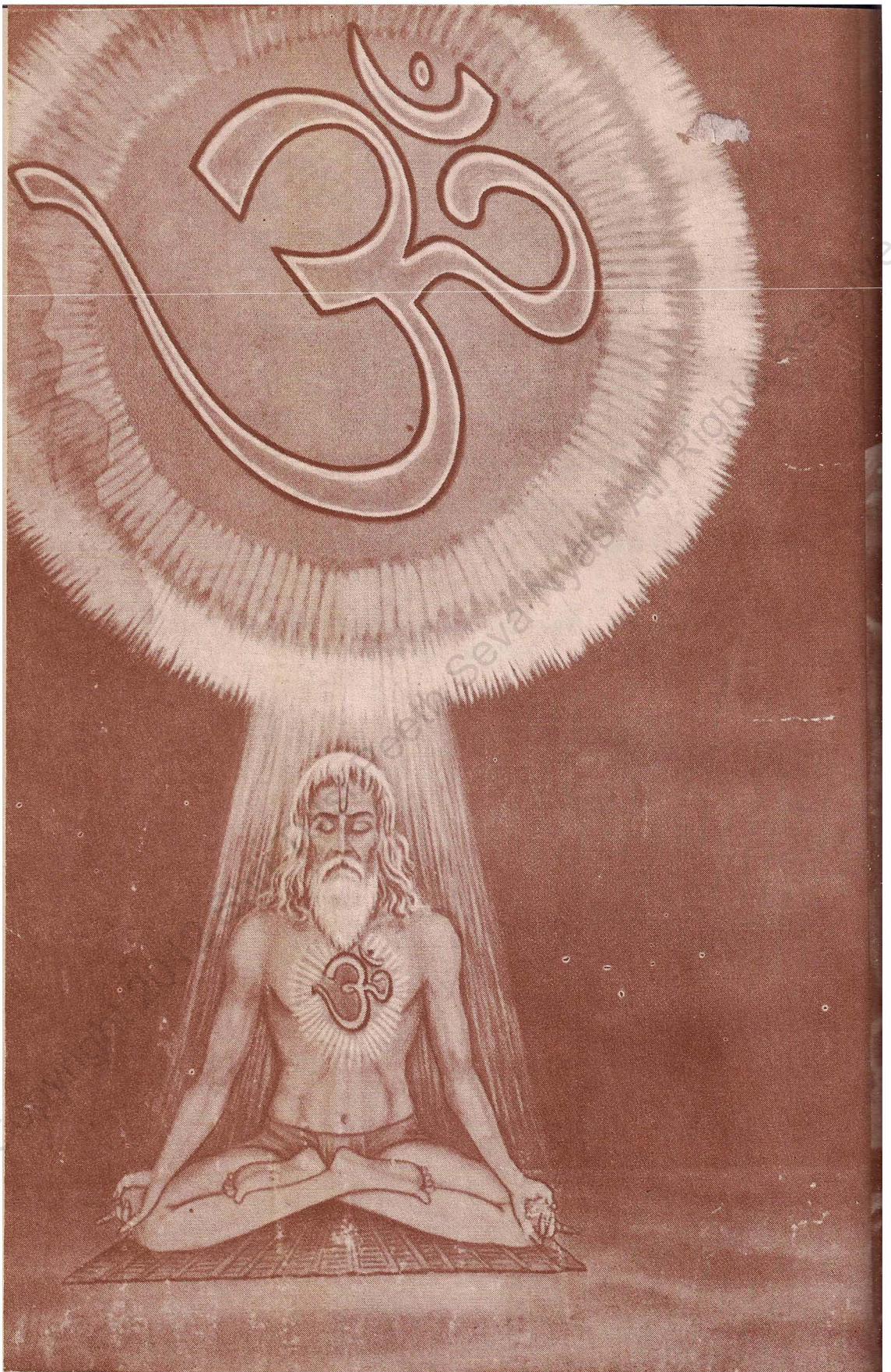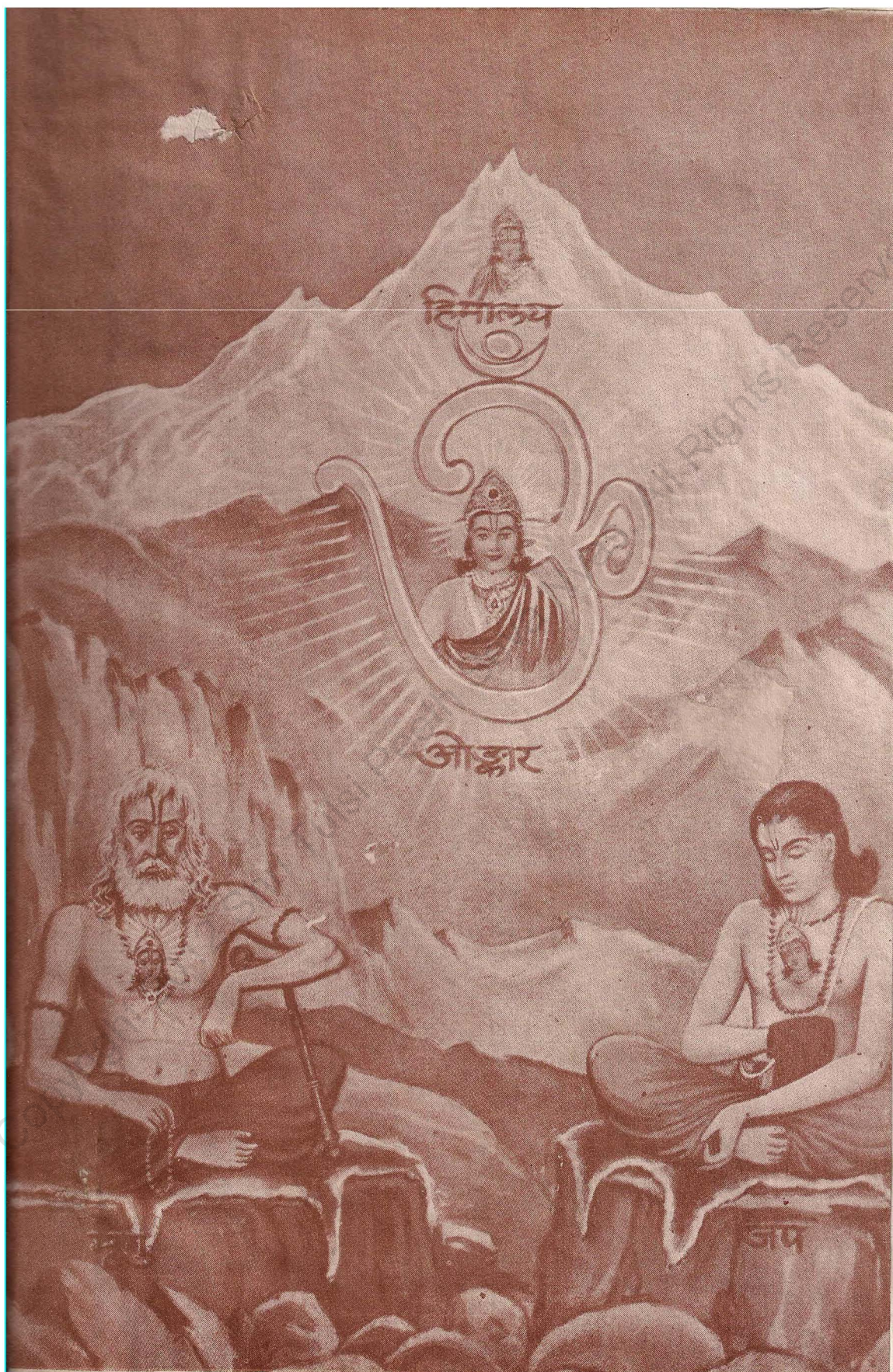
।। श्रीः ।।

ध्रुवमिदं, विश्वस्य विश्वेऽपि विचरकाश्चामनन्ति यज्जीवेनात्यन्तिकं सुखं नोपलब्धुं शक्यते केवलैः सांसारिकैर्भोगैः। तत्कृते तु तैः जगन्नियन्तुः परमात्मनः शरणमेवाङ्गीकरणीयम्। अनादिकालादेव सर्गेऽस्मिन् ब्रह्मजिज्ञासासमाधानपरा: विचारा: प्रचलन्ति। विषयेऽस्मिन् सर्वे दार्शनिकाः सहमता यद्वेदैरेवास्य गूढरहस्यात्मकस्य परब्रह्मणः प्रतिपादनं सम्भवम्।

परब्रह्मणो निश्वासभूता अनन्तज्ञानराशिस्वरूपाः वेदाः ज्ञानकर्मोपासनाख्येषुत्रिषु काण्डेषु विस्कृताः सन्ति। एषां ज्ञानकाण्डाख्य उपनिषद्भागे वेदान्तापरनामधेया ब्रह्मविद्या वैशद्येन विर्वोचता व्याख्याता चास्ति। आसामुपनिषदां सम्यग्ज्ञानेनैव ब्रह्मज्ञानं तेन च भवदुःखनिवृत्तिरित्युपनिषदां सर्वातिशायिमहत्वं राद्धान्तयन्ति मनीषिणः। आसु प्रश्नोत्तरात्मकातिरमणीयसुमम्यसरलशैल्या जीवात्मपरमात्मनोर्जगतश्च विस्तृतं व्याख्यानं कृतमस्ति। अनेकैर्महर्षिभिरनेकैः प्रकारैरुद्भावितानां ब्रह्मविषयकप्रश्नानां समाधानानि ब्रह्मवेतृणां याज्ञवल्क्यादिमहर्षीणां मुखेभ्य उपस्थापयन्त्युपनिषदः। भगवता वेदव्यासेन ब्रह्मसूत्रेषु भगवता श्रीकृष्णेन च श्रीगीतायामासामेव सारतत्वं प्रतिपादितम्।

भारतीयदर्शनानामाधारभूता इमे त्रयो ग्रन्थाः विभिन्नसम्प्रदायप्रवर्तकैराचरयैर्व्यख्याताः। एष्वद्वैतवादिन आद्यशङ्कराचार्याः प्रमुखा, अन्ये च द्वैतशुद्धाद्वैतद्वैताद्वैतशिवाद्वैतदिवादिनो विद्वांसः स्वस्वमतानुसारमुपनिषदः व्याख्यापयांबभूवुः।

अथ साम्प्रतिकभारतीयदार्शनिकमूर्धन्यैर्वेदवेदाङ्गपारङ्गतैर्धर्मध्वजधारिधौरेयैः श्रीरामानन्दाचार्यैः श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यमहाराजैर्विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमनुसृत्य कृतामिदमुपनिषदां **''श्रीराघवकृपाभाष्यम्''** सर्वत्रैवाभिनवविचारैर्व्युत्पत्तिभिश्चालङ्कृतं विभाति। भाष्येऽस्मिन्नाचार्यचरणैः शब्दव्युत्पत्तिचातुरीचमत्कारेण सर्वोपनिषदां प्रतिपाद्यः भगवान् श्रीराम एवेति सिद्धान्तितम्। मध्ये मध्ये गोस्वामिश्रीतुलसीदासग्रन्थेभ्यः ससंस्कृतरूपान्तरमुदाहृता अंशविशेषासुवर्णे सुरभिमातन्वन्ति। श्रीराघवपदपद्ममधुकराः भक्ता अत्रामन्दानन्दमाप्नुयुरिति भगवन्तं श्रीराघवं निवेदयति।

डॉ. शिवरामशर्मा
वाराणसी